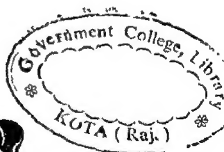
भारतीय गणतंत्र का संविधान



महादेवप्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०
अध्यक्ष, राजनीति विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर





किताब महल [होलसेल डिविजन] प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस :—५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद
कलकत्ता • बम्बई • दिल्ली • जयपुर • हैदराबाद • पटना
१९६२

ग्रन्थ संख्या ५३
संस्करण
प्रथम : १९५५
द्वितीय : १९५८
तृतीय : १९५९
चतुर्थ : १९६२

आवरण परिकल्पना
भवानी शंकर सेनगुप्त

●

प्रकाशक
किताब महल (होलसेल डिविजन) प्रा० लि०
रजिस्टर्ड आफिस : ५६ ए, जीरो रोड
इलाहाबाद

●

मुद्रक
ईगल ऑफसेट प्रिन्टर्स
१५ थार्नहिल रोड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

यह पुस्तक लेखक की अँग्रेजी पुस्तक 'दि गवर्नमेंट आफ दि इंडियन रिपब्लिक' का हिन्दी रूपान्तर है। मूल पुस्तक का प्रथम संस्करण, जो १९५१ में निकला था, अत्यंत लोक-प्रिय हुआ और उसके हिन्दी अनुवाद की विद्यार्थियों में अधिक समय से माँग थी। उसे पूरी करने के उद्देश्य से यह हिन्दी संस्करण निकाला जा रहा है। इसमें अँग्रेजी संस्करण से अधिक सामग्री दी गई है और भारतीय संविधान में जो अद्यावधि संशोधन, परिवर्तन आदि हुए हैं उनका भी वर्णन कर दिया गया है। पुस्तक संविधान की व्यवस्थाओं का विश्लेषण मात्र न होकर आलोचनात्मक और तुलनात्मक भी है और स्थान-स्थान पर इसमें संविधान की व्यावहारिक प्रगति (practical working) पर भी प्रकाश डाला गया है। आशा है कि यह पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

इस संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों में अत्यन्त लोकप्रिय हुई है और इसके कई संस्करण अब तक निकल चुके हैं। समय समय पर आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होते रहे हैं। इस संस्करण में भी जहाँ जिस संशोधन की आवश्यकता थी कर दिया गया है। आशा है इससे विद्यार्थियों के लिए इसकी उपयोगिता और भी बढ जाएगी।

सार्वजनिक शासन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय,
नागपुर

लेखक
महादेवप्रसाद शर्मा

विषय-सूची

अध्याय

आधुनिक भारत का संवैधानिक विकास | अध्याय : १

(१)

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना—भारत का संवैधानिक विकास आधुनिक अर्थों में बंगाल में अंग्रेजी राज की स्थापना से आरम्भ होता है। बङ्गाल में अंग्रेजी राज की स्थापना ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों और व्यापारियों ने की थी। उन्होंने ही इस देश में सबसे पहले अंग्रेजी झण्डा गाड़ा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी जिसको स्थापित करने का आज्ञापत्र सन् १६०० में रानी एलिजाबेथ से प्राप्त किया गया था। कम्पनी को स्थापित करते समय उसका उद्देश्य पूर्वी देशों (ईस्ट इंडीज) से व्यापार करना बतलाया गया था। अन्य व्यापारिक संस्थानों की भाँति इस कम्पनी के भी सञ्चालनकर्ता और व्यवस्थापक इंगलैण्ड तथा भारत दोनों ही स्थानों में थे। इङ्गलैंड में कम्पनी का एक गवर्नर रहता था और उसकी सहायता के लिए दो परिषदें हुआ करती थी, जिनमें से एक को स्वामि-परिषद् (The Court of Proprietors) और दूसरी को सञ्चालक-परिषद् (The Court of Directors) कहा जाता था। भारत में प्रत्येक मुख्य बस्ती का प्रशासन अध्यक्ष (President) या गवर्नर के हाथ में रहता था और उसकी सहायता के लिए कम्पनी के अनुभवी कर्मचारियों की एक परिषद् हुआ करती थी।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत में कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं रही और सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इन राज्यों के बीच हमेशा झगड़े चला करते थे। एक-दूसरे को हड़पने के लिए बराबर षड्यन्त्र रचे जाते थे। देश की ऐसी अनैक्य-पूर्ण स्थिति में कम्पनी को अपना अधिकार-क्षेत्र विस्तृत कर लेने का अच्छा अवसर मिल गया। प्लासी के युद्ध के बाद अकस्मात् कम्पनी ने अनुभव किया कि वह भारत के एक सबसे धनी और घनी आबादी वाले प्रान्त की स्वामिनी बन बैठी है।

सन् १७७३ का रेग्यूलेटिंग ऐक्ट—इसके बाद कम्पनी के कर्त्तव्य और उत्तर-दायित्व बदल गये। इस परिवर्तन के कारण आवश्यक हो गया कि उसके शासन का स्वरूप भी बदल जाता। यह कार्य सन् १७७३ के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट द्वारा किया गया। इस

अधिनियम (Act) द्वारा बम्बई और मद्रास प्रेसीडेंसियों को फोर्ट विलियम प्रेसीडेंसी के अधीन कर दिया गया। उक्त प्रेसीडेंसियाँ पहले स्वतंत्र रीति से अपना कार्य करती थीं किन्तु नये परिवर्तन से फोर्ट विलियम का गवर्नर भारत में कम्पनी के आधिपत्यान्तर्गत समस्त क्षेत्र का गवर्नर-जनरल हो गया। गवर्नर-जनरल को उसके कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए चार सदस्यों की एक परिषद् की रचना की गयी। सपरिषद्-गवर्नर जनरल को कार्यपालिका (executive) और विधेयन (legislative) दोनों की शक्तियां प्राप्त थीं। मद्रास और बम्बई प्रेसीडेंसियों को सपरिषद् गवर्नर-जनरल की आज्ञा बिना युद्ध छेड़ना या शांति-सन्धि करना निषिद्ध था। कलकत्ते में यूरोपियनों और कम्पनी के कर्मचारियों के मामले-मुकदमों का फैसला करने के लिए कलकत्ते में एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गयी। इस प्रकार उक्त अधिनियम द्वारा कम्पनी के शासन के अन्तर्गत जो भारतीय क्षेत्र था उसके लिए एक अखिल भारतीय शासन या सरकार की स्थापना की नींव पड़ी।

पिट का इंडिया ऐक्ट (१७८४)—रेग्यूलेटिंग ऐक्ट द्वारा जो व्यवस्था की गयी थी वह पूर्णतः दोषहीन न थी। उसमें भी संघर्ष की काफी गुंजायश थी और वे आये दिन हुआ भी करते थे। ब्रिटिश-भारतीय इतिहास के विद्यार्थी जानते ही हैं कि वारेन हेस्टिंग्ज तथा परिषद् के बहुमत नेता फिलिप फ्रांसिस में कितना उग्र संघर्ष हुआ था। इसके अतिरिक्त शासन और उच्चतम न्यायालय के बीच भी नित्य ही मतभेद उत्पन्न हुआ करते थे, क्योंकि उच्चतम न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र बिल्कुल अस्पष्ट था। पिट के इंडिया ऐक्ट (१७८४) का उद्देश्य इन्हीं सब दोषों को दूर करना था। इस अधिनियम (ऐक्ट) की सहायता से इंगलैंड में एक बोर्ड आफ कन्ट्रोल की स्थापना की गयी, गवर्नर-जनरल की परिषद् के सदस्यों की संख्या चार से घटा कर तीन कर दी गयी और उच्चतम न्यायालय का कार्य-क्षेत्र पहले से अधिक स्पष्ट कर दिया गया।

सन १७९३, १८१३, १८३३ और १८५३ के चार्टर ऐक्ट—सन् १७९३ के चार्टर ऐक्ट द्वारा कम्पनी को भारत में बीस वर्ष के लिए व्यापार करने का एकाधिपत्य दे दिया गया। गवर्नर-जनरल को परिषद् के बहुमत द्वारा किये गये निर्णयों के प्रतिकूल भी कार्य करने का अधिकार दे दिया गया। इसके अलावा सहयोगी प्रेसीडेंसियों पर गवर्नर-जनरल का नियंत्रण थोड़ा-सा और बढ़ा दिया गया।

सन् १८१३ के चार्टर ऐक्ट द्वारा भारत से व्यापार करने का अधिकार सभी अंग्रेजों को दे दिया गया। लेकिन चीन से व्यापार करने का एकाधिकार केवल कम्पनी का ही रखा गया। ईसाई मिशनरियों को धर्मप्रचार के लिए भारत आने की अनुमति दे दी गयी। भारत में शिक्षा और विद्या के प्रचार के लिए एक लाख रुपया मंजूर किया गया।

सन् १८३३ के चार्टर ऐक्ट द्वारा कम्पनी के व्यापारिक अधिकार बिल्कुल समाप्त

कर दिये गये। इसके बाद से कम्पनी पूर्णतः एक शासकीय संस्था हो गयी जिसका कार्य भारत के ब्रिटिश अधिकृत प्रदेश पर ब्रिटिश संप्रभु के प्रतिनिधि के रूप में शासन करना था। इस अधिनियम द्वारा भारत के शासन में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। गवर्नर-जनरल की परिषद् में एक चौथे सदस्य की और नियुक्ति की जाने लगी। इस सदस्य को विधि-सदस्य (Law Member) कहा जाने लगा। जब परिषद् कोई विधेयन (legislative) कार्य करती तभी यह सदस्य परिषद् की कार्रवाई में भाग लेता था। इस प्रकार भारत में अलग और स्वतंत्र विधानमंडल की नींव पड़ी। प्रेसीडेंसी परिषद् की विधायिका शक्ति छीन ली गई और समस्त ब्रिटिश भारत के लिए विधियाँ बनाने का अधिकार सपरिषद्-गवर्नर जनरल (Governor-General-in-Council) को सौंप दिया गया। बंगाल प्रेसीडेंसी के लिए एक अलग गवर्नर की नियुक्ति की गयी। गवर्नर-जनरल का कार्य केवल अखिल भारतीय मामलों पर विचार करना तथा विभिन्न प्रेसीडेंसियों के शासनों का नियंत्रण करना रह गया। इस प्रकार केन्द्रीकरण प्रारम्भ हुआ, जो आगे चल कर भारतीय प्रशासन व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता बन गया। भारतीयों की शिक्षा-दीक्षा के लिए सरकार दस लाख रुपया वार्षिक देने लगी और यह भी घोषणा की गई कि कम्पनी की नौकरी दिये जाने में जाति, धर्म या वर्ण आदि का कोई ख्याल न किया जायगा।

सन् १८३३ में कम्पनी को जो चार्टर ब्रिटिश सरकार ने दिया था, वह उस युग के उदारतावाद (Liberalism) के आन्दोलन के व्यापक प्रभाव का परिणाम था। इस आन्दोलन का गत शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश में बड़ा जोर था। ब्रिटेन का उदार दल (Liberal Party) बहुत दिनों से यह अनुभव कर रहा था कि भारतीय शासन में अवश्य ही कोई मौलिक त्रुटि है। उसका यह भी विचार था कि एक व्यापारिक कम्पनी के हाथ में एक देश का सम्पूर्ण शासन सौंप दिया जाना उचित नहीं। इस दल के सदस्य यह भी अनुभव कर रहे थे कि शिक्षा, कम्पनी की नौकरियों को दिये जाने आदि के मामले में भारतीयों के साथ न्याय नहीं हो रहा है। यही सब कारण थे जिनकी वजह से सन् १८३३ का अधिनियम ब्रिटिश संसद ने पारित किया।

सन् १८५३ के चार्टर ऐक्ट से भारत का शासन करने का कम्पनी का अधिकार बीस वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया। कम्पनी के संचालन कार्य में ब्रिटिश सरकार ने और दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। यह बात इससे प्रकट होती है कि संचालकों के मंडल में ब्रिटिश-सरकार की ओर से ६ व्यक्ति नामांकित किये जाने लगे। परिणामतः संचालकमंडल (The Board of Directors) पर इंगलैंड की सरकार का नियंत्रण और बढ़ गया। विधेयक कार्यों के लिये गवर्नर-जनरल की परिषद् में और सदस्य बढ़ा दिये गये। कुल मिलाकर गवर्नर-जनरल की परिषद् की सदस्य-संख्या में ६ की वृद्धि और हो

गयी। इस प्रकार भारत की पहली विधान-परिषद् (Legislative council) बनी जिसके बारह सदस्य थे, लेकिन सब के सब अफसर। प्रशासकीय सेवाओं (Administrative Services) में भरती प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं द्वारा होने लगी।

(२)

सन् १८५७ का विद्रोह—सन् १८५७ तक कम्पनी के शासक अपनी इच्छा के अनुसार जो कुछ उचित समझते, तदनुसार शासन करते। कम्पनी के कार्यों की जनता पर क्या प्रतिक्रिया होती है, इसे जानने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता था। इस प्रकार की कोई व्यवस्था न थी जिससे सरकारी कार्यों पर जनता का मत जाना जा सकता। कम्पनी के एंग्लोइण्डियन शासक यह मान कर चलते थे कि कम्पनी बहादुर का शासन जनता के लिए वरदान तुल्य है। इस आत्मतुष्टि का फल विद्रोह की भयानक विपत्ति के रूप में अंग्रेज शासकों के सिर पर आया।

सन् १८५७ के विद्रोह को सैनिक विद्रोह भी कहा जाता है। लेकिन सन् '५७ का विप्लव असन्तुष्ट सेना का ही विद्रोह नहीं था। असन्तोष की जो बारूद बरसों से इकट्ठी हो रही थी उसको भड़काने मे कारतूस-घटना ने केवल एक चिनगारी का ही कार्य किया। उस विद्रोह की घटनाओं तथा उभय-पक्षों की ओर से किये गये अत्याचार के वर्णन की इस प्रसंग मे कोई आवश्यकता नही है। इस विद्रोह का संवैधानिक महत्व केवल इतना ही है कि उसके बाद ब्रिटेन का शासक वर्ग यह भली भाँति समझ गया कि भारत का प्रशासनकार्य बिना भारतीयों के सहयोग के चलाना सर्वथा असम्भव है। सर सैयद अहमद खाँ ने विद्रोह के सम्बन्ध में लिखित अपनी एक छोटी-सी पुस्तक में यह संकेत किया है कि विद्रोह का मूल कारण सरकार के पास जनमत जानने का कोई साधन न होना था। सरकार यह जान ही न पाती थी कि वह जो कुछ करती है, उसका जनता पर क्या असर होता है। फलतः अंग्रेज रहस्यमय भारत से डरने लगे और विद्रोह का भूत हमेशा उनके मस्तिष्क में घर किये रहता। विद्रोहोत्तर काल में जो विभिन्न भारतीय परिषद् अधिनियम (Indian Councils Acts) पारित किये गये और जिनके अनुसार भारतीयों को शासन या सरकार की परिषदों में स्थान दिये गये, उनका उद्देश्य यह न था कि भारत में संसदीय संस्थाओं की स्थापना हो जाय। सन् १९०९ में मार्ले-मिन्टो सुधार के अवसर पर लार्ड मार्ले ने कहा था कि यदि उक्त सुधारों से भारत में संसदीय शासन स्थापित होने की रत्ती भर भी सम्भावना होगी तो वे उनसे अपना कोई सम्बन्ध न रखेंगे। उक्त कार्य केवल इस दृष्टि से किये गये थे कि उनसे कुछ ऐसे भारतीय मिल जायें जो देश का जनमत शासकों को बतला सकें और यह भी बतला सकें कि सरकारी कार्यों के सम्बन्ध में जनता की प्रतिक्रिया क्या है, अथवा वह क्या अनुभव कर रही है।

भारत शासन अधिनियम, १८५८ (The Government of India Act 1858)—इस अधिनियम के पारित हो जाने के बाद भारत का शासन कम्पनी के हाथ से निकल कर ब्रिटिश सरकार के हाथ मे चला गया। यह अधिनियम सन् १८५७ के विद्रोह के दमन के उपरात पारित हुआ था। कम्पनी ने भारत के शासन के प्रबन्ध के लिए बोर्ड ग्राफ कंट्रोल, स्वामी-परिषद् (The Court of Proprietors) और संचालक परिषद् (The Court of Directors) की जो स्थापना की थी, उन सबको विघटित कर दिया गया और उनके स्थान पर भारत-सचिव (The Secretary of State for India) की नियुक्ति की गई जो ब्रिटिश ससद के प्रति प्रत्यक्षतः उत्तरदायी था। भारत सचिव की सहायता के लिए एक परिषद् इङ्गलैण्ड में ही सघटित की गयी जिनमें अवकाश-प्राप्त और अनुभवी प्रशासकीय अधिकारियो को सदस्य नामांकित किया जाता था। भारत-शासन का समस्त उत्तरदायित्व पहले ही की भाँति सपरिषद् गवर्नर-जनरल के हाथ में रखा गया। भारत के गवर्नर-जनरल को ही ब्रिटिश सरकार की ओर से भारतीय देशी राज्यों के लिए इंगलैण्ड के राजा का प्रतिनिधि बना दिया गया। इस प्रकार गवर्नर-जनरल को वॉयसराय का भी पद मिल गया। इस अधिनियम के पारित होने के साथ ही रानी विक्टोरिया ने एक घोषणा की। इस घोषणा द्वारा सन् '५७ के विद्रोह के उन अपराधियों को मुक्त कर दिया गया जिन्होंने किसी हिंसात्मक कार्य में भाग नही लिया था। इसके साथ ही कुछ तत्कालीन असन्तोष के कारणों को दूर करने का आश्वासन दिया गया। यह भी आशा बँधाई गई कि भविष्य मे शासन-प्रबन्ध का कार्य अच्छा और निष्पक्ष होगा।

भारतीय परिषद् अधिनियम, १८६१ (Indian Councils Act, 1861)—सन् १८५३ के अधिनियम के अनुसार बारह अफसरो की जो छोटी-सी विधान-परिषद् बन गयी थी, वह धीरे-धीरे ब्रिटिश ससद के आदर्शों के अनुकूल विकसित होती गयी और कालांतर में शासन (सरकार) की कार्रवाइयो की समीक्षा करने के अधिकार का दावा करने लगी। यह शासन के लिए सरदर्द का विषय था। विधेयन का केन्द्रीकरण सन्तोष-जनक रीति से नही चल रहा था और बम्बई तथा मद्रास की प्रेसीडेंसियाँ यह शिकायत करने लगी थी कि उन्हें जिन विधियो की आवश्यकता है वे उन्हें नही मिल पा रही हैं। विद्रोह से अंग्रेज यह शिक्षा तो ग्रहण कर ही चुके थे कि परिषदो मे कुछ ऐसे भारतीयों का रहना अत्यन्त आवश्यक है जिनके जरिये देश की नाड़ी पर शासन की अंगुलियाँ रह सके। इन सब उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सन् १८६१ मे भारतीय परिषद् अधिनियम (The Indian Councils Act of 1861) पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा परिषद् का कार्य केवल विधेयन (legislation) स्थिर कर दिया गया। इसके अतिरिक्त परिषद् को और कुछ नही करना था। इसी अधिनियम द्वारा मद्रास और बम्बई

में भी विधान परिषदें पुनः स्थापित की गयी। इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल को उक्त परिषद् में ६ सदस्य और नामांकित करने का अधिकार दे दिया गया जिनमें से कुछ भारतीय भी हो सकते थे।

शिक्षित वर्ग में असंतोष—इसी बीच एक नये भारत का भी शनैः-शनैः जन्म हो गया। इनके लोग वे थे जिन पर अँग्रेजी शिक्षा और संस्कृति की मुद्रा अंकित थी। इन पर इंगलैण्ड के उन्नीसवीं शताब्दी के उदारतावादी आन्दोलन का बड़ा प्रभाव पड़ा था। इसके अलावा इटली और जर्मनी के राष्ट्रवादी आन्दोलन का भी उन पर असर पड़ा था। इस शिक्षित वर्ग की यह इच्छा थी कि उनको भी वे ही अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त हों जो पाश्चात्य देशों के नागरिकों को अपने अपने देशों में प्राप्त होती हैं। लेकिन इसकी आशा करना ही निरर्थक था कि कोई विदेशी सरकार वे सुविधाएँ और अधिकार उनको दे सकेगी। छोटी-मोटी नौकरियों को छोड़ कर अन्य स्थानों में भारतीयों को कोई काम नहीं दिया जाता था। शासकों की ओर से जातीय अभिमान का प्रकाशन भी आवश्यकता से अधिक किया जाता था। ब्रिटिश व्यापार और उद्योगों के हितों की रक्षा की दृष्टि से जिस नीति को भारत सरकार द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा था उससे देश की गरीबी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। इससे चारों ओर बड़ा असन्तोष था। देश में जो स्फुट संस्थाएँ थीं उनके जरिए इस असन्तोष को प्रकट करने के लिए आवाज भी उठाई जा रही थी। अन्त में यह कार्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने किया जिसकी स्थापना सन् १८८५ में की गयी थी।

लार्ड रिपन का शासन और इलबर्ट विधेयक विवाद—सरकार ने इस असन्तोष को दूर करने के लिए पहले तो दमनात्मक उपायों से काम लिया। ये उपाय लार्ड लिटन (१८७५-८०) के जमाने में खूब काम में लाये गये। लेकिन इनसे स्थिति और भी बिगड़ गयी। सन् १८८० में इंगलैण्ड में जो सार्वजनिक-निर्वाचन हुए उसमें उदार दल की विजय हो गयी और मि० ग्लैडस्टन प्रधान मंत्री हो गये। नयी सरकार ने निश्चय किया कि वह सुविधाओं और सद्भावना द्वारा स्थिति को सँभालने का प्रयत्न करेगी। अतः, उदारदल के एक कट्टर समर्थक लार्ड रिपन को भारत का गवर्नर जनरल उक्त नीति को कार्यान्वित करने के लिए चुना गया। उन्होंने वित्तीय विकेन्द्रीकरण (Financial decentralisation) और स्थानीय स्वायत्त शासन प्रदान करने की नीति का उदारता से प्रयोग किया। उन्होंने न्यायपालिका (Judiciary) के कुछ दोषों को भी दूर करने का यत्न किया। भारतीय न्यायपालिका व्यवस्था में उन दिनों एक सब से बड़ा दोष तो यही था कि भारतीय मैजिस्ट्रेटों के सामने यूरोपियनों को अभियुक्त के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता था। इलबर्ट विधेयक द्वारा इसी दोष को दूर करने की चेष्टा जब की गयी तो एंग्लोइंडियनों ने इतना विरोध किया कि सरकार को वह विधेयक वापस लेना

पड़ा। आन्दोलन की शक्ति को भारतीयों ने भी अनुभव किया। उन्होंने भी यह देखा कि एक ऐसे राष्ट्रीय सङ्गठन की बड़ी आवश्यकता है जो संसदीय विरोधी पक्ष का-सा कार्य कर सके तथा जैसी जरूरत हो उसके अनुसार सरकार का समर्थन या विरोध कर सके।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म—सन् १८८५ में उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कल्पना की गयी। आरम्भ में तो राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति अँग्रेज शासकों का व्यवहार न केवल सहानुभूतिपूर्ण अपितु प्रोत्साहनात्मक भी था। यह इसी से प्रकट है कि कांग्रेस की स्थापना एक अवकाशप्राप्त अँग्रेज अधिकारी मि० ह्यूम ने लॉर्ड डफरिन की अनुमति और आशीर्वाद से की थी। कुछ वर्षों तक तो कांग्रेस ने एक राजभक्त संस्था की भाँति सरकार की प्रशंसा में प्रस्ताव पारित करना ही अपना पेशा बना रखा था। इस प्रशंसा के साथ विनम्रतापूर्वक कुछ सुधारों की भी माँग कर ली जाती थी। लेकिन जब कांग्रेस ने यह देखा कि उसकी सामान्य माँगों तक पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता तो उसने सरकार के कार्यों की क्रमशः आलोचना करना शुरू कर दिया। फलतः पहले तो सरकार ने कांग्रेस को सन्देह की दृष्टि से देखना आरम्भ किया और बाद में उसको अवाञ्छनीय मानने लगी।

भारतीय परिषद् अधिनियम, १८९२ (The Indian Councils Act, 1892)—इस अधिनियम द्वारा विधेयन कार्य में भारतीयों के सहयोग प्राप्त करने की दिशा में एक पग और आगे बढ़ा दिया गया। विधान परिषदों में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ायी गयी लेकिन कांग्रेस को इससे संतुष्ट न किया जा सका।

लार्ड कर्जन का शासन और आतंकवाद का प्रसार—सन् १८९९ में लार्ड कर्जन भारत के गवर्नर-जनरल हो कर आये। वह अत्यन्त ही योग्य और परिश्रमी व्यक्ति थे लेकिन अधिकांश प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों की भाँति उनमें भी एक कमजोरी थी और वह यह कि वे अपने मत को सर्वोपरि रखते थे। अपने आगे और किसी की एक न चलने देते थे। उनके कार्यकाल में ऐसे कई कार्य हुए जिनसे कटुता फैली। इनमें सर्वाधिक कटुता जिस बात से फैली, वह था बंगाल के विभाजन का प्रस्ताव। राष्ट्रवादी भारत लार्ड कर्जन के इन कार्यों से अपना धैर्य खो बैठा और कांग्रेस में उग्रपंथियों का जोर बढ़ गया। इलबर्ट विधेयक विवाद से जो पाठ ग्रहण किये गये थे वे काम में लाये जाने लगे। आन्दोलन किये गये; सभाएँ संघटित की गयी और चारों तरफ ब्रिटिश माल का बहिष्कार किया जाने लगा। सरकार ने इनका दमन किया और तरुण बंगाल ने इसका उत्तर 'आतंकवादी आन्दोलन' आरम्भ कर के दिया।

मार्ले-मिण्टो सुधार, १९०९—सन् १९०५ में जब लार्ड कर्जन ने अपने पद-भार को छोड़ा उस समय भारत लगभग हिंसात्मक क्रान्ति के तट पर पहुँच गया था। लार्ड कर्जन

का उत्तराधिकार लार्ड मिण्टो ने सँभाला। सन् १९०६ में इगलैण्ड में भी शासनिक (Governmental) परिवर्तन हुए। उदारवादी पुनः सत्तारूढ हुए तथा लार्ड मार्ले भारत-सचिव नियुक्त किये गये। भारत सचिव और नये वायसराय ने दमन करने और सुविधा देने की दोहरी और मिलीजुली नीति क्रियान्वित करने का निश्चय किया। परिणामतः सन् १९०६ का मार्ले-मिण्टो सुधार सामने आया।

मार्ले-मिण्टो सुधारो से नीति मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदो मे गैर सरकारी सदस्यो की सख्या काफी बढा दी गयी और सदस्यो का नामाकन होने के बजाय अप्रत्यक्ष निर्वाचन होने लगा। इसके अलावा मुसलमानो को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अधिकार मिल गया। इन विधान परिषदो के सदस्यों को प्रश्न पूछने और आयव्ययक (बजट) पर विवाद करने का अधिकार भी दिया गया। इगलैण्ड मे भारत सचिव का जो परामर्शदाता मण्डल था उसमे और गवर्नर-जनरल की परिषद् मे एक-एक भारतीय सदस्य रख दिया गया।

इन सुधारो से भारतीयो के हाथ मे कोई सत्ता न आयी थी। अतएव, यह स्वाभाविक था कि उनसे कोई भी सन्तुष्ट न होता। गोखले के नेतृत्व मे नरम दल के लोगो ने पहले तो इन सुधारो की परीक्षा करने का निश्चय किया, किन्तु, बाद मे उन्हे भी जल्दी ही निराश हो जाना पडा। राजनीतिक असतोष न केवल ज्यो का त्यो रहा वरन् साम्प्रदायिकता के भद्दे स्वरूप के उभरने के कारण और भी अधिक बढ गया। यह स्थिति तब ^ जब प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४-१८) छिडा।

(३)

प्रथम महायुद्ध और माण्टेग्यू—चेम्सफोर्ड सुधार—प्रथम महायुद्ध मे भारत मे मित्र राष्ट्रो के प्रति पर्याप्त सहानुभूति थी। भारत से पहुँची धन-जन सहायता से युद्ध का सफल अन्त करने मे बड़ी सहायता मिली। ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने भारत द्वारा दी गयी सहायता की खुले आम प्रशसा की। मित्रराष्ट्रो ने प्रजातत्र और आत्मनिर्णय के अधिकार के सम्बन्ध मे जो प्रचार किया था, उससे भारतीयो को भी आशा बँधी कि यदि मित्रपक्ष की विजय हुई तो भारत को भी स्वभाग्य-निर्माण का अधिकार प्राप्त होगा। चूँकि इस माग के उत्तर मे ब्रिटिश-सरकार की ओर से तत्काल कुछ भी नही कहा गया, इसलिए श्रीमती एनीबीसेण्ट और लोकमान्य तिलक के नेतृत्व मे होमरूल आन्दोलन छेड़ा गया। पहले तो कुछ दमन किया गया लेकिन अन्त मे सन् १९१७ मे २० अगस्त को एक घोषणा की गयी जिसमे कहा गया कि भारत मे ब्रिटिश-नीति का अतिम लक्ष्य 'क्रमशः उत्तरदायी शासन की स्थापना' है।

भारत सचिव मि० मांटेग्यू और लॉर्ड चेम्सफोर्ड ने मिलकर उक्त लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में प्रगति के लिए एक योजना बनायी। यही योजना मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के नाम से विख्यात है। इसी रिपोर्ट के आधार पर सन् १९१९ का भारतीय शासन विधान अधिनियम (The Government of India Act) पारित किया गया।

उक्त अधिनियम पारित हो जाने के बाद से भारतीय संवैधानिक इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। इस अधिनियम के पारित होने तक ब्रिटिश नीति यह थी कि विधेयन और प्रशासनादि कार्यों में भारतीयों को साथ लेकर उनका सहयोग तो प्राप्त कर लिया जाय लेकिन कोई वास्तविक शक्ति उनके हाथों में न दी जाय। किन्तु सन् १९१९ से नीति बदल गयी। नये अधिनियम द्वारा भारतीयों को कुछ सत्ता चाहे वह कितनी ही कम क्यों न हो, दी गयी। इस प्रकार सत्ता हस्तान्तरण का कार्य प्रारंभ हुआ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सन् १९१९ के भारतीय शासन अधिनियम से केन्द्र के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। केन्द्रीय शासन के समस्त कार्य और उत्तरदायित्व पूर्णतः सपरिषद्-गवर्नर-जनरल के हाथ में ही रहे और वह पूर्ववत् अपने कार्यों के लिए ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। भारतीय विधानपरिषद को दो सदनों में विभक्त कर दिया जिसमें एक सदन केन्द्रीय विधान सभा कहलाने लगा और दूसरा राज्य-सभा मण्डल (The Council of State)। इन संस्थाओं (Bodies) का संघटन और व्यापक बना दिया गया जिससे निर्वाचित लोगों का बहुमत हो सके। लेकिन दोनों सदनों के अधिकार मार्ले-मिण्टो सुधारों के ही अन्तर्गत रहे। सदनों में निर्वाचित सदस्य प्रश्नादि पूछ सकते थे, कुछ विषयों पर वादविवाद कर सकते थे लेकिन शासन (सरकार) के विरुद्ध मत देकर उसे पदच्युत कर देने का अधिकार उन्हें न था। वित्तीय अधिकार भी उन्हें न थे।

प्रान्तों में तथाकथित 'द्वैध शासन प्रणाली' लागू की गयी। द्वैध शासन प्रणाली (Dyarchy) का अर्थ यह है कि प्रान्तीय प्रशासन को दो भागों में विभक्त कर दिया गया। एक भाग 'सुरक्षित' (Reserved) कहलाता था और दूसरा 'हस्तान्तरित' (Transferred)। प्रशासन का 'सुरक्षित' भाग गवर्नर और उसके परामर्शदाताओं के अधीन रहता था और उसके लिए गवर्नर-जनरल तथा ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी होता था। और दूसरा भाग मंत्रियों के अधीन जो प्रान्तीय विधान-मण्डलों के प्रति उत्तरदायी होते थे।

रौलेट बिल और जलियान वाला बाग हत्याकांड—सन् १९१९ के भारतीय शासन अधिनियम के पारित होने के साथ ही कुछ ऐसी घटनाएं हुई जिनसे इन सुधारों

का भविष्य अंधकारपूर्ण हो गया। सन् १९१७ में भारत प्रतिरक्षा अधिनियम (The Defence of India Act) की अवधि समाप्त हो गयी थी लेकिन भारत सरकार ने न्यायाधीश श्री रौलेट की अध्यक्षता में इस सम्बन्ध में एक समिति नियुक्त की और इस समिति की सिफारिशों के अनुसार भारत प्रतिरक्षा अधिनियम के स्थान पर एक दूसरा अधिनियम बनाने के लिए एक विधेयक (Bill) बनाया गया। इस विधेयक का उद्देश्य उन क्रांतिकारियों का दमन करना था जो युद्ध काल में अत्यन्त सक्रिय हो गये थे, लेकिन इस विधेयक की धाराएँ इतनी व्यापक थी कि सामान्य नागरिक तक की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती।

प्रथम महायुद्ध के छिड़ने के कुछ समय बाद ही, दक्षिणी अफ्रीका में प्रसिद्धि-प्राप्त महात्मा गाँधी भारत वापस लौट आये और उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने युद्धकाल में अंग्रेजों की बिना शर्त सहायता करने के लिए जनता से कहा था। इस विधेयक से उन्हें भी बड़ा धक्का लगा और जब गवर्नर-जनरल ने उनके भी अनुरोधों को सुनना तक नामंजूर कर दिया तो उन्होंने जनता से शांतिपूर्वक सभाएँ, हड़ताल तथा प्रदर्शन करके अपना विरोध प्रकट करने के लिए आंदोलन छेड़ने के लिए कहा। देश ने महात्माजी की नयी आन्दोलन-पद्धति को अत्यन्त उत्साह से ग्रहण कर लिया। सरकार ने इस आन्दोलन के उत्तर में सभाओं और जुलूसों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस पृष्ठभूमि में जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड हो गया। यह बाग अमृतसर है। यहाँ पर रौलेट बिल के विरोध में एक सभा का आयोजन किया गया था। जब सभा हो रही थी तो जनरल डायर नाम के एक अंग्रेज सेनाधिकारी ने बाग को चारों तरफ से घेर कर निःशस्त्र लोगों पर गोलियाँ चलवा दी जिसके फलस्वरूप बहुसंख्यक व्यक्ति मारे गये। इसके बाद सैनिक कानून घोषित कर दिया गया जिससे भारतीयों को अकथनीय कष्ट और अत्याचार भोगने पड़े। अंग्रेजों के विरुद्ध इस काण्ड में बड़ी कटुता फैली।

असहयोग और खिलाफत आन्दोलन—सन् १९२० में नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा गाँधी ने सारे देश को परामर्श दिया कि वह अपने कष्टों को दूर कराने के लिए सरकार के विरुद्ध असहयोग आंदोलन छेड़े। सन् १९२० में मुसलमान भी अंग्रेजों की नीति से असन्तुष्ट थे क्योंकि उन्हीं दिनों तुर्की का विच्छेद किया जा रहा था और खलीफाओं द्वारा मुस्लिम संसार की जो एकता बनी रहती थी, वह खतरे में थी। मुसलमानों को भी महात्मा गांधी ने खिलाफत आन्दोलन छेड़ने का परामर्श दिया। असहयोग आंदोलन और खिलाफत, दोनों का कार्य-क्रम एक ही था। दोनों को ही सरकारी अदालतों, नौकरियों, स्कूलों, कालेजों और विदेशी माल का बहिष्कार करना था। स्वदेशी माल विशेषकर खादी का प्रयोग; हिन्दू मुस्लिम

एकता, मद्यनिषेध, छूत-अछूत की भावना का परित्याग और हरिजन-उत्थान आदि इन आन्दोलनों के उद्देश्य और लक्ष्य थे। इस कार्यक्रम को अपनाने का अर्थ यह था कि कांग्रेस ने अपनी पूर्व-परम्परा के विरुद्ध अर्थात् संवैधानिकता के मार्ग को छोड़ कर प्रत्यक्ष आन्दोलन के क्षेत्र में प्रवेश किया, यद्यपि यह सीधी-कार्रवाई पूर्णतः शांतिमय साधनों से ही किये जाने का निश्चय किया गया था। बहुत से अनुभवी और पुराने कांग्रेस नेता इस कार्यक्रम को नहीं स्वीकार कर सके और वे कांग्रेस से अलग हो गये। इन लोगों ने उदार-दल की स्थापना कर ली।

असहयोग और खिलाफत आन्दोलन लगभग दो वर्षों तक चलते रहे। लेकिन जैसा मूल विचार था, ये आन्दोलन शांतिपूर्ण न रह सके। कई स्थानों में हिंसात्मक उपद्रव हो गये। इन हिंसात्मक उपद्रवों में चौरीचौरा काण्ड विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वहाँ एक जनसमूह ने एक थाने में आग लगा कर कुछ सिपाहियों को जीवित ही जला दिया। इस काण्ड से क्षुब्ध होकर गांधी जी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया।

स्वराज्य-दल—असहयोग आन्दोलन के बाद पण्डित मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास आदि ने मिलकर स्वराज्य दल की स्थापना की। इस दल का उद्देश्य विधानमण्डल में जाकर अन्दर से सरकारी नीतियों का विरोध करना था। यह कार्य अत्यन्त योग्यतापूर्वक लगभग दस वर्षों तक किया गया और सारे देश को उन सुधारों का थोथापन दिखला दिया गया जिनका ढका अंग्रेजों ने सारी दुनिया में पीटा था। सन् १९२४ के बाद असहयोग आन्दोलन काल की हिन्दू-मुस्लिम एकता भंग हो गयी। खिलाफत के प्रश्न द्वारा जो एकता स्थापित हो गयी थी, वह इसलिए अधिक दिनों तक न टिक सकी क्योंकि फिर उसके लिए कोई आधार ही न रहा। एक ओर तो मुसलमानों ने हिन्दुओं को इस्लाम धर्म में दीक्षित करना आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर हिन्दुओं ने भी 'शुद्धि' आरम्भ कर दी। शुद्धि द्वारा मुसलमानों को शुद्ध करके हिन्दू बना लिया जाता था। देश के अनेक भागों में अत्यन्त चिन्ताजनक हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो गये।

साइमन कमीशन—सन् १९१९ के सुधार प्रायः बिल्कुल असफल सिद्ध होने के कारण सन् १९२७ में ब्रिटिश संसद ने सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक आयोग (Commission) नियुक्त किया जिसका कार्य यह सुझाव देना था कि आगे और कौन-कौन से सुधार किये जायें। इस कमीशन में एक भी भारतीय सदस्य नहीं था, इसलिए सभी भारतीय राजनीतिक दलों ने मिलकर इसका बहिष्कार किया। परिणामतः, साइमन कमीशन (आयोग) की रिपोर्ट (प्रतिवेदन) नितान्त निष्फल रही। सन् १९२९ में इंगलैण्ड में श्रमिक-दलीय सरकार पदारूढ़ हुई। इस सरकार ने तत्कालीन भारत स्थित वॉयसराय को यह घोषणा करने के लिए कह दिया कि भारत में

ब्रिटिश शासन का लक्ष्य देश को "औपनिवेशिक स्वराज्य" (Dominion Status) प्रदान कर देना है। इस सम्बन्ध में नये सुधार भारत के समस्त राजनीतिक दलों का मत जान लेने के बाद किये जायँगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहा गया कि लन्दन में शीघ्र ही एक गोलमेज-सम्मेलन का आयोजन किया जायगा।

कांग्रेस पर प्रतिक्रिया—इस बीच सन् १९२८ में कांग्रेस ने कलकत्ता अधिवेशन में यह निश्चय कर लिया था कि यदि सन् १९२८ ई० के अन्त तक ब्रिटिश सरकार ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य न दिया तो कांग्रेस देश की पूर्ण स्वतंत्रता की माँग करेगी। हुआ भी यही, लाहौर अधिवेशन के अवसर पर सन् १९२९ में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य बना लिया। इस घोषणा का अधिकारियों पर कोई असर न पड़ा और कांग्रेस ने महात्मा गांधी को राष्ट्रीय माँग की पूर्ति के लिए सत्याग्रह प्रारम्भ करने का अधिकार दे दिया।

नमक सत्याग्रह और गांधी-इरविन समझौता—महात्मा गांधी ने नमक सम्बन्धी कानून तोड़ने का सत्याग्रह किया। महात्मा गांधी के स्वयं ऐसा करते ही देश भर में सत्याग्रह प्रारम्भ हो गया। लाखों आदमी जेल चले गये। इस बीच सन् १९३० में १३ नवम्बर को बिना कांग्रेस के प्रतिनिधित्व के ही पहला गोलमेज सम्मेलन प्रारम्भ हो गया। इस सम्मेलन में कुछ प्रारम्भिक निश्चय किये गये। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण निश्चय यह था कि भारत का शासन स्वरूप संघात्मक (Federal) हो जिसका निर्माण ब्रिटिश-भारत के प्रान्तों और भारत के देशी राज्यों को मिला कर किया जाय तथा जैसे ही इस प्रकार का संघ बन जाय केन्द्रीय शासन को भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी बना दिया जाय। इन योजनाओं सहित गोलमेज सम्मेलन के प्रतिनिधि भारत वापस लौटे और उन्होंने सरकार तथा कांग्रेस के बीच समझौता कराने की कोशिश की, जिससे कांग्रेस नेता जेलों से मुक्त हो सकें और गोलमेज सम्मेलन की आगे की कार्रवाई में भाग ले सकें। वे लोग कृतकार्य हुए। यह सफलता गांधी-इरविन समझौता के रूप में प्रकट हुई। इस समझौता के बाद कांग्रेस ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया और सम्मेलन में भाग लेना भी स्वीकार कर लिया। सरकार ने इसके बदले समस्त राजनीतिक बन्दियों को छोड़ दिया और जनता को अपने उपयोग के लिए नमक बनाने की अनुमति दे दी।

गोलमेज सम्मेलन—दूसरे गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से गांधी जी ने भाग लिया लेकिन उन्होंने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि सरकार भारतीय राजनीतिक दलों के मतभेदों से लाभ उठा रही है और उसका सत्ता हस्तान्तरित करने का कोई सच्चा इरादा नहीं है। अभी गांधी जी इंगलैण्ड में ही थे कि भारत की राजनीतिक स्थिति बहुत बिगड़ गयी। दोनों ओर से गांधी-इरविन समझौता भंग किये जाने की शिकायतें की जाने लगीं। गांधी जी ने वापस लौटने पर फिर सत्याग्रह

छेड़ा लेकिन वह पहले जैसी गति न पा सका और अन्ततोगत्वा अपने आप ही लुप्त हो गया। इसी बीच इंगलैण्ड में श्रमिक दलीय सरकार की पराजय हो गयी और अनुदार दलीय सरकार बन गयी। इस बीच गोलमेज सम्मेलन चलता रहा लेकिन कांग्रेस के हट जाने से वह केवल एक-पक्षीय तमाशा-भर रह गया और उसमें ब्रिटिश सरकार के निर्णयों को ही मान लिया गया।

सन् १६३५ का भारतीय शासन अधिनियम (The Government of India Act, 1935)—अन्त में गोलमेज सम्मेलन के निर्णयों के अनुसार सन् १६३५ का अधिनियम पारित हो गया। इसमें देशी राज्यो और प्रान्तो के एक अखिल भारतीय सङ्घराज्य की व्यवस्था थी। जैसे ही कुछ निश्चित देशी राज्य इस सङ्घ में आना स्वीकार कर लेते भारत का सङ्घराज्य बन जाता। इस अधिनियम में यह भी व्यवस्था थी कि सङ्घीय मन्त्रिमण्डल यद्यपि भारतीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी रहेगा किन्तु प्रतिरक्षा (Defence) तथा विदेश विभाग (Foreign Affairs) गवर्नर-जनरल के ही हाथ में रहेंगे। मन्त्रियो को जो विभाग दिये गये थे, उनमें से भी कुछ विभागों के कुछ कार्यों के लिए गवर्नर-जनरल ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। इस प्रकार गवर्नर-जनरल का यह विशेष उत्तरदायित्व था कि वह 'सुरक्षित' विभागों का प्रशासन चलाये, भारत की वित्तीय साख और स्थिरता बनाये रखे, अल्पसंख्यकों तथा भारतीय राज्यों और प्रशासनिक सेवाओं की रक्षा करे। इस सब का फल यह हुआ कि केन्द्र में जो भी उत्तरदायी सरकार बनती उसकी बहुत-सी शक्ति तो पहले ही छिन जाती।

प्रान्तों में द्वैध-शासन प्रणाली का अन्त कर दिया गया। सभी विभाग लोक प्रतिनिधियों से बने मन्त्रिमण्डल को सौंप दिये गये। यह मन्त्रिमण्डल प्रान्तीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी था। लेकिन यहाँ भी गवर्नरों को विशेष उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। गवर्नरों को भी बहुत कार्य गवर्नर-जनरल की भाँति अपने व्यक्तिगत निश्चय के अनुसार करने पड़ते। यदि किसी प्रकार संविधान न चल पाता तो समस्त सत्ता गवर्नर-जनरल और गवर्नरों के हाथो वापस चली जाती।

कांग्रेसी मंत्रिमंडल—इस अधिनियम का सङ्घीय अंश कभी कार्यान्वित न किया जा सका। इस कारण प्रत्येक दल द्वारा किसी न किसी आधार पर उक्त अंश का विरोध किया जाता था। प्रान्तीय धारा सभाओं या विधान मंडलों के लिए सन् १६३७ के वसन्त में निर्वाचन हुए। इन निर्वाचनों में कांग्रेस ने अखिल भारतीय विजय प्राप्त की। कांग्रेस का छः प्रान्तों में स्पष्ट बहुमत था तथा अन्य तीन प्रान्तों में वही अन्यों की अपेक्षा अधिक बड़ी पार्टी थी। सत्ता सँभालने के पूर्व कांग्रेस ने प्रान्तीय गवर्नरों से यह माँग की कि वे दैनिक प्रशासन कार्य में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दें। गवर्नरों ने यह आश्वासन दे दिया कि वे सामान्यतः मन्त्रिमण्डल के कार्यों में कोई हस्तक्षेप न करेंगे। इस प्रकार प्रान्तों में कांग्रेस

ने अपनी सरकार बना ली। चार प्रान्तों में मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल बने। लीग की माँग थी कि सभी प्रान्तो में लीग-कांग्रेस का संयुक्त मन्त्रिमण्डल बने। कांग्रेस ने लीग की यह माँग अस्वीकार कर दी। इस अस्वीकृति से लीग और कांग्रेस के मतभेद की खाइ और बढ़ गई तथा उससे पाकिस्तान की माँग और भारत के विभाजन आन्दोलन को बल मिला।

द्वितीय महायुद्ध और संवैधानिक गतिरोध—सन् १९३९ मे द्वितीय महा-युद्ध आरम्भ हो गया। ब्रिटिश सरकार ने बिना भारतीय नेताओं से परामर्श लिए भारत को भी अपने पक्ष की ओर से युद्ध करने वाला राष्ट्र घोषित कर दिया। इस पर सभी प्रान्तो के कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने अपने पदो से त्यागपत्र दे दिये और गवर्नरों ने उन प्रान्तों मे संविधान स्थापित करके शासनकार्य अपने हाथो मे ले लिया। यह गतिरोध सम्पूर्ण युद्धकाल भर अर्थात् १९४६ तक जारी रहा। गैर कांग्रेसी प्रान्तो मे मुस्लिम लीगी बराबर पदारूढ रहे।

मुसलमानो द्वारा पाकिस्तान की माँग—जब कांग्रेस पदारूढ थी तो मुसलिम लीग अपने अलग रखे जाने पर हमेशा आपत्ति किया करती था और कांग्रेस के विरुद्ध प्रचार किया करती थी। मुसलिम लीग का सबसे बड़ा अभियोग यह था कि कांग्रेस अल्पसख्यकों पर अत्याचार करती है। अन्त मे सन् १९४० में लाहौर के मुसलिम लीग के अधिवेशन मे यह प्रस्ताव पारित किया गया कि भारत का विभाजन किया जाय और उसके मुसलिम-प्रधान भागो को मिलाकर पाकिस्तान नाम का पृथक् राज्य बना दिया जाय। यह सारा कार्य मि० जिन्ना के नेतृत्व मे हुआ।

गतिरोध दूर करने के प्रयत्न—युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार ने भारत के संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के अनेक प्रयत्न किये। अगस्त १९४० मे वाइसराय ने सङ्केत किया कि वे केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् की सदस्य संख्या और बढ़ाने के लिए तैयार है जिससे उनमे और भारतीयो को स्थान दिया जा सके। उन्होने यह भी इशारा किया कि वे सभी भारतीय राजनीतिक दलो के प्रतिनिधियो का एक ऐसा सम्मेलन बुलाने को भी प्रस्तुत हैं जो नये सविधान की रचना की रूपरेखा पर विचार कर सकें। जुलाई सन् १९४१ मे वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् का पुनर्सगठन किया गया जिससे कार्यकारिणी मे यूरोपियन तथा सरकारी सदस्यो का बहुमत लुप्त हो गया तथा संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रणाली लागू हो गयी।

क्रिप्स प्रस्ताव—लेकिन इन परिवर्तनो से कांग्रेस सन्तुष्ट नहीं हुई। फलतः सन् १९४२ के आरम्भ मे ब्रिटिश सरकार ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को कुछ निश्चित प्रस्तावों सहित भारत भेजा। प्रस्ताव यह था कि युद्ध के बाद भारत को वेस्टमिनस्टर प्रणाली का औप-निवेशिक स्वराज्य दे दिया जायगा। इसका अर्थ यह था कि यदि भारत चाहे तो बाद

में ब्रिटिश साम्राज्य से वह अलग भी हो सकता है। भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान-परिषद् बनाई जाने की बात कही गई। यह संविधान-परिषद् जो कुछ सिफारिशें करती उनको ब्रिटिश संसद द्वारा क्रियान्वित किया जाता। जो भी प्रान्त औपनिवेशिक स्वराज्य न चाहते उनको उससे अलग रहने का अधिकार होता। ब्रिटिश सरकार तथा संविधान-परिषद् के बीच एक सन्धि होती जिसमें प्रथम पक्ष पूर्ण सत्ता हस्तान्तरित करने का वादा करता और दूसरा पक्ष अल्पसंख्यकों की पूर्ण रक्षा का वचन देता, और यद्यपि युद्धकाल में भारत की प्रति-रक्षा का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार का ही होता लेकिन वह तत्काल ही ऐसी व्यवस्था करती जिससे भारतीय नेता अपने देश के शासन में भाग ले सकें और इसके साथ ही भारत राष्ट्रमंडल तथा संयुक्त राष्ट्र सङ्घ का भी सदस्य हो सके। क्रिप्स प्रस्तावों से भी भारत के विभिन्न राजनीतिक दल सन्तुष्ट न हो सके। महात्मा गाँधी ने क्रिप्स प्रस्तावों को "दिवालिया बैङ्क के नाम बीती हुई तारीख का चेक" बतला कर उन्हें अमान्य कर दिया। फलतः यह योजना भी जहाँ थी वहीं रह गयी।

भारत छोड़ो प्रस्ताव और '४२ का विद्रोह—क्रिप्स-प्रस्तावों की असफलता के बाद कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' (Quit India) का नारा लगाया। सन् १६४२ में ६ अगस्त को बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में माँग की गई थी कि अंग्रेज तत्काल भारत छोड़कर चले जायें। प्रस्ताव के पारित होते ही देश भर में जो कांग्रेस नेता जहाँ था, वहीं पकड़कर गिरफ्तार कर लिया गया। क्रोध में जनता ने रेलों की पटरियाँ तोड़ डालीं और सरकारी दफ्तर तथा सम्पत्ति जला डाली। इस विद्रोह का बलपूर्वक दमन कर दिया गया। दमन के बाद देश क्षुब्धावस्था में बैठा चुपचाप आने वाली घटनाओं की प्रतीक्षा करने लगा।

सन् १६४५ की वेवेल-योजना—सन् '४२ के विद्रोह के बाद तीन वर्ष तक पूर्ण गत्यवरोध रहा। लेकिन सन् १६४५ के जून मास में तत्कालीन वॉइसराय लार्ड वेवेल ने घोषणा की कि क्रिप्स-प्रस्तावों पर ब्रिटिश सरकार अभी भी अटल है। उन्होंने अपनी घोषणा में यह भी कहा कि युद्धोत्तर भारत का नया संविधान केवल भारतीय ही बनायेंगे। अस्थायी तौर पर उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि वे अपनी कार्यकारिणी में भारतीय राजनीतिक जगत में मान्य हिन्दू और मुसलमान नेताओं को बराबर संख्या में लेने के लिए तैयार हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वॉइसराय तथा कमाण्डर-इन-चीफ के अतिरिक्त कार्यकारिणी के अन्य समस्त सदस्य भारतीय रहेंगे। इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए शिमला में एक सम्मेलन भी हुआ लेकिन लीग और कांग्रेस के मतभेद के कारण कुछ भी निर्णय न हो सका।

मन्त्रि-मिशन (Cabinet Mission) का सन् १९४६ में आगमन— शिमला सम्मेलन की असफलता के बाद ही इंगलैण्ड में एक बार पुनः श्रमिक दलीय सरकार सत्तारूढ़ हो गई। उसने कार्यभार संभालते ही तीन मन्त्रियो का एक दल, जो मन्त्रि-मिशन (Cabinet Mission) के नाम से विख्यात है, भारत भेजा। इस दल को भारत के विभिन्न राजनीतिक दलो के नेताओ से समझौते की बात करने के लिए भेजा गया था। मिशन भारत मे लगभग तीन मास तक रहा और लम्बी वार्ता के बाद उसने सन् १९४६ में १६ मई को अपनी प्रस्तावित योजना घोषित कर दी। मन्त्रि-मिशन ने भारत के विभाजन के विरुद्ध मत प्रकट किया और भावी सरकार की रूपरेखा उपस्थित करते हुए संविधान निर्माण की एक पद्धति समझौते के रूप में सामने रख दी। समझौते मे तीन स्तरो वाले संविधान की व्यवस्था थी; एक तो सङ्घीय केन्द्र के लिए, दूसरा प्रान्तो के समूहो के लिए तथा तीसरा प्रान्तो के लिए। प्रान्तो के समूहीकरण, तथा केन्द्रीय सत्ता को न्यूनतम अधिकार देकर यह आशा की गई थी कि उससे मुसलमानो की पाकिस्तान की मांग काफी हद तक पूरी हो जायगी। इन्ही प्रस्तावो मे संविधान परिषद् की रचना का भी एक प्रारम्भिक प्रस्ताव रखा गया था। यह कहा गया था कि संविधान-परिषद् मे ३८५ सदस्य रहेंगे। इनमे २९२ सदस्य तो ब्रिटिश भारत के होंगे और शेष ९३ सदस्य देशी राज्यों के होंगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर प्रान्तीय विधानमंडलों द्वारा निर्वाचित किये जाते।

अन्तरिम सरकार का निर्माण—संविधान-निर्माण-काल मे एक ऐसी अन्तरिम सरकार की भी आवश्यकता थी जिसे जनता का समर्थन प्राप्त हो और शासन कार्य भलीभाँति चला सके। मन्त्रि-मिशन ने यह सुझाव रखा था कि यह अन्तरिम सरकार प्रमुख राजनीतिक दलो द्वारा बना ली जाय। दीर्घ वार्ता के उपरान्त कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार बनाना स्वीकार कर लिया, लेकिन लीग ने सहयोग देना स्वीकार न किया और देश भर मे आन्दोलन छेड़ दिया। आखिरकार, *अक्तूबर १९४६ मे लीग भी* अन्तरिम सरकार मे आ गई लेकिन उसने संविधान-निर्माण-कार्य में इस तर्क के आधार पर भाग लेना अस्वीकार कर दिया कि कांग्रेस ने मन्त्रि-मिशन के कुछ ही प्रस्ताव माने हैं, सब नहीं। कांग्रेस ने इस तर्क के उत्तर में कहा कि यदि लीग संविधान के निर्माण में भाग नहीं लेना चाहती तो उसे अन्तरिम सरकार मे भी भाग न लेना चाहिए। सक्षेप में, अन्तरिम सरकार मे ही इतना मतभेद था कि संविधान-निर्माण की दिशा में कोई प्रगति न हो सकी। इसके साथ ही कांग्रेस और लीग के मतभेद और भी उग्र हो गये।

भारत छोड़ जाने की योजना—कांग्रेस और लीग के मतभेदों की उग्रता देखते हुए अब यही मार्ग शेष रह गया था कि अंग्रेज अपने हटने की एक तिथि निश्चित कर उस तिथि को भारत छोड़ जाएँ। अंग्रेजों ने ऐसा ही किया। ब्रिटिश सरकार ने

निश्चय किया कि वह जून १६४८ में भारत खाली कर देगी। सन् १६४७ मे २० फरवरी को मि० एटली ने घोषणा कर दी कि यदि जून १६४८ तक लीग और कांग्रेस में कोई समझौता न हो सका तो भी वे भारत छोड़ देंगे और सत्ता या तो केन्द्रीय सरकार को सौंप दी जायगी अथवा वह न हुई और आवश्यक हुआ तो वह प्रान्तीय सरकार को भी सौंपी जा सकती है।

देश का विभाजन—लेकिन इस घोषणा से भी आन्तरिक संघर्षों और मत-भेदों का अन्त नहीं हुआ। इसके विपरीत मुस्लिम लीग ने उन प्रान्तो मे सरकारो पर कब्जा करने के लिए भयंकर संघर्ष आरम्भ कर दिया जिनमे मुसलमानो का बहुमत था परन्तु गैर-लीगी मन्त्रिमंडल पदारूढ था। सामूहिक आन्दोलनो के साथ व्यापक साम्प्रदायिक दंगे हो गये।

इस जटिल गुत्थी को सुलझाने का श्रेय भारत के नये वॉयसराय लार्ड माउण्टबैटन को है जिन्होंने २४ मार्च सन् १६४७ को कार्यभार सँभाला था। उन्होंने कहा कि भारत का विभाजन ही उचित है। पंजाब, बङ्गाल और आसाम का विभाजन कर दिया जाय तथा मुस्लिम-प्रधान प्रदेशों को पाकिस्तान राज्य के नाम से औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय और शेष को भारत के नाम से। विभाजन के प्रस्ताव पर लीग और कांग्रेस की प्रारम्भिक अनुमति प्राप्त करके ३ जून को यह योजना प्रकाशित की गई जिसे दोनो पक्षों ने औपचारिक रूप से स्वीकार भी कर लिया।

भारतीय स्वाधीनता अधिनियम १६४७ (The Indian Independence Act, 1947)—इस प्रकार जब समस्याओं का संवैधानिक हल निकल आया तो ब्रिटिश संसद मे एक विधेयक उपस्थित किया गया। इस विधेयक में भारत की स्वाधीनता को स्वीकार कर लेने की व्यवस्था की गई। यही विधेयक पारित हो जाने के बाद सन् १६४७ में १८ जुलाई को भारतीय स्वाधीनता अधिनियम हो गया।

इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि १५ अगस्त १६४७ को भारत और पाकिस्तान दो राज्य स्थापित हो जायँगे। पाकिस्तान मे पूर्वी बङ्गाल, पश्चिमी पंजाब, सिंध, ब्रिटिश बलूचिस्तान और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त रहेगा, यदि इस अन्तिम प्रान्त के लोग जनमत द्वारा पाकिस्तान में आने की इच्छा प्रकट करें। शेष भाग जो पहले ब्रिटिश भारत मे था, वह भारत होगा।

नये संविधान के निर्माण होने तक दोनों राज्यों मे ब्रिटिश सम्राट या राजा की ओर से नियुक्त एक-एक गवर्नर-जनरल रहेगा। इस गवर्नर-जनरल का पद केवल नामधारी अध्यक्ष का ही होगा। प्रत्येक राज्य द्वारा जो संविधान परिषद् नियुक्त की जायगी वह विधान मण्डल का भी कार्य करेगी और संविधान निर्माण का भी। जब

तक नया संविधान नही बन जाता तब तक सन् १९३५ का ही अधिनियम आवश्यकतानुसार उचित संशोधन और परिवर्धनो के साथ चलेगा। अधिनियम में गवर्नर-जनरल की आज्ञा से ही संशोधन हो सकेगा। जहाँ तक देशी राज्यो का सम्बन्ध है, १५ अगस्त १९४० के बाद उन पर ब्रिटिश सम्राट की सप्रभुता प्राप्त हो जायगी और उनके साथ जो संधियाँ आदि हुई थी, वे भी समाप्त हो जायँगी।

नये संविधान का निर्माण—अविभाजित भारत के लिए गत ८ दिसम्बर सन् १९४६ को एक संविधान परिषद् आयोजित की जा चुकी थी। इसमे ३८५ सदस्य थे, २९२ ब्रिटिश भारत के और ९३ देशी राज्यो के। देश के विभाजन और पाकिस्तानी क्षेत्र के सदस्यो के चले जाने के कारण भारतीय संविधान परिषद् की सदस्य संख्या केवल ३०० ही रह गयी। कई मास से उक्त भारतीय संविधान परिषद् लीग के अड़गे के कारण कोई प्रगति न कर सकी थी। किन्तु १५ अगस्त १९४७ के बाद प्रगति-अवरोधी तत्व लुप्त हो गये और विधान परिषद् ने अपना काम पूरी शक्ति से आरम्भ कर दिया।

सन् १९४६ मे जब संविधान-परिषद् की कुछ प्रथम बैठके हुई थी तो उनमें लक्ष्यो की परिभाषा सम्बन्धी प्रस्ताव तथा कुछ उन मौलिक सिद्धान्तो के प्रस्ताव पारित किये गये थे जिन्हे संविधान मे स्थान दिया जाना था। सन् १९४७ मे २९ अगस्त को डा० अम्बेदकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप समिति बनायी गयी; जिसे उक्त निर्णयो को वैधानिक रूप देने का कार्य सौंपा गया।

समिति ने संविधान परिषद् के अध्यक्ष को सन् १९४८ मे २१ फरवरी को अपना प्रतिवेदन दे दिया। संविधान के प्रारूप पर ४ नवम्बर १९४८ से विचार आरम्भ हुआ और संविधान को पारित करने का सारा कार्य २६ नवम्बर १९४९ को समाप्त हो गया। अतः, संविधान परिषद् को संविधान बनाने और स्वीकार करने में लगभग तीन वर्षों का समय लगा।

नया संविधान सन् १९५० मे २६ जनवरी से लागू हो गया।

१९५० के बाद के संविधान के संशोधन—संविधान १९५० मे लागू हुआ। तब से इस समय (मई १९५८) तक उसमे सात संशोधन हुए हैं। इन संशोधनो क विस्तार की बाते पुस्तक के विभिन्न अध्यायो में उपयुक्त स्थानो पर दी गई है। यहाँ केवल उनकी मुख्य-मुख्य बातो की चर्चा की जाती है।

प्रथम संशोधन (भारतीय संविधान प्रथम संशोधन अधिनियम, १९५१) विस्तृत और मिश्रित प्रकार का था। उससे संविधान के ११ अनुच्छेदो में परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन की मुख्य-मुख्य बातें ये थी कि समता, वाक्-स्वातंत्र्य, व्यवसाय और सम्पत्ति के मूलाधिकारो पर कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध लगाये गये। समता के अधिकार पर यह

प्रतिबन्ध लगा कि इसके कारण राज्य के, सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिक समुदायों तथा अनुसूचित कबीलों की उन्नति के लिए विशेष व्यवस्था करने की शक्ति मे कोई बाधा न पडेगी। वाक्-स्वातंत्र्य के मूलाधिकार पर यह प्रतिबन्ध लगा कि राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक शान्ति, सुरुचि और नैतिकता के हित में, अथवा न्यायालयों के अपमान, अन्य अपमानपूर्ण बातों, या अपराध के लिए प्रेरणा के विरुद्ध, यदि कोई ऐसा अधिनियम बनाया जाय जो वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार का उल्लंघन करता हो, तो वह इस उल्लघन के कारण अवैध न माना जायगा। व्यवसाय तथा व्यापारादि की स्वतंत्रता के मूलाधिकार पर यह प्रतिबन्ध लगा कि इससे राज्य के इन व्यवसायादि को करने वालो के लिए Technical योग्यताएँ नियत करने या स्वयं ही अथवा निगमो के द्वारा किसी व्यवसाय या व्यापार को अपने हाथ मे लेने और अन्य लोगों को उससे अलग कर देने के अधिकार मे कोई बाधा न मानी जायगी। सम्पत्ति-अधिकार इस प्रकार सकुचित कर दिया गया कि राज्य द्वारा जमीन्दारी या भूमि-सम्पत्ति को अपने हाथ मे लेने के लिए बनाये गये किसी कानून को इस कारण अवैध न ठहराया जा सके कि वह सविधान-प्रदत्त मूलाधिकारों का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार के जो कानून तब तक बन चुके थे, उनकी एक सूची बनाकर संविधान मे नवम अनुसूची के रूप मे जोड़ दी गई और स्पष्ट रूप से व्यवस्था कर दी गई। ये कानून मूलाधिकारो से विरोध होने के कारण अवैध न घोषित किये जा सकेंगे, चाहे किसी न्यायालय का इस आशय का निर्णय पहले से ही हो चुका हो। इस प्रकार इन कानूनों की दोहरी पुष्टि कर दी गई। एक अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण संशोधन यह था कि अब से राष्ट्रपति तथा राज्यपाल लोग लोक सभा या राज्य विधान सभाओं के आम चुनाव के उपरान्त होने वाले प्रथम सत्र और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र ही में अपना अभिभाषण देंगे और सभी सत्रो के आरम्भ मे नहीं; जैसी कि इस समय तक प्रथा थी।

द्वितीय संशोधन (भारतीय संविधान द्वितीय सशोधन अधिनियम, १६५२) लोक सभा के सदस्यो की संख्या से सम्बन्धित था। अभी तक लोक-सभा की सदस्य संख्या की एक ऊपरी सीमा थी और एक निम्नतम सीमा भी। इस संशोधन द्वारा निम्नतम सीमा, अर्थात् प्रत्येक ७½ लाख जन संख्या के लिए कम से कम एक सदस्य होगा, हटा दी गई।

तृतीय संशोधन (भारतीय संविधान तृतीय संशोधन अधिनियम, १६५४) द्वारा समवर्ती सूची की ३३वी मद—व्यापार-वाणिज्य—का अर्थ अधिक निश्चित और व्यापक कर दिया गया और उसमें स्पष्ट रूप से कुछ आवश्यक वस्तुओं—खाद्यपदार्थ, तेलहन, तेल, पशुओं का चारा, रुई, बिनौले, जूट तथा संसद द्वारा अधिनियमित अन्य भी किसी पदार्थ—के व्यापार और वाणिज्य का समावेश कर दिया गया।

चतुर्थ संशोधन, (भारतीय संविधान, चतुर्थ संशोधन अधिनियम, १९५५) से सम्पत्ति के अधिकार में संशोधन हुआ। इसका प्रथम अभिप्राय था प्रतिकर या मुआवजे-सम्बन्धी व्यवस्था को अधिक सुनिश्चित करना जिससे राज्य-निर्मित सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन-सम्बन्धी कानूनों का न्यायालयों द्वारा पुनर्निरीक्षण (Judicial review) संकुचित हो जाय। दूसरा अभिप्राय यह था कि राज्य को सम्पत्ति सम्बन्धी व्यक्तिगत अधिकारों, कम्पनियों के प्रबन्ध आदि में, बिना उन्हें हस्तगत किये हुए ही, परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त हो जाय। इस प्रकार की शक्ति, सार्वजनिक हित तथा देश में समाजवादी ढंग की आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए आवश्यक थी। इस संशोधन की विस्तार की बातें तृतीय अध्याय में 'सम्पत्ति-अधिकार' शीर्षक के अन्तर्गत दी हुई हैं।

पंचम संशोधन (भारतीय संशोधन, पंचम संशोधन अधिनियम, १९५५) का राज्य-पुनर्गठन विधेयक की प्रक्रिया (Procedure) से सम्बन्ध था। पहले इस बारे में यह व्यवस्था थी (अनुच्छेद ३, प्रतिबन्ध) कि किसी ऐसे विधेयक को प्रस्तुत करने के पूर्व राष्ट्रपति सम्बद्ध राज्यों के विधान मण्डलों के मतामत को जान लें, पर इसके लिए इसके समय की कोई सीमा न थी। इससे बहुत विलम्ब हो जाने की सम्भावना थी। अतः इस संशोधन द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया कि पुनर्गठन विधेयक पर राज्य के विधान मण्डलों की राय माँगते समय उस राय के दिये जाने का समय भी नियत कर दें। यदि उस अवधि के अन्दर विधान-मण्डल अपनी राय न भेजे तो वह विधेयक बिना राय मिले ही संसद में प्रस्तुत हो सकता है।

छठां संशोधन (भारतीय संविधान षष्ठ संशोधन, १९५६) द्वारा अन्तर्राज्य वाणिज्य व्यवस्था के अन्तर्गत क्रय-विक्रय पर के कर को समवर्ती सूची के विषयों में सम्मिलित कर दिया गया।

सातवाँ संशोधन (भारतीय संविधान सप्तम संशोधन अधिनियम, १९५६) का सम्बन्ध राज्य पुनर्गठन से था। इसके द्वारा राज्यों का क, ख और ग श्रेणियों में वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया और संघीय एककों के केवल दो वर्ग रक्खे गये अर्थात् (१) राज्य, और (२) संघीय भू-भाग (Union territories)। इसके फलस्वरूप एककों की संख्या २८ से घट कर २१ रह गई जिनमें से १५ राज्य हैं और ६ संघीय भू-भाग। राज्य ये हैं—(१) आंध्र प्रदेश, (२) आसाम, (३) बिहार (४) गुजरात, (५) केरल, (६) मध्य प्रदेश, (७) महाराष्ट्र, (८) मद्रास, (९) मैसूर, (१०) उड़ीसा, (११) पंजाब, (१२) राजस्थान, (१३) उत्तर प्रदेश, (१४) पश्चिमी बंगाल और (१५) जम्मू और काश्मीर। संघीय भू-भाग ये हैं—(१) दिल्ली, (२) हिमाचल प्रदेश, (३) मणीपुर, (३) त्रिपुरा, (५) अण्डमान और नीकोबार द्वीप, और (६) लकाद्वीप, मिनीकाय, अमीनदिवी द्वीप। इसके अतिरिक्त इस संशोधन द्वारा संविधान में राज्यपुनर्गठन के आनुषांगिक और भी कई

परिवर्तन हुए जैसे राज्य-सभा के स्थानों का राज्यों में पुनर्वितरण, लोक-सभा और राज्यों की विधान-सभाओं के संठन मे परिवर्तन, उच्चन्यायालयो के क्षेत्राधिकार का सङ्घीय भू-भागों में विस्तार और दो या अधिक राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना, पुनर्गठित राज्यों मे अल्पसंख्यक भाषा समुदायों के संरक्षण की व्यवस्थाएँ; सङ्घीय भू-भागों के शासन का प्रबन्ध इत्यादि। इन सब की विस्तार की बातें पुस्तक में उपयुक्त स्थानों पर दी गई हैं।

संवैधानिक महत्व के साधारण कानून— ऊपर वर्णित संवैधानिक संशोधनों के संसद ने कुछ ऐसे साधारण कानून भी बनाये है जो संवैधानिक महत्व के हैं। बात यह है कि बहुत-सी ऐसी व्यवस्थाएँ जो अन्य देशों मे संविधान द्वारा नियमित होती हैं, भारत में संसद के साधारण कानून द्वारा नियमित होने को छोड़ दी गई है।

इस प्रकार के कानूनों में हैं जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम १९५० और उसके संशोधन, भारतीय नागरिकता अधिनियम १९५५ और राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६। जन-प्रतिनिधित्व अधिनियमो द्वारा मतदाताओ और चुनाव के अभ्यर्थियो की योग्यताएँ और अयोग्यताएँ, और चुनाव की प्रक्रिया नियमित की गई है। भारतीय नागरिकता अधिनियम नागरिता के विषय मे संविधान में दी हुई व्यवस्थाओ का पूरक है। इसमें नागरिकता की प्राप्ति और हानि आदि की प्रक्रिया दी हुई है। राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ पुनर्गठित राज्यों के निर्माण के लिए भू-भागो के आवश्यक पुनर्वितरण और अन्य आनुषंगिक बातों की व्यवस्था करता है। इसकी स्थायी महत्व की व्यवस्थाओ का पुस्तक में दी हुई संविधान की व्याख्या मे समावेश कर दिया गया है।



अध्याय : २

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

वर्तमान संविधानों की व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण—हमारे संविधान निर्माताओं का लक्ष्य नहीं था कि वे कोई मौलिक या अभूतपूर्व संविधान तैयार करें। वे केवल अच्छा और कामचलाऊ संविधान ही चाहते थे। तदनुसार उन्होंने विदेशी संविधानों की उन धाराओं और व्यवस्थाओं को मुक्त रूप से अपने संविधान में ग्रहण कर लिया जो उन देशों में सफल रही थीं और भारत की परिस्थितियों के अनुकूल थीं। अन्य संविधानों की भाँति भारतीय संविधान रचयिताओं ने ब्रिटिश सर्वैधानिक परिपाटियों से पर्याप्त बातें ग्रहण कीं। हमारे संविधान के समस्त संसदीय उपादान ब्रिटिश संविधान से ही आये हैं। इसके बाद कनाडा, आस्ट्रेलिया, आयरलैंड और दक्षिणी अफ्रीका के संविधानों का भी अनुकरण किया गया है। कनाडियन आदर्श पर भारतीय संघ को 'यूनियन' (Union) कहा गया है और अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) बजाय राज्यों को दिये जाने के केन्द्र को दी गयी हैं। आस्ट्रेलिया के संविधान से समवर्ती अधिकार सूची (Concurrent list of powers) की प्रथा ग्रहण की गयी है और यह तय किया गया है कि उस क्षेत्र में राज्यों और केन्द्र के बीच की गुत्थियों को किस प्रकार सुलझाया जायगा। मौलिक अधिकारों की व्याख्या करने वाले भारतीय संविधान के अंशों पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संविधान का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। आयरलेण्ड के संविधान का प्रभाव राज्य-नीति के निर्देशक तत्वों (Directive Principles of State Policy) वाले अंशों पर भी प्रकट है। राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक-मण्डल (Electoral college) का प्रयोग और द्वितीय सदन (upper house) में साहित्य, कला, विज्ञान और समाज-सेवा के क्षेत्रों के प्रसिद्ध व्यक्तियों का नामांकन भी आयरलैण्ड की ओर संकेत करता है। प्रस्तावना (Preamble) पर अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा का प्रभाव अंकित है यद्यपि अमेरिका तथा भारत की राजनीतिक व्यवस्थाओं के मौलिक अन्तर के कारण में राष्ट्रपतिक (Presidential) व्यवस्था है और भारत में संसदीय। इस अन्तर के कारण अमेरिका के संविधान का भारतीय संविधान में बहुत अधिक अनुकरण नहीं किया जा सका है, फिर भी संविधान की व्याख्या करने के लिए

उच्चतम न्यायालय रखने का विचार अमेरिकन संविधान से ही ग्रहण किया गया है। संवैधानिक संशोधन करने की पद्धति दक्षिणी अफ्रीका (South Africa) से प्रभावित है।

विदेशी होने का अभियोग—देश में इस प्रकार के विचारो के भी कुछ लोग थे जो यह चाहते थे कि संविधान बिल्कुल स्वदेशी होना चाहिए और जब उनके विचारों के अनुकूल संविधान नहीं बना तो उन्हे बडी निराशा हुई। लेकिन उक्त विचार रखने वाले व्यक्तियो के समुदाय में भी दो विचारधाराएँ थी। एक पक्ष कहता था कि संविधान प्राचीन हिन्दू आदर्शो के अनुसार बनना चाहिए जब कि दूसरे पक्ष का मत था कि भारतीय संविधान स्वायत्त-शासनयुक्त गाँवो और जनपद-गणतंत्रो पर आधारित होना चाहिए। गाँवो और जनपद-गणतन्त्रो से ही राज्यो और केन्द्र के उच्चतर शासनाधिकारी अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होना चाहिए। ये लोग महात्मा गाँधी के समय-समय पर प्रकट किये गये विचारो से प्रेरणा ग्रहण करते थे। इस दृष्टिकोण के समर्थको के विचारों का निष्कर्ष यह था कि राज्य के कार्यों (Functions) और शक्तियो (Powers) का अधिक-से-अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए और ये मुख्यतः ग्रामो मे निहित रहनी चाहिए।

प्राचीन हिन्दू आदर्शों के अनुसार संविधान तैयार करने मे दो प्रकार की कठिनाइयाँ थी। एक कठिनाई तो यह थी कि हिन्दू राज्य का कोई एक स्वरूप नहीं था। यह बात विभिन्न हिन्दू राजनीति-ग्रन्थो के मतो से स्पष्ट है। दूसरे हिन्दू राज्य के आदर्शों की प्रगति गत एक हजार वर्षों से अवरुद्ध है और उन आदर्शो से उन स्थितियो और समस्याओं के समाधान के लिए कोई पथप्रदर्शन नहीं मिलता था जिनके समाधान की आशा अनिवार्यतः किसी आधुनिक संविधान से की जाती है। जहाँ तक गाँधीवादी योजना का सम्बन्ध है, उसके अनुसार भारतीय संविधान का ढाँचा पिरेमिड की भाँति होना चाहिए था। सबसे नीचे और बीच के स्तरो पर ग्राम, जनपद और प्रादेशिक पञ्चायतें रहती तथा शीर्ष पर अखिल भारतीय पञ्चायत या शासन (Govt.) रहता। ये सभी संस्थाएँ एक-दूसरों से अप्रत्यक्ष निर्वाचनो द्वारा सम्बद्ध रहती हैं। ऊपर के अधिकारियों का नीचे वालो द्वारा चुनाव होता। इससे वही संवैधानिक व्यवस्था स्थापित हो जाती जो कांग्रेस दल में बहुत दिनो से चली आ रही थी लेकिन जो वस्तु किसी दल के लिए उपयुक्त हो, वही वस्तु अनिवार्यतः किसी राज्य के लिए भी उपयुक्त होगी, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों के कार्यों (Functions) मे भेद है। डा० अम्बेदकर ने इस विचार के समर्थको को जो उत्तर दिया था उससे स्पष्ट हो गया था कि वे उक्त विचारको से कतई कोई समझौता करने को तैयार नहीं है। मेटकाफ के शब्दों को उद्धृत करते हुए उन्होंने बतलाया कि प्राचीन काल मे शत्रुओं के सामने हर गाँव एक

के बाद एक करके किस प्रकार नतमस्तक होता जाता था और शत्रु जब आगे बढ़ जाता था तो गाँव वाले फिर अपने काम में लग जाते थे। इतना कहने के बाद डा० अम्बेदकर ने प्रश्न किया था, "यह जान कर, उस व्यवस्था पर कौन गर्व प्रकट कर सकता है ? यह दूसरी बात है कि वे गाँव किसी तरह सारी कठिनाइयों से अपनी अस्तित्व-रक्षा में सफल हो गये हों लेकिन उनकी जीवनरक्षा अत्यन्त ही निम्न स्तर पर उतर कर हुई थी। मेरा तो कहना है कि भारत के नाश का कारण ये ग्राम गणतन्त्र ही हैं। अतएव, मुझे उस समय बड़ा आश्चर्य होता है जब साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता के निन्दक ग्राम-व्यवस्था के समर्थक हो कर आगे आते हैं। गाँव स्थानीयवाद, अज्ञान के अड्डे, संकुचित मस्तिष्क और साम्प्रदायिकता के सिवा और हैं क्या ? मुझे प्रसन्नता है भारत के संविधान के प्रारूप में ग्राम का बहिष्कार किया गया है और व्यक्ति को इकाई माना गया है।"

सम्भवतः डा० अम्बेदकर द्वारा भारतीय गाँवों की की गयी यह टीका अत्यन्त कठोर है तथा प्रश्न के केवल एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है। इस टीका में महात्मा गांधी के उन विचारों की अवहेलना की गयी थी जिनके आधार पर वे हमेशा स्वायत्त और आत्मनिर्भर ग्रामों के आधार पर भारतीय राजनीति और आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने का परामर्श दिया करते थे। उन्होंने ग्रामीण जीवन को बिगाड़ने वाली बुराइयों को दूर करने के लिए अपने जीवन का सर्वोत्तम समय और सर्वाधिक शक्ति लगायी थी। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि महात्मा गांधी के विचार कभी भी विस्तारपूर्वक कार्यान्वित नहीं किये गये और कोई भी यह नहीं जानता था कि उन विचारों के आधार पर संविधान की व्यवस्था किस प्रकार की जाय। यदि महात्मा गांधी जीवित रहते तो शायद वे इन बातों को स्पष्ट करते और तब उनके विचारों के अनुकूल संविधान की रचना सम्भव हो पाती। उनकी अनुपस्थिति की दशा में यही ठीक था कि संविधान उसी तरह बनाया जाता जैसा उसे चलाने वाले चाहते थे। इसके अलावा और जो कुछ भी किया जाता वह अँधेरे में छलाँग मारने के बराबर होता। सम्भवतः गांधी जी जो चाहते थे उसका राज्य की रूपरेखा से उतना सम्बन्ध न होकर राज्य की नीति से था। और यदि यह अनुमान ठीक है तो गांधी जी के विचारों का मुख्य भाव राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में आ गया है।

अतीत से सम्बन्ध—यद्यपि देश के स्वतन्त्र हो जाने के कारण ब्रिटिशकालीन व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन किये गये हैं लेकिन संविधान ने अतीत से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर लिया है। सन् १६३५ के भारतीय संविधान अधिनियम के कुछ अनुच्छेद तो ज्यों के त्यों उठाकर नये संविधान में रख लिए गये हैं। नये संविधान को उक्त अधिनियम के स्थान पर लागू किया जाना था।। फेडरल (सङ्घीय) समवर्ती और राज्य शक्ति सूची, केन्द्रीय और राज्य शासनों के पारस्परिक सम्बन्धों की स्थिति, राष्ट्रपति के अधिकार

विशेषरूप से आपत्तिकाल में, ये सब बातें पुराने अधिनियम के अनुसार ही निश्चित की गई हैं। केवल शब्दों का थोड़ा हेरफेर यहाँ-वहाँ कर दिया गया है। देश के प्रशासन की वर्तमान नीति को लगभग ज्यों का त्यों संविधान ने स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है।

विस्तृत संविधान—हमारा भारतीय संविधान काफी, लम्बा और विस्तृत है। इनमें ३६५ अनुच्छेद हैं जो २२ भागों में विभक्त हैं। इसमें आठ अनुसूचियाँ भी हैं। सङ्घ और राज्यों की कार्यपालिका (Executive), विधानमंडल (Legislature) और न्यायपालिका (Judiciary) के सङ्गठन और कृत्यों के वर्णन के अतिरिक्त नये संविधान में नागरिकता, मौलिक अधिकारों, राज्यनीति के निर्देशक तत्वों, केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करने, वित्त (Finance) सम्पत्ति, अनुबन्धों तथा अदालती मामलों, भारतीय क्षेत्र में वाणिज्य व्यवसाय तथा आवागमन, सेवाओं, निर्वाचनों, अल्पसंख्यकों, शासन की भाषा तथा आपत्तिकालीन अनुच्छेदों के विषय में बिल्कुल स्वतंत्र अध्याय दिये गये हैं। इनमें से बहुत-सी बातें प्रशासन से सम्बन्धित हैं और यदि सच पूछा जाय तो इनको संविधान में रखा ही नहीं जाना चाहिए था। ऐसे अनुच्छेद जिस संविधान में जितनी ही अधिक संख्या में होते हैं संविधान की नमनशीलता उतनी अधिक कम हो जाती है। लेकिन भारत की जटिल परिस्थितियों तथा भारतीय जनता की राजनीतिक अनुभवहीनता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय संविधान के निर्माताओं ने यही उचित समझा कि सब बातें स्पष्ट रूप से संविधान में रख दी जाएँ और कोई खतरा न उठाया जाय। उन्होंने कोई भी महत्वपूर्ण बात प्रथाओं (Conventions) या विधानमंडल द्वारा नियमित होने के लिए नहीं छोड़ी है। संविधान की इस विशेषता का औचित्य सिद्ध करते हुए डाक्टर अम्बेदकर ने अपनी वक्तृता में कहा था, "प्रशासन के रूप और संविधान के रूप में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। संवैधानिक नैतिकता के भ्रष्ट हो जाने का भय था। नैतिकता कोई स्वाभाविक भावना नहीं है, इसे तो जागरूक प्रयत्नों द्वारा उत्पन्न करना पड़ता है। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि हमारे यहाँ के निवासियों को नैतिकता का यह भाव अपने आप में जागृत करता है। भारत की भूमि स्वभावतः अप्रजातांत्रिक है। इसमें प्रजातंत्र को ऊपर से सजा करके खड़ा कर दिया गया है। इसलिए उन परिस्थितियों में यही अधिक उचित समझा गया कि प्रशासन की रूपरेखा निर्धारण सम्बन्धी विभिन्न चीजें विधानमण्डलों पर न छोड़ी जाएँ। यही इन बातों को संविधान में रखे जाने का कारण है।" यही कारण है संसदीय व्यवस्था की मौलिक बातें, तथा राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करे और मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से विधानमण्डल के लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी रहे, आदि संविधान में स्पष्ट रूप से लिपिबद्ध कर दी गई हैं। इन्हें भी प्रथाओं या लोगों की औचित्यबुद्धि पर नहीं छोड़ा गया है।

हमारा संविधान संपूर्ण संप्रभुत्व-सम्पन्न प्रजातन्त्रात्मक गणतंत्र की रचना करता है—संविधान द्वारा एक पूर्ण सम्प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य की स्थापना की गई है। वह पूर्णतः स्वतन्त्र है और घरेलू या बाहरी नीतियों के किसी भी पक्ष में किसी भी तरह पराश्रित नही है। किन्तु देश की सम्प्रभुता या स्वाधीनता इस बात मे बाधा नही डालती कि भारत किसी भी राज्य या राज्य समूह से पारस्परिक हितो की पूर्ति के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक सहयोग करे। भारत सयुक्त राष्ट्र सङ्घ तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल दोनो का सदस्य है। जहाँ तक सयुक्तराष्ट्र सङ्घ की सदस्यता का प्रश्न है, इस पर किसी तरह की टिप्पणी की आवश्यकता नही है क्योकि संयुक्त राष्ट्र सङ्घ की सदस्यता ब्रिटेन, अमेरिका, रूस आदि जैसे स्वतन्त्र और बडे देशो तक ने स्वीकार कर ली है।

किंतु भारत की ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के सम्बन्ध मे कुछ क्षेत्रों में गलतफहमी है। अतः हमे उक्त सदस्यताजनित परिणामो को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। अपने वर्तमान स्वरूप मे राष्ट्रमण्डल की सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की भाँति स्वतंत्र राज्यो की अन्तर्राष्ट्रीय सस्था है; यद्यपि उसकी सदस्यता केवल उन्ही राज्यो तक सीमित है जो पहले कभी ब्रिटिश साम्राज्य के भाग रह चुके हैं लेकिन अब स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है। अभी तक राष्ट्रमण्डल को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल कहा जाता था और उसके सदस्य ब्रिटिश सम्राट के प्रति औपचारिक भक्ति की शपथ ग्रहण करते थे, यद्यपि उन्हे राष्ट्रमण्डल से किसी भी वक्त सम्बन्ध तोड़ लेने का अधिकार था। 'राष्ट्रमण्डल' के पूर्व 'ब्रिटिश' शब्द का प्रयोग, इस सस्था मे ब्रिटेन की प्रमुखता प्रकट करता था और ब्रिटिश सम्राट के प्रति राजभक्ति की प्रतिज्ञा का यह अभिप्राय था कि कोई सदस्य राज्य गणतन्त्र नही हो सकता था। लेकिन ये दोनो बन्धन गत अक्टूबर १९४८ के राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्री-सम्मेलन के बाद दूर हो गये। अब स्वेच्छिक सदस्यता की संस्था का नाम 'राष्ट्रमण्डल' रख दिया गया है और इसके पूर्व ब्रिटिश शब्द का प्रयोग वैकल्पिक कर दिया गया है। सदस्य राज्यों को ब्रिटिश सम्राट को केवल प्रतीक रूप से राष्ट्रमण्डल का प्रधान मानना पड़ता है। राष्ट्रमण्डल से कोई राज्य किसी भी समय अलग हो सकता है। सदस्यता-काल मे सदस्य राज्यो से केवल इतनी ही आशा की जाती है कि वे पारस्परिक हितों या अन्तर्राष्ट्रीय मामलो से सम्बन्धित विषयों पर अपनी कोई नीति निर्धारित करने के पूर्व अन्य सहयोगी राष्ट्रो से परामर्श कर लें। भारत के राष्ट्रमण्डल मे रहने के निश्चय की भारतीय सविधान परिषद् ने औपचारिक पुष्टि कर दी थी, यद्यपि इस निश्चय को सविधान का अंग नही बनाया गया।

भारतीय सविधान का गणतन्त्रात्मक रूप से इस बात का सूचक है कि भारत में कोई राजा-सा सम्राट नही हो सकता। उसकी अध्यक्षता कोई निर्वाचित राष्ट्रपति ही कर सकता है। अन्त मे प्रजातत्र का यह अर्थ होता है कि सारी सत्ता जनता मे निहित

है। इस शासन सत्ता का प्रयोग वह सरकार करती है जिसे वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने गये प्रतिनिधि बनाते हैं।

धर्म-निर्पेक्ष राज्य—हालांकि 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' (Secular) शब्द संविधान में वस्तुतः कहीं प्रयुक्त नहीं हुए हैं लेकिन संविधान का उद्देश्य धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना ही है। संविधान के अन्तर्गत नागरिक को जो मूल अधिकार दिये गये हैं, उनके अनुसार सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के प्रतिबन्धों के अधीन रहते हुए, सब व्यक्तियों को विश्वास की स्वतन्त्रता का तथा किसी धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार है।[1] राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।[2] इसका स्पष्टतः निषेध है। राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है और न वह कोई धर्म स्थापित कर सकता है और न किसी धर्म को प्रश्रय दे सकता है। शिक्षण संस्थाओं में राज्य की निधियों का प्रयोग धार्मिक शिक्षा देने के लिए नहीं किया जा सकता। ऐसा करना निषिद्ध है। जिन विद्यालयों को सरकारी मान्यता प्राप्त है, या जिन्हें सरकार द्वारा सहायता मिलती है किन्तु जिनका प्रबन्ध व्यक्तिगत रूप से लोगों के हाथ में है, उनमें भी किसी को धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।[3] संक्षेप में धर्म निरपेक्ष राज्य का अर्थ होता है ऐसा राज्य जो राज्य, धर्म तथा विश्वास के मामलों में तटस्थ रहता है। लेकिन धर्म के प्रति राज्य की तटस्थता धार्मिक प्रथाओं से सम्बन्धित आर्थिक, राजनीतिक या अन्य लौकिक कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप में कोई बाधा नहीं डालती या राज्य को सामाजिक कल्याण या सुधारों के कार्यों के करने से भी नहीं रोकती। सरकार द्वारा अस्पृश्यता का उन्मूलन तथा सार्वजनिक हिन्दू धार्मिक संस्थाओं के दरवाजे सभी हिन्दुओं के लिए खोल देने के कार्य ऐसे हैं जिनके लिए संविधान में स्पष्ट रूप से स्वीकृति दी गई है।[4]

भारतीय गणतन्त्र की धर्म-निरपेक्षता ने बहुत से लोगों के मस्तिष्क में, विशेषकर कट्टर हिन्दुओं में बहुत अधिक गलतफहमी पैदा कर दी है। उनका कहना है कि एक ओर धर्म-निरपेक्ष राज्य के नाम पर राज्य 'सामाजिक कल्याण और सुधारों' की आड़ में हिन्दू धर्म पर हमला करता है और दूसरी ओर वह हिन्दू-संस्कृति को जिसका हिन्दू धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है, कोई प्रोत्साहन नहीं देता; यद्यपि हिन्दू संस्कृति को, बहुसंख्यक नागरिक समाज की संस्कृति होने के नाते प्रोत्साहन का अधिकार है। हिन्दू कोड बिल के रूप में हिन्दुओं को यह दिखलाई पड़ता है कि राज्य किस तरह उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप कर रहा है।

इस सम्बन्ध में उन राज्यों का दुखपूर्ण इतिहास स्मरण रखना आवश्यक है जो

[1] अनु० २५, [2] अनु० १५, [3] अनु० २८, [4] अनु० १७ और २५ (२)

किसी विशेष धर्म से सम्बद्ध रहे हैं। राज्य की धर्म-निरपेक्षता या धार्मिक तटस्थता एक लम्बे संघर्ष के बाद ही प्राप्त की जा सकी है। आज इसको प्रत्येक प्रगतिशील राज्य का लक्षण माना जाता है। ऐसे किसी देश में जिसके निवासियों में बहुत से धर्म प्रचलित हों धर्म-निरपेक्षता ही एकमात्र ऐसी नीति है जिसे राज्य अपना सकता है। लेकिन धार्मिक निरपेक्षता का उद्देश्य अल्पसंख्यकों को आश्वस्त रखना होता है। उसका यह अर्थ नहीं है कि बहुसंख्यक नागरिक धर्म-निरपेक्षता को राज्य का अपने धर्म में हस्तक्षेप करने का साधन समझ ले। यदि ऐसी भ्रमात्मक धारणा किसी प्रकार उत्पन्न हो जाती है तो राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उसे दूर कर दे। ऐसा करना राज्य के ही हित में होगा। इस सम्बन्ध में यह जान लेना भी मनोरंजक होगा कि आयरलैण्ड के संविधान में एक ओर जहाँ धर्म और राज्य को अलग रखा गया है और सबको धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई है, वहीं दूसरी ओर कैथलिक चर्च को विशेष रूप से मान्यता दी गई है क्योंकि वही बहुसंख्यक नागरिकों के धार्मिक विश्वासों का अभिभावक है। भारतीय संविधान निर्माता यदि इसी प्रकार की कोई व्यवस्था भारतीय संविधान में रख देते तो उससे कोई हानि न होती। अपने आप में ऐसी व्यवस्था का कोई विशेष महत्व नहीं है लेकिन बहुसंख्यक नागरिकों के मानसिक सन्तोष की दृष्टि से यह बड़ा लाभदायी है।

किसी विशेष आर्थिक व्यवस्था से सम्बद्ध नहीं—हमारा संविधान किसी विशेष आर्थिक व्यवस्था के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध नहीं है। वह किसी आर्थिक सिद्धान्त से बँधा नहीं है चाहे वह पूँजीवादी हो या समाजवादी हो अथवा साम्यवादी। श्री अल्लादि कृष्ण-स्वामी एय्यर के शब्दों में "उसमें विस्तार, विकास और नमनशीलता के ऐसे गुण हैं जिनकी वजह से संविधान के अन्तर्गत ही जनता के प्रतिनिधि संविधान द्वारा प्रदत्त व्यवस्था तथा शासन द्वारा जैसी आर्थिक व्यवस्था चाहें, वैसी चुन सकते हैं। किन्तु राज्य-नीति के निर्देशक तत्वों के अनुसार राज्य को यह परामर्श दिया गया है कि वह देश के उत्पादन साधनों तथा सम्पत्ति के स्वामित्व का इस प्रकार नियंत्रण करे कि अधिक से अधिक जन-कल्याण सम्पादित हो और यह भी ध्यान रखे कि "आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिसमें धन और उत्पादन के साधनों का हितकारी एकत्रीकरण न हो।"[1]

अपने आवाडी के अधिवेशन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा देश के लिए 'समाज-वादी आर्थिक व्यवस्था' को स्वीकार किया। बाद में संसद ने भी अपने प्रस्ताव द्वारा इस नीति को स्वीकृत कर लिया। अतः 'समाजवादी व्यवस्था' अब भारतीय आर्थिक व्यवस्था का अधिकृत रूप से स्वीकृत लक्ष्य है।

---

[1]अनु० ३९

सुदृढ़ केन्द्रयुक्त संघ राज्य—संविधान एक ऐसे सङ्घराज्य की स्थापना करता है जिसका केन्द्र अत्यन्त सुदृढ़ है। भारत जैसे विस्तृत देश में जहाँ के निवासियों के राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के भिन्न-भिन्न स्तर हैं, किसी न किसी तरह का सङ्घराज्य स्थापित होना अनिवार्य था। लेकिन इसके साथ ही देश मे ऐसी विघटनकारी प्रवृत्तियाँ थीं जिनके कारण यह आवश्यक था कि केन्द्र या सङ्घ शासन अत्यन्त सुदृढ रहे जिससे वह सभी इकाइयो को ग्रंथित रख सके। यह लक्ष्य संविधान मे कई साधनों से सम्पन्न किया गया है। इन साधनों के कुछ उदाहरण हैं सङ्घीय और समीपवर्ती अधिकारों की लम्बी सूची, अवशिष्ट अधिकारों (Residuary Powers) या शक्तियों का सङ्घ शासन मे केन्द्रण, एक न्यायपालिका, देश भर के लिए एक समान नागरिकता, अखिल भारतीय प्रशासन सेवाओं की स्थापना, जिसके सदस्य केन्द्र तथा राज्य दोनों में उच्च पदों पर रहते हैं, देश भर के लिए सामान्य मौलिक विधि जिसमें व्यवहार और दण्ड (Civil and Criminal) दोनों विधियाँ सम्मिलित हैं और सबसे अन्त में राष्ट्रपति की आपत्कालीन शक्तियाँ जिनके द्वारा आवश्यकता पड़ने पर राज्य को एकात्मक राज्य बनाया जा सकता है। भारतीय संविधान की इन विशेषताओं पर अगले अध्यायों में विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

संसदीय प्रजातंत्र—भारतीय संविधान ने देश के लिए एक संसदीय प्रजातंत्र की स्थापना की है। यद्यपि राज्य का अध्यक्ष राष्ट्रपति कहलाता है लेकिन उसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की भाँति यथार्थ अधिकार प्राप्त नहीं है। ब्रिटेन के राजा की भाँति राष्ट्रपति केवल नामधारी अध्यक्ष है। वह साधारणतया हर मामले में मन्त्रिमण्डल की सलाह के अनुसार कार्य करता है। राष्ट्रपतिक या काग्रेसीय शासन की जो परिपाटी बहुत से अमेरिकन देशो मे है उसका सार है शक्ति विभाजन का सिद्धान्त (The Principle of Separation of Powers) और कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधानमण्डल शासन के इन तीन अंगों के मध्य पारस्परिक नियन्त्रण और सन्तुलन। लेकिन इसके विपरीत संसदीय शासन मे विधानमण्डल की सर्वोच्चता होती है और कार्यपालिका प्रत्यक्षतः विधानमण्डल के प्रति ही उत्तरदायी होती है। अनुभव यह है कि संसदीय व्यवस्था (Parliamentary System), राष्ट्रपतिक व्यवस्था (Presidential System) से ज्यादा अच्छी तरह काम करती है। जैसा कि डा० अम्बेदकर ने संकेत किया था, प्रजातांत्रिक कार्यपालिका की दो कसौटियाँ होती हैं—स्थिरता और उत्तरदायित्व। ऐसी कोई व्यवस्था खोज लेना सम्भव नहीं है जिसमें दोनों बातें समान अंश में मिल जाएँ। अमेरिकन व्यवस्था में स्थिरता है क्योंकि उसमें राष्ट्रपति एक निश्चित कार्यकाल के लिए निर्वाचित होता है और कार्यकाल के बीच में उसे कोई हटा नहीं सकता। लेकिन उसमें कार्यपालिका निरन्तर या लगातार उत्तरदायी नहीं रह पाती।

संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका जनता के प्रतिनिधियों के समक्ष निरन्तर उत्तरदायी रहती है और यदि दलगत व्यवस्था दृढ़ है तो उसमें स्थिरता भी रहती है। भारत के सम्बन्ध में यह अनुभव किया गया कि कार्यपालिका का उत्तरदायित्व स्थिरता की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। इस देश में एक अत्यन्त सबल और अनुशासनयुक्त कांग्रेस दल है जो संसदीय व्यवस्था चला सकता है और यद्यपि अभी कोई उतना ही सबल विरोधी दल नहीं है लेकिन लक्षणों से ऐसा प्रकट होता है कि शीघ्र ही कोई न कोई सबल विरोधी दल भी आ जायगा और फिर भारत की ब्रिटिश शासनकाल के समय से सारी प्रवृत्तियाँ संसदीय व्यवस्था की तरफ ही हैं। संसदीय व्यवस्था से भारतीय नेता राजनीतिज्ञ और भी भलीभाँति परिचित हैं। इन्हीं सब बातों के कारण भारत में संसदीय व्यवस्था के प्रजातंत्र की स्थापना की गई।

नमनशीलता (Flexibility) और अनमनशीलता (Rigidity) का अपूर्व मिश्रण—भारतीय संविधान नमनशीलता और अनमनशीलता का अपूर्व मिश्रण है। वैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी संविधान उस समय नमनशील कहलाता है जब वह संवैधानिक और सामान्य दोनों प्रकार की विधियों में कोई अन्तर नहीं मानता और जब उसमें विधान मण्डल ही बिना किसी विशिष्ट पद्धति को अपनाये सामान्य विधि बनाने के ढंग से संविधान में संशोधन कर लेता है। ब्रिटिश संविधान इस प्रकार के संविधान का उत्कृष्ट उदाहरण है। भारतीय संविधान बिना सङ्घीय व्यवस्था को निर्बल किये ब्रिटिश संविधान की भाँति नमनशील नहीं बनाया जा सकता था क्योंकि उसका अर्थ होता है सङ्घीय संसद की विधिमात्र द्वारा संविधान के सभी भागों का परिवर्तन और इस प्रकार राज्यों और उनके अधिकारों को केन्द्रीय सरकार की दया पर छोड़ देना। अतः हमारे संविधान का अनमनशील होना आवश्यक था। अनमनशील संविधान में संशोधन या तो सङ्घीय तथा राज्य विधानमण्डल मिल कर करते हैं अथवा संविधान द्वारा निर्दिष्ट कोई तीसरी सत्ता करती है। भारतीय संविधान के उन भागों में जो प्रत्यक्षतः सङ्घ और राज्यों के बीच अधिकार-वितरण से सम्बन्ध रखते हैं, कोई संशोधन तभी किया जा सकता है जब सङ्घ और राज्य दोनों के विधान-मण्डल उस संशोधन के लिए राजी हो जाएँ। इस भाग में संशोधन करने के लिए राज्य और सङ्घ दोनों के विधानमण्डलों द्वारा संयुक्त कार्रवाई आवश्यक है और इस सीमा तक भारतीय संविधान अनमनशील (Rigid) है। संविधान के अन्य भाग में भी संशोधन किये जा सकते हैं—लेकिन विधि बनाने की सामान्य पद्धति की भाँति नहीं, अपितु उसके लिए संसद के प्रत्येक सदन कुल सदस्यता के बहुसंख्यक मतों तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई मत आवश्यक हैं। इस दृष्टि से भारतीय संविधान अनमनशील है। लेकिन हम नमनशीलता की चर्चा दूसरे अर्थ में भी करते हैं। हम उस संविधान को भी सीमित अर्थों में नमनशील कहते हैं जिसके अनुच्छेदों की आवश्यकता पड़ने पर परिस्थितियों के अनुकूल

बिना औपचारिक संशोधनों के तोड़ा-मरोड़ा जा सके। ब्राइस ने ऐसे संविधान की तुलना एक पेड़ की ऐसी नरम शाखाओं से की है जो किसी बड़ी गाड़ी को अपने नीचे से निकल जाने के लिए अस्थायी रूप से ऊपर उठ जाती है और उस ऊँची गाड़ी के निकल जाने के बाद यथास्थान आ जाती है। इस अर्थ मे ब्रिटिश संविधान की नमनशीलता सबको विदित है। युद्धकाल में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सङ्गठन इस प्रकार किया गया था कि उसकी स्वरूप पहचानना ही कठिन हो गया था। लेकिन ऐसा करने के लिए किसी औपचारिक संशोधन की आवश्यकता नही पडी। इन अर्थों मे भारतीय संविधान पर्याप्त नमनशील है। आपत्ति काल में सङ्घीय राष्ट्रपति अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग कर संविधान की सङ्घीयता को एकदम समाप्त कर सकता है और उसे सर्वथा एकात्मक बना सकता है। डा० अम्बेदकर के शब्दो मे संविधान को सङ्घीय और एकात्मक समय और परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार जैसा चाहे बनाया जा सकता है। संविधान की रचना ऐसी है कि सामान्य काल में इसे सङ्घीय संविधान के रूप मे काम मे लाया जा सकता है लेकिन युद्धकाल मे संविधान बिल्कुल एकात्मक बन सकता है। अनुच्छेद ३५२ के अन्तर्गत जैसे ही राष्ट्रपति ने एक बार आपत्तिकाल की घोषणा की, जिसका उन्हे अधिकार है, कि सारा दृश्य बदल जाता है और राज्य एकात्मक हो जाता है।"

ब्रिटिश संविधान की इस अर्थ मे नमनशीलता उसके अलिखित होने के कारण उत्पन्न होती है। उसमे प्रथाओ (Conventions) की प्रधानता है। भारतीय संविधान मे यह नमनीयता वैधानिक व्यवस्था द्वारा की गई है।

वैयक्तिक स्वतंत्रता या शक्ति का संघटन ?—कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि भारतीय संविधान स्वतंत्रता (Liberty) का संघटन है या शक्ति (Power) का। बहुत से व्यक्तियो का जो यह प्रश्न पूछते है अभिप्राय यह होता है कि भारतीय संविधान शक्ति का सङ्गठन है। उनका यह ख्याल है कि भारतीय संविधान में व्यक्ति और राज्यों दोनों की स्वतंत्रताओं को कम किया गया है। वे अपने मत की पुष्टि करने के लिए मूल अधिकारो की उन सीमाओ की ओर सङ्केत करते हैं जो उनके लिए नियत कर दी गयी हैं। वे संघ के विस्तृत अधिकारों की ओर भी सङ्केत करते हैं जो उसी को समवर्ती सूची (Concurrent list) द्वारा, 'विधि की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) वाक्यांश के अभाव मे, और राष्ट्रपति को आपत्कालीन शक्तियों के दे दिये जाने के कारण मिल गये हैं। उन लोगों के अनुसार वैयक्तिक स्वतंत्रता के पोषक संविधान में राज्य की शक्तियाँ मर्यादित होनी चाहिए, उसमे शक्तियो का विकेन्द्रण होना चाहिए, उनका विस्तार और केन्द्रण नही। भारतीय संविधान मे राज्य की शक्तियों का विस्तार और केन्द्रण किया गया है।

यथार्थ बात यह है कि राज्य और व्यक्ति-स्वातंत्र्य को एक-दूसरे का विरोधी

समझना मिथ्या धारणा है। स्वातन्त्र्य चाहे वह व्यक्ति का हो या समुदाय का, किसी सशक्त सत्ता के अन्तर्गत ही सम्भव है। ऐसी सशक्त सत्ता राज्य की ही हो सकती है। यदि राज्य द्वारा प्रदत्त सुरक्षा का अभाव रहता है तो जंगल की स्वतंत्रता के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। अतः कोई ऐसी संस्था अत्यन्त आवश्यक है जो संघटित स्वतंत्रता की रक्षा कर सके। यहाँ प्रश्न केवल मात्रा का उठता है—राज्य को कितनी मात्रा में शक्ति दी जाय? लेकिन यह प्रश्न भी ऐसा है जिसका कोई अविवादास्पद उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि सब स्थानों में और सब परिस्थितियों में कितनी शक्ति राज्य को दी जानी चाहिए। हम आजकल एक ऐसे युग में रह रहे हैं जो वृहद् संगठन का है। जिसमें विश्वयुद्ध होते रहते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता फैली हुई है। वैयक्तिक या प्रादेशिक अहंवाद न केवल असामयिक ही रहा है अपितु एक हद तक खतरनाक भी हो गया है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और आस्ट्रेलिया के संविधान में, जिनकी रचना कुछ पीढ़ियों पूर्व हुई थी, व्यक्तिगत और राज्य के अधिकारों पर बड़ा बल दिया गया था, किन्तु अब ये संविधान भी न्यायिक व्याख्याओं (Judicial Interpretation) के पिछले दरवाजे से अपनी पूर्वस्थिति की तुलना में काफी आगे बढ़ आये हैं। इन व्याख्याओं से संघीय शक्तियों में वृद्धि हुई है। हमें इस प्रगति का ज्ञान उन संविधानों की औपचारिक शब्दावली को पढ़ कर नहीं हो सकता। आरम्भ में, जितनी कृपणता और अनमनशीलता से उक्त संविधानों में संघ को शक्तियाँ दी गई थीं, उससे राज्यों और संघ के बीच संघर्ष हुए। मामले-मुकदमे चले। लेकिन सब का परिणाम एक ही हुआ और वह था केन्द्र के अधिकारों में वृद्धि। केन्द्रीय शासन की शक्ति में यह वृद्धि चौतरफा हुई। औद्योगिकता और महायुद्धों के आज के युग में यह असम्भव है कि संघीय केन्द्र अन्ततोगत्वा शक्तिशाली न हो जाय प्रारम्भ में उसे चाहे जितने कम अधिकार क्यों न दिये गये हों।

ऐसी स्थिति होने की वजह से भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संघ शासन को स्पष्ट रूप से आरंभ से ही सभी आवश्यक शक्तियाँ देकर अपनी बुद्धिमत्ता का ही प्रदर्शन किया और नये-से-नये अनुभवों का लाभ उठाया। इसके साथ ही यदि हम देश में फैली विघटनकारी प्रवृत्तियों पर दृष्टि डालें, और अतीत के अनैक्यतापूर्ण इतिहास पर दृष्टि डालें तो जो कुछ किया गया है उसका औचित्य स्वयमेव सिद्ध हो जायगा।

व्यक्ति के मूल अधिकारों की मर्यादाएं निर्धारित की गई हैं, उन मर्यादाओं को सर्वत्र स्वीकार किया जाता है और जहाँ-जहाँ भी उक्त अधिकार दिये गये हैं, वहाँ-वहाँ उन अधिकारों के साथ उक्त मर्यादाएँ अनिवार्यतः निश्चित कर दी गई हैं। उन मर्यादाओं या प्रतिबंधों की आलोचना करना तो सरल है लेकिन यह बतलाना बड़ा कठिन है कि उनके अभाव में देशवासियों के विभिन्न वर्गों के हितों का समन्वय किस प्रकार

किया जाता या उन अधिकारों को बिना राज्य की सुरक्षा या प्रगति को खतरे में डाल किस प्रकार क्रियान्वित किया जा सकता है ।

हमारे संविधान में वैयक्तिक स्वतंत्रता के तत्व, संसदीय और उत्तरदायी शासन, वयस्क मताधिकार, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जन्म, जाति और वर्ण के आधार पर भेद-भाव करने का निषेध, वास्तविक संघीय शासन की स्थापना तथा न्यायपालिका को दी गई उच्च, स्वतंत्र और सम्मानास्पद स्थिति आदि वर्तमान हैं। जहाँ तक कागज पर व्यवस्था करने का प्रश्न है, ये अनुच्छेद वैयक्ति स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए पर्याप्त हैं। यदि इन सब बातों के होते हुए इच्छित बातें पूरी नहीं होती तो डा० अम्बेदकर के शब्दों में इसका कारण यह न होगा कि "हमारे संविधान में कोई खराबी थी बल्कि हमें कहना पड़ेगा कि मनुष्य में ही खराबी है।" इसलिए हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि शाश्वत जागरूकता ही वैयक्तिक स्वातंत्र्य का मूल्य है और यह मूल्य उसे प्राप्त करने के लिए अवश्य चुकाया जाना चाहिए।



अध्याय ३

नागरिकता, मूल अधिकार और राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त

अ. नागरिकता

नागरिकता की परिभाषा मे कठिनाई—नागरिकता की परिभाषा करना सदैव बड़ा कठिन कार्य होता है। भारतीय संविधान के निर्माताओं के लिए ऐसा करना और भी कठिन सिद्ध हुआ क्योकि देश के विभाजन के कारण भारत और पाकिस्तान के बीच लोगो का भागना और लौटना चल रहा था। नागरिकता की विवेचना करने वाले अध्याय मे सविधान निर्माताओं को कुछ विचित्र-सी परिस्थितियो के लिए व्यवस्था करनी थी। सबसे पहला मामला तो उन शरणार्थियो का था जो विभाजन होने तक पाकिस्तान के निवासी थे लेकिन विभाजनोत्तर काल मे हुए उपद्रवो के कारण उन्हे भाग कर भारत आ जाना पड़ा था और यह निश्चय कर लेना पड़ा था कि अब उन्हे भारत मे ही स्थायी रूप से रहना है। दूसरी समस्या उन लोगो की थी जो पाकिस्तान से पहले ही भाग आना चाहते थे किन्तु नागरिकता सम्बन्धी अनुच्छेदो के पारित होने की तिथि तक किसी तरह न आ पाये थे। तीसरी समस्या भारत के उन नागरिको की थी जो परिस्थितियो से विवश होकर पाकिस्तान चले गये थे, किन्तु फिर भारत वापस लौट आये थे। बहुत से भारतीय विदेशो मे प्रवास कर रहे हैं। उनमे से कुछ भारतीय नागरिक ही बने रहना चाहते थे। इसलिए सविधान मे उनकी भी कुछ व्यवस्था की जानी आवश्यक थी। अतएव, प्रारूप समिति (Drafting Committee) को यदि नागरिकता की व्यवस्था का निर्धारण करने मे बड़ी कठिन समस्या का सामना करना पड़ा हो और सविधान परिषद् को इस सम्बन्ध में तीन बार बहस करनी पड़ी हो तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है।

नागरिकता का सीमित और अस्थायी रूप—सविधान ने अपने आपको उस समय तक की नागरिकता के लिए आवश्यक शर्तें बनाने तक सीमित रखा है जब से वह आरभ होता है। भविष्य में नागरिकता का नियमन करने का कार्य संघीय विधान-मण्डल पर छोड़ दिया गया है। संघीय विधानमंडल को नागरिकता के अर्जन (Acquisition) और समाप्ति (Termination) की व्यवस्था करने की और नागरिकता

सम्बन्धी अन्य सब बातों का निर्णय करने की शक्ति दी गई है।[1] सविधान के प्रारंभ होने के समय जो नागरिक हो चुके हैं, वे नागरिक बने रहेंगे लेकिन भविष्य मे संसद नागरिकता सम्बन्धी जो भी विधियाँ (Laws) बनायेगी, वे उन पर लागू होगी। अतः संविधान में नागरिकता की सम्पूर्ण संहिता निर्धारित नही की गई है। और उसमें नागरिकता सम्बन्धी जो सीमित व्यवस्थाएँ की गई हैं, वे अस्थायी हैं।

यह अच्छा ही हुआ कि भारतीय नागरिकता की शर्तों को विस्तृत और स्थायी रूप देने का यत्न नही किया गया। यदि ऐसा किया गया होता तो भविष्य मे विधियाँ बनाने मे बडी कठिनाई होती। नागरिकता कोई ऐसी वस्तु नही है जिसे संविधान मे हमेशा के लिए परिभाषित करके रख दिया जाय। समय के अनुसार उनमे बराबर परिवर्तन और सशोधन करने की आवश्यकता पड़ती रहती है। यह विधि द्वारा ही सरलता-पूर्वक किया जा सकता है। फिर भी यह आवश्यक था कि नागरिकता निश्चित करने वाली कुछ शर्तें प्रारंभ में निश्चित कर दी जाती। अन्यथा सविधान के अन्तर्गत प्रथम निर्वाचन करने मे बड़ी कठिनाई होती।

नागरिकों के पाँच वर्ग—संविधान अपने प्रारम्भ होने के समय पाँच वर्गों के व्यक्तियो को नागरिकता प्रदान करता है।

प्रथम स्थान में तो उन लोगों को नागरिकता दी गई है जो मूलतः भारतीय (अर्थात् जो या जिनके माता-पिता में से कोई एक भारत में ही पैदा हुआ था) है और यहीं के निवासी हैं। इसके साथ ही उन लोगों को भी नागरिकता प्रदान की गई जो संविधान के प्रारम्भ के समय देश मे गत पाँच वर्षों से कम समय से नही रह रहे थे।[2] इस वर्ग मे देश के अधिकाश निवासी आ जाते हैं और वे विदेशी भी आ जाते है जो यहाँ एक निश्चित समय से रह रहे थे।

दूसरे मे वे लोग हैं जो पाकिस्तान से १६ जुलाई १६४८ के पूर्व भारतीय क्षेत्र मे आ गये थे (वह तारीख जिससे प्रव्रजन के लिए भारत-पाकिस्तान के बीच 'परमिट' व्यवस्था द्वारा नागरिकों के आवागमन का नियमन किया गया) और तब से सामान्यतः बराबर इसी देश मे रह रहे थे, उनको भी नागरिकता प्रदान कर दी गई है। लेकिन इसमे यह शर्त है कि ऐसे व्यक्ति या उनके माता, पिता या दादा-दादी मे से कोई अवि-भाजित भारत में (गवर्नमेन्ट आफ़ इण्डिया ऐक्ट १६३५ की परिभाषानुसार) उत्पन्न हुए हों।[3] इस वर्ग मे वे हिन्दू और सिख शरणार्थी हैं जो विभाजन के बाद प्रव्रजन की पहली ही लहर के साथ भारत चले आये थे। इन लोगों को बिना किसी जाँच या पंजीकरण (Registration) के ही नागरिक स्वीकार कर लिया गया है।

---

[1] अनु ११, [2] अनु ५, [3] अनु० ६ (क) और (ख)

तीसरे, जो व्यक्ति १९ जुलाई १९४८ के बाद पकिस्तान से भारत आये और जिन्होंने भारत में कम से कम ६ मास रहने के बाद उचित अधिकारी के समक्ष नागरिक बनने के लिए प्रार्थनापत्र देकर संविधान लागू होने के पूर्व अपना नाम पंजीकृत (Registered) कर लिया, उन्हें भी नागरिकता का अधिकार मिल गया।[1] इस व्यवस्था का फल यह हुआ कि केवल वही लोग उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत नागरिकता के अधिकार का दावा कर सकते थे जिन्होंने गत २५ जुलाई १९४९ से भारत में रहना शुरू कर दिया था। लेकिन इन लोगों को प्रार्थनापत्र देने पर भी पंजीकरण करने वाला दण्डनायक (Megistrate) उनकी नीयत पर किसी प्रकार का सन्देह हो जाने पर नागरिकता देना अस्वीकार कर सकता है।

चौथे, जो व्यक्ति पहली मार्च १९४७ के बाद भारत से पाकिस्तान चले गये हैं, सामान्यतः उनको भारतीय नागरिकता के अधिकार से वंचित कर दिया गया है।[2] लेकिन इनमें से भी उन लोगों को जो लोग स्थायी निवास के लिए परमिट लेकर पाकिस्तान से भारत चले आये हैं, प्रार्थनापत्र देकर पंजीकरण करा लेने पर नागरिकता मिल सकती है; किन्तु उन पर वे शर्तें लागू होंगी जो १९ जुलाई १९४८ के बाद भारत आने वाले लोगों के लिए निर्धारित की गई हैं।[3] यह व्यवस्था उन मुसलमान परिवारों के लिए की गई है जो विभाजनोत्तर काल के उपद्रवों से डर कर विवशता की परिस्थितियों में पाकिस्तान चले गये थे किन्तु जिनका भारत छोड़ने का इरादा कभी भी नहीं था और जिनको भारत सरकार ने इसी कारण इस देश में वापस आने की अनुमति दे दी थी। इनमें राष्ट्रवादी मुसलमान तथा उन मुसलमान सरकारी कर्मचारियों के परिवार भी थे जिनको उन अधिकारियों ने सुरक्षा की दृष्टि से पाकिस्तान भेज दिया था। जैसा कि प्रधानमंत्री ने बतलाया था, इस वर्ग में अत्यल्प व्यक्ति थे और उनकी संख्या दो या तीन हजार से अधिक नहीं थी।[4]

अंतिम और पाँचवें, वे प्रवासी व्यक्ति भी भारतीय नागरिक हो सकते हैं, जो विदेशों में रह रहे हैं और मूलतः भारतीय हैं। उन्हें जहाँ वे रह रहे हैं उस देश स्थित भारतीय दूतावास में प्रार्थनापत्र देना होगा और नियमानुसार अपने नाम को पंजीकृत करना होगा। वे ऐसा संविधान लागू होने के पूर्व भी दे सकते हैं और बाद में भी।[5] जो व्यक्ति मूलतः भारतीय होते हुए भी विदेशी नागरिकता को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेता है, वह उक्त व्यवस्थाओं में से किसी भी व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय नागरिक नहीं हो सकता।[6]

---

[1]अनु० ६ (२), [2]अनु० ७, [3]अनु० ७, [4]गत १२ अगस्त सन् १९४९ को भारतीय संविधान में दी गई, पण्डित नेहरू की वक्तृता। [5]अनु० ८, [6]अनु० ६

जैसा कि ऊपर कहा गया है, संविधान में दी गई ये व्यवस्थाएँ केवल अन्तर-कालीन हैं और केवल कुछ समय काम चलाने के लिए हैं। अनुच्छेद ११ के अन्तर्गत भारतीय संसद को नागरिकता सम्बन्धी इच्छित विधियाँ बनाने का असीमित अधिकार दिया गया है। इसका आशय यह है कि संसद चाहे तो अपने अधिनियमों से संविधान की नागरिकता सम्बन्धी व्यवस्थाओं को रद्द (Abrogate) कर दे, अथवा उनमे सशोधन या विस्तार कर दे। इस प्रकार संविधान की नागरिकता सम्बन्धी व्यवस्थाएँ सबसे नमनशील हैं।

भारतीय नागरिकता के आधार—सामान्यतः नागरिकता मिलने के दो आधारभूत सिद्धान्त माने जाते हैं। इनमे से पहला 'रक्त का अधिकार' (Jus Sanguinis or the right of blood) है। नागरिकता के प्रसग मे इसका अर्थ होता है कि किसी व्यक्ति की नागरिकता उसके माता-पिता द्वारा स्थिर होती है। जन्मस्थान या निवास स्थान का कोई ख्याल नही किया जाता। लैटिन देशो मे, अर्थात् फ्रांस तथा इटली आदि मे नागरिकता का यही सिद्धान्त मान्यताप्राप्त है। फ्रेंच या इटालियन माता-पिताओ के सारे बच्चे फ्रेंच या इटालियन होंगे, चाहे उनका जन्म कही भी हुआ हो और चाहे वे कही भी रहते हो। दूसरा सिद्धान्त है 'भूमि या क्षेत्र का अधिकार' (Jus Soli or the right of soil or territory), इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति की नागरिकता उसके जन्म-स्थान से निर्धारित होती है। वह उसी देश का नागरिक माना जाता है जिसमे उसका जन्म हुआ होता है। कुछ देश, जैसे ब्रिटेन तथा अमेरिका आदि नागरिकता को निर्धारित करने के लिए दोनो सिद्धान्तो का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार ब्रिटेन में जो बच्चे अंग्रेज माता-पिताओं के होते हैं उन्हे भी ब्रिटिश नागरिक समझा जाता है और जो विदेशियों के बच्चे ब्रिटिश भूमि मे पैदा होते हे उन्हे भी ब्रिटिश नागरिक समझा जाता है।

भारतीय संविधान में निर्धारित नागरिकता के विधान के अनुसार वे सब लोग भारतीय नागरिक हैं जो इस देश के स्थायी निवासी हैं। वे भी भारतीय नागरिक माने जायँगे जो स्वयं या जिसके माता-पिता भारत भूमि में पैदा हुए हैं। वे भी नागरिकता के अधिकारी हैं जो संविधान के प्रारम्भ के समय सामान्यत: गत पाँच वर्षों से भारत मे रह रहे थे। इस मामले मे भारतीय संविधान ने मुख्यतः 'भूमि या क्षेत्र के अधिकार' के दृष्टि-कोण से नागरिकता के प्रश्न को देखा है। भारतीय क्षेत्र में जन्म द्वारा नागरिकता का निर्णय किया गया है, माता-पिता की राष्ट्रीयता द्वारा नही। यही सिद्धान्त उन लोगो पर भी लागू किया गया है जो पाकिस्तान से प्रव्रजन कर भारत आये हैं। प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध मे भी यही सिद्धान्त लागू किया गया है। लेकिन इसमे नागरिकता का दावा करने वाले व्यक्ति का स्वयं भारतीय क्षेत्र में उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है और केवल उसी आधार पर उसे नागरिकता नही मिलती अपितु माता-पिता या बाबा दादी मे से

किसी एक के भारतीय होने के कारण भी नागरिकता मिल जाती है, इसलिए 'रक्त के अधिकार' को भी सीमित मान्यता प्राप्त हो गई है।

नागरिकता सम्बन्धी व्यवस्थाओं की आलोचना—नागरिकता सम्बन्धी उक्त व्यवस्थाओं की संविधान परिषद् में अत्यन्त कठोर आलोचना की गई। डा० पंजाबराव देशमुख ने कहा भारतीय नागरिकता को सबसे अधिक सस्ता बना दिया है। कोई भी व्यक्ति यदि वह अपने माता-पिता के भारत घूमने के दौरान में भारत में पैदा हो गया तो वह नागरिक हो जायगा और यही नही बल्कि उसके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र भी नागरिक हो सकेंगे। जो विदेशी सविधान के प्रारम्भ के समय भारत में पाँच वर्ष रह चुका हो वह भी नागरिकता का अधिकारी हो गया, यद्यपि बहुत से ऐसे देश हैं जिनमे भारतीयों को ही १५-१५ और २०-२० वर्ष रह लेने के बाद भी उस देश की नागरिकता नहीं प्राप्त होती।

प्रोफेसर के० टी० शाह ने यह आशका प्रकट की कि विदेशियो को पाँच वर्ष भारत मे रहने के बाद नागरिकता मिल जाने की व्यवस्था के कारण बहुत से विदेशी पूँजीपतियो को भी भारतीय नागरिकता मिल जायगी। वे इस नागरिकता का उपयोग अपने उद्योगों के हितो में करेंगे जिसका फल यह होगा कि इस देश का विदेशियों द्वारा शोषण जारी रहेगा। वे चाहते थे कि उन विदेशियो को भारत मे नागरिकता के अधिकार न दिये जायँ जिनके देश मे भारतीयो को नागरिकता के अधिकारो से वंचित रखा जाता है। कुछ लोगो का यह मत था कि चूँकि हिन्दुओ और सिखो का भारत के अतिरिक्त अन्य अपना कोई देश नही है, इसलिए उन लोगो के लिए नागरिकता प्राप्त करने के लिए अपने आप को पजीकृत कराने की शर्त न रक्खी जाय। डा० अम्बेदकर ने इन आलोचनाओ का उत्तर देते हुए कहा कि इन आलोचनाओ का कारण या तो भारतीय सविधान मे दी गयी नागरिकता की व्यवस्थाओ के सम्बन्ध मे गलतफहमी है या आलोचक का उन नियमों सम्बन्धी अज्ञान है जिनके अन्तर्गत विदेशों मे नागरिकता प्रदान की जाती है। उनका मत था कि भारतीय नागरिकता किसी भी प्रकार सस्ती नही है और फिर जहाँ आवश्यक हो ससद को अधिकार है कि वह परिस्थितियो की आवश्यकता के अनुसार नागरिकता सम्बन्धी विधियो का नियमन कर ले। नागरिकता सम्बन्धी व्यवस्थाओ मे सबसे अधिक विवाद पाकिस्तान से पुनः वापस आने वाले व्यक्तियो को दिये जाने वाले नागरिक अधिकारो के सम्बन्ध मे हुआ। यह कहा गया कि "जो लोग यहाँ से गाते बजाते और आँखें खोल कर" पाकिस्तान के नागरिक बनने गये थे उनको भारत मे हरगिज वापस नही आने देना चाहिए और न उन लोगो को पुनः नागरिकता दी जानी चाहिए। लेकिन यह आलोचना भी गलतफहमी की वजह से की गई। आलोचकों ने यह नहीं समझा था कि उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत किन लोगों को नागरिकता प्रदान की जायगी। इसीलिए जब प्रधान

मन्त्री ने बतलाया कि यह अनुच्छेद केवल उन लोगों के लाभ के लिए रखा गया है जो गाते-बजाते नहीं बल्कि विवश होकर आँखों मे आँसू भरे इस देश से गये थे और जिन लोगों को भारत सरकार ने काफी जाँच-पड़ताल करने के बाद हर व्यक्ति के मामले को समझ कर भारत आने की अनुमति स्थायी परमिटो के आधार पर दी है तो विरोध समाप्त हो गया।[1]

भारतीय नागरिकता अधिनियम, १६५५—संविधान द्वारा दिये हुए अधिकार के अनुसार संसद् ने १६५५ में एक सर्वांगपूर्ण नागरिकता अधिनियम पारित किया। इसमें भारतीय नागरिकता की प्राप्ति, हानि, परित्याग और अपहरण-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ दी हुई हैं।

भारतीय नागरिकता की प्राप्ति ५ प्रकार से हो सकती है। प्रथम स्थान मे इसकी प्राप्ति जन्म द्वारा हो सकती है (२६ जनवरी १६५० या उसके उपरान्त जो भी भारतीय भूमि पर उत्पन्न हुए हैं या हों, वे सभी जन्म द्वारा भारतीय नागरिक हैं। दूसरे, वंशानुक्रम से नागरिकता की व्यवस्था है। इसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति २६ जनवरी १६५० या उसके बाद भारत से बाहर भी उत्पन्न हुआ हो पर उसके जन्म के समय उसका पिता भारतीय नागरिक रहा हो, तो वह व्यक्ति भारतीय नागरिक ही होगा। नागरिकता प्राप्ति की तीसरी विधि पंजीयन (registration) है। यह व्यक्तियों के कई वर्गों पर लागू होती है जैसे भारतीय नागरिकों से विवाहित स्त्रियाँ, उनके अवयस्क बच्चे, भारतीयों के वंशज जो विदेशों में बस गये हो, इत्यादि। चौथे, भारतीय नागरिकता देशीकरण (naturalization) द्वारा प्राप्त हो सकती है। कोई भी विदेशी व्यक्ति जो वयस्क हो चुका है, एक निर्दिष्ट रीति से भारत-सरकार से देशीकरण के प्रमाणपत्र पाने के लिए प्रार्थना कर सकता है। कुछ निर्दिष्ट शर्तों को पूरी करने तथा राज-भक्ति की शपथ लेने पर, यदि भारत सरकार आवेदन पत्र में दिये हुए तथ्यों की सत्यता के विषय मे सन्तुष्ट हो तो देशीकरण का प्रमाण-पत्र दे सकती है। पाँचवे तथा अन्तिम स्थान, यदि कोई नया भू-भाग भारतीय भू-क्षेत्र (territory) में सम्मिलित किया जाय तो भारत सरकार विज्ञप्ति (notification) द्वारा निर्देश दे सकती है कि अमुक-अमुक वर्गों के लोग उस भू-भाग से सम्बद्ध होने के कारण अमुक तिथि से भारतीय नागरिक होंगे।

भारतीय नागरिकता की समाप्ति (cessation) तीन प्रकार से होती है। प्रथम, यदि कोई भारतीय नागरिक विदेशी नागरिकता प्राप्त कर ले और निर्दिष्ट रीति से भारतीय नागरिकता के त्याग की घोषणा करे तो उसकी भारतीय नागरिकता समाप्त हो जाती है। दूसरे, यदि किसी भारतीय नागरिक ने २६ जनवरी, १६५० और नागरिकता अधि-

[1] संविधान परिषद् की ११ और १२ अगस्त, १६४६ की कार्रवाइयों का प्रतिवेदन।

नियम के प्रारम्भ होने की तिथि के बीच स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता स्वीकार कर ली है, तो उसकी भारतीय नागरिकता समाप्त हो जायगी। तीसरे, भारत सरकार कुछ विशेष दशाओं में निर्दिष्ट रीति से दिये हुए आदेश द्वारा पंजीकृत और देशीकृत नागरिकों की नागरिकता का अपहरण कर सकती है।

आ. नागरिकों के मूल अधिकार

मूल अधिकारों (Fundamental Rights) के उल्लेख की आवश्यकता—संविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख (Statement of Fundamental Rights) की उपयोगिता विवादास्पद विषय है। ब्रिटिश संविधान में तो इसकी कोई चर्चा ही नहीं है। इसी प्रकार कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, फ्रांस (तृतीय गणतन्त्र) और स्विट्जरलैंड के संविधानों में भी इसका उल्लेख नहीं है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ही आधुनिक राष्ट्रों में ऐसा पहला देश है जिसमें इसका उल्लेख है। गत ४०-५० वर्षों से, नये संविधानों में मूल अधिकारों के वर्णन का रिवाज-सा चल पड़ा है। अमेरिका के अतिरिक्त इस प्रकार का उल्लेख हमें सन् १९१९ के वाइमर (जर्मनी) संविधान में भी मिलता है। इसके बाद प्रथम महायुद्ध के उपरान्त बने नये राज्यों के संविधानों में भी मूल अधिकारों सम्बन्धी चर्चा है। सन् १९२२ और सन् १९३६ के आयरिश संविधानों, सन् १९३६ के रूस के संविधान और अभी हाल ही में बने (१९४८) जापान के संविधान में भी मूल अधिकारों का उल्लेख है। मूल अधिकारों के संविधान में न रखे जाने की पुरानी परिपाटी के समर्थकों का कहना है कि किसी निश्चित समय नागरिकों को मूल अधिकारों का उपलब्ध होना तत्कालीन विधियों की वास्तविक दशा पर निर्भर करता है। इन विधियों की रचना विभिन्न राजनीतिक स्थितियों की आवश्यकताओं पर निर्भर होती है। आवश्यक विधियों की रचना में अड़चन पड़े, इस दृष्टि से इन मूल अधिकारों को सीमित करना पड़ता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे अधिकार चले गये। इसलिए सबसे अच्छा रास्ता यह है कि मूल अधिकारों सम्बन्धी कोई भी उल्लेख करके नागरिकों के चित्त में ऐसी कोई आशाएँ ही न उत्पन्न की जायँ जिनका पूरा करना सम्भव न हो। नागरिक अधिकारों की रक्षा का भार उन्हीं साधनों पर छोड़ दिया जाय जो देश की सामान्य विधियों के अन्तर्गत उपलब्ध हों।

इसके विपरीत मूल अधिकारों के वर्णन के समर्थकों का कहना है कि संविधान में उक्त वर्णन के आ जाने से इन अधिकारों को कुछ ऐसी उन्नततर और पवित्र स्थिति प्राप्त हो जाती है कि विधानमण्डल के सदस्यों को उनकी मर्यादा उल्लंघन करने का साधारणतः साहस नहीं होता। मौलिक अधिकारों का संविधान में उल्लेख इस बात का स्थायी स्मरण दिलाता रहता है कि कुछ ऐसी चीजें हैं जिनका बराबर सम्मान करते रहने की आवश्य-

कता है और जिनका कभी भी उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार मूल अधिकारो का उल्लेख नागरिकों की स्वतन्त्रता के हित में, राज्य के कार्य-क्षेत्र को आवश्यक तथा उचित दिशाओं में सीमित कर देता है। यदि मूलाधिकारो के वर्णन को सावधानी से तैयार किया जाय तो इससे सरकार की कार्यक्षमता पर लगने वाली बहुत-सी असुविधाएँ दूर की जा सकती हैं और इसके साथ ही सामान्य काल में जनता को भी एक निश्चित मात्रा मे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का आश्वासन दिया जा सकता है। भारत ऐसे देश के लिए जो पहली बार प्रजातन्त्र का प्रयोग करने जा रहा हो मूलाधिकारो का उल्लेख व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की आधार-शिला के समान है।

बात कुछ भी क्यो न हो, कम से कम भारत मे तो काफी पहले से मूल अधिकारों की चर्चा थी और कांग्रेस के करांची अधिवेशन मे तो मूल अधिकारो सम्बन्धी एक विस्तृत प्रस्ताव भी पारित किया गया था। अतः हमारे सविधान-निर्माता सविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख को छोड़ ही नही सकते थे, यद्यपि इसके सम्बन्ध मे उन्हे काफी परेशानी उठानी पड़ी।

सविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार—स्थूल रूप से सविधान नागरिको को ६ मूल अधिकारो की रक्षा का आश्वासन देता है। वे अधिकार हैं, समता, स्वतन्त्रता, शोषण से मुक्ति, धर्म की स्वतन्त्रता, संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार तथा सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार। इनमे से प्रत्येक अधिकार का विस्तार तथा उनकी मर्यादाएँ नीचे बतलायी जा रही हैं।

१. समता का अधिकार (Right of Equality)—इस अधिकार का पहला अर्थ तो यह है कि विधि के समक्ष समस्त नागरिक समान हैं अर्थात् विधियों का संरक्षण सबको समान रूप से मिलेगा। दूसरे, जाति, धर्म, वर्ण, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर किसी को सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में आने से, सार्वजनिक कुओं, तालाबों आदि मे से पानी भरने से, सार्वजनिक मार्गों पर चलने से, या राज्य के अन्तर्गत कोई सरकारी नौकरी पाने देने से रोका नही जा सकता। अस्पृश्यता सर्वथा निषिद्ध है। अस्पृश्यता के आधार पर किया गया कोई भी भेदभाव सार्वजनिक अपराध है। तीसरे, राज्य द्वारा उपाधियों का वितरण (सैनिक और शैक्षणिक उपाधियों के अतिरिक्त) नही किया जायगा और कोई भी भारतीय नागरिक किसी भी विदेशी राज्य से भी कोई उपाधि स्वीकार नही कर सकता। यहां तक कि सरकार में नौकरी करने वाले अभारतीय भी बिना राष्ट्रपति की अनुमति के किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नही कर सकते।[1]

लेकिन समता के अधिकार के कारण संसद के इस अधिकार में कोई बाधा नही

[1] अनु० १४, १५, १६ (१) (२), १७ और १८;

पड़ती कि वह किन्ही विशिष्ट राज्यो या स्थानीय क्षेत्रों में कुछ नौकरियों के लिए निवास सम्बन्धी योग्यता लगा दें या कुछ नौकरियाँ पिछड़े हुए वर्गों के लिए सुरक्षित कर दें। सार्वजनिक स्थानों मे प्रवेश की समता से सरकार का यह अधिकार नहीं छिनता कि वह किसी स्थान को महिलाओं और बच्चो के बैठने के लिए अलग सुरक्षित कर दें। धार्मिक तथा सम्प्रदाय विशेष की संस्थाओं को प्रबन्ध सम्बन्धी पदो पर उस धर्म या सम्प्रदाय विशेष के ही व्यक्ति रखे जाने में कोई वैधानिक अनौचित्य नही माना जायगा।[1]

सन् १९५१ के संविधान सशोधन अधिनियम के अनुसार समता के अधिकारों के कारण राज्य की इस शक्ति में भी कोई बाधा न पड़ेगी कि वह पिछड़ी जातियों के नागरिकों या परिगणित जातियों अथवा आदिवासियों के लिए, जो सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, विशेष व्यवस्थाएँ कर दे। इस संशोधन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि मद्रास के उच्च न्यायालय (High Court) ने मद्रास सरकार के एक आदेश को जिसके अनुसार कुछ औद्योगिक शिक्षण संस्थाओ मे कुछ जाति और सम्प्रदाय के विशेष लोगों के लिए कुछ स्थान विशेष रूप से सुरक्षित कर दिये गये थे अवैध ठहरा दिया था।[2]

२. स्वतंत्रता का अधिकार—स्वातन्त्र्य अधिकार में वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का, शान्तिपूर्वक निरायुध सम्मेलन का, संस्था या सघ बनाने का, भारत के सभी भागो में सर्वथा अबाध आने-जाने का, भारत राज्य के किसी भाग या क्षेत्र में निवास करने या बस जाने का, सम्पत्ति के कमाने, धारण और व्ययन करने का, कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का तथा वैयक्तिक स्वातंत्र्य का अधिकार सम्मिलित है। इस सूची मे समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का कहीं उल्लेख नही है किंतु अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मे वह निहित है। शस्त्रास्त्र रखने की भी स्वतंत्रता नहीं दी गई है क्योंकि वर्तमान स्थिति मे यह उचित नही समझा गया कि इस प्रकार की स्वतंत्रता दी जाय।

ऊपर जो अधिकार बतलाये गये हैं उनमे बहुतों पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध हैं। वाक् स्वातन्त्र्य का अर्थ नही है कि कोई अपमानजनक लेख लिखे या किसी अन्य व्यक्ति के लिए अपमानपूर्ण वचनो का प्रयोग करे, अथवा किसी की मानहानि या न्यायालय का अपमान करे। अपराध करने के लिए लोगो को भड़काना भी वाक् स्वातंत्र्य द्वारा रक्षित नहीं है। सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टता, नैतिकता या राज्य को सुरक्षा अथवा विदेश विदेश राष्ट्रों की मित्रता मे बाधा डालने वालो सी कोई बात कहने का अधिकार वाक् स्वातन्त्र्य

[1] अनु० १५ (३) और १६ (३), (४) और ५।

[2] अनु० १५ (४) इसके साथ ही इस सम्बन्ध में सन् १९५१ के संवैधानिक संशोधन से भी इस व्यवस्था का विस्तार किया गया है।

में सम्मिलित नहीं है। संस्था या संघ बनाने के अधिकार पर भी सार्वजनिक व्यवस्था के हित की दृष्टि से राज्य समुचित प्रतिबन्ध लगा सकता है। अनुसूचित आदिवासियों और जनता के कल्याण की दृष्टि से सरकार देश के किसी भी भाग में सार्वजनिक आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने की स्वतंत्रता पर भी यह प्रतिबंध लगाया गया है कि राज्य को स्वयं या किसी निगम (Corporation) के द्वारा किसी भी व्यापार; उद्योग या सेवा का स्वामित्व ग्रहण करने या उसका संचालन करने का अधिकार है। ऐसे उद्योग आदि से सरकार नागरिको को उसमे पूर्णतः या अंशतः अलग रख सकती है। वह आवश्यकतानुसार व्यावसायिक योग्यताओं की प्राप्ति को अनिवार्य भी कर सकती है,[1] जैसे डाक्टरी करने के लिए डाक्टरी योग्यता। उद्योग व व्यवसाय की स्वतन्त्रता का नियन्त्रण करने की राज्य की शक्ति का सन् १९५१ के संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा विस्तार किया गया है, इससे उद्योगो के व्यवसायो का आवश्यक मात्रा में राष्ट्रीयकरण का मार्ग सरकार के लिए साफ हो गया है। यदि सरकार ऐसी नीति अपनाती है तो उस पर यह आरोप नही लगाया जा सकता कि वह नागरिकों को व्यापार या व्यावसायिक स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप कर रही है। ये प्रतिबन्ध स्वतंत्रता के अधिकारों का दुरुपयोग बचाने के लिए सार्वभौमिक रूप से आवश्यक समझे जाते हैं।

कोई वैयक्तिक स्वतन्त्रता उतनी मूल्यवान नही होती जितनी मनमानी गिरफ्तारी, नजरबंदी और सजा की सम्भावना से निश्चिन्तता। प्रत्येक व्यक्ति के मामले पर न्यायोचित ढंग से विचार हो सके इसके लिए संविधान मे यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी व्यक्ति को अपराध करने पर उन्ही विधियो के अनुसार दण्ड दिया जायगा जो अपराध के समय लागू हो रही होंगी। बाद में बनी विधियो के अनुसार उस व्यक्ति को दण्ड नहीं दिया जा सकता। किसी भी व्यक्ति को एक अपराध के लिए एक ही बार दण्ड दिया जा सकता है। उसे अपने ही विरुद्ध साक्षी देने के लिए विवश नहीं किया जा सकता।[2] यह भी व्यवस्था की गई है कि किसी भी व्यक्ति को उनके जीवन या वैयक्तिक स्वतन्त्रता से 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure established by Law) से ही वञ्चित किया जा सकता है, अन्य किसी प्रकार नही।

'विधि की उचित प्रक्रिया' बनाम 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Due Process of Law vs Procedure Established by Law)—इस प्रसंग में ब्रिटिश तथा अमेरिकन संविधानो में 'विधि की उचित प्रक्रिया' शब्दावली का प्रयोग किया गया है। भारतीय संविधान मे भी यही शब्दावली रहे, इस पर संविधान परिषद् में काफी बहस हुई। अन्त मे यह निश्चय किया गया कि इसके स्थान मे 'विधि द्वारा

१ अनु० १९ सन् १९५१ के संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधित, २ अनु० २०

स्थापित प्रक्रिया' शब्दावली का प्रयोग किया जाय। उक्त दोनों शब्दावलियों में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध मे पर्याप्त अन्तर है। ऐंग्लो-सेक्सन न्याय व्यवस्था मे विधि की उचित प्रक्रिया का एक निश्चित अर्थ हो गया है। इस अर्थ के अनुसार बिना वारण्ट के तलाशी नही हो सकती। न्यायालय मे पहुँचने का अधिकार सबको रहता है, प्रत्येक के मामले पर खुले न्यायालय मे विचार किया जाता है, तथा इसी प्रकार से अन्य साधनों द्वारा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा का भाव उक्त शब्दावली मे निहित रहता है। अतः यदि इन बातो मे से किसी का भी उल्लघन करते हुए कोई विधानमण्डल विधि बनाता है, तो वह विधि न्यायालय असवैधानिक घोषित कर देंगे। 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्दावली विधि-औचित्य के इन बन्धनो से मुक्त है और उसके अन्तर्गत विधानमण्डल वैयक्तिक स्वतन्त्रता की वे शर्तें या सीमाएँ निर्धारित कर सकता है, जिन्हे वह उचित समझता है। अमेरिका मे 'विधि की उचित प्रक्रिया' का कभी-कभी यह परिणाम हुआ है कि विधान मण्डल पारित श्रम सम्बन्धी तथा अन्य सामाजिक विधियाँ न्यायालयो द्वारा असवैधानिक घोषित कर दी गई हैं। हमारे सविधान निर्माता यह नही चाहते थे कि न्यायपालिका इस तरह विधानमण्डल की इच्छाओ की उपेक्षा करें। इसलिए उन्होंने 'विधि की उचित प्रक्रिया' के स्थान में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का प्रयोग किया। 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्दावली जापानी संविधान से ग्रहण की गई है। उसके फलस्वरूप परिस्थितियों के अनुसार वैयक्तिक स्वतन्त्रता के नियन्त्रण का अधिकार न्यायपालिका के हाथ मे नही अपितु विधान मण्डल के हाथ मे आ जाता है।

मनमानी गिरफ्तारी और नजरबन्दी के विरुद्ध व्यवस्थाएँ—संविधान के अनुसार किसी भी व्यक्ति को उस समय तक गिरफ्तार नही किया जा सकता है और गिरफ्तार किये जाने के बाद हिरासत में नही रखा जा सकता जब तक उसे शीघ्रातिशीघ्र गिरफ्तारी के कारण न बतला दिये जायँ। इसके साथ ही गिरफ्तार व्यक्ति को अपने मन के वकील से अपनी पैरवी की व्यवस्था कराने का भी अधिकार है। जो व्यक्ति पकड़ा जाता है उसे गिरफ्तारी के बाद चौबीस घण्टो के भीतर (यात्रा के समय के अतिरिक्त) मजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित किया जाना चाहिए और बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा के इतने समय से अधिक हिरासत मे नही रखा जाना चाहिए।[1]

निवारक निरोध—सविधान मे ऐसी भी व्यवस्था दी गयी है जिसके अनुसार सरकार कुछ लोगो को, विशेषकर शत्रु राष्ट्र के विदेशियो और कभी-कभी अपने नागरिको को भी नजरबन्द कर सकती है। मनमानी गिरफ्तारी और नजरबन्दी के विरुद्ध जो बाते ऊपर वाले अनुच्छेद (Paragraph) मे दी गई हैं, वे इन बन्दियो पर लागू

[1] अनु० २२ (१) और (२)

नहीं होतीं, [1] परन्तु कुछ अन्य व्यवस्थाएँ दी गयी हैं। किसी भी व्यक्ति को निवारक निरोध में ३ मास से अधिक नहीं रखा जा सकता जब तक (अ) एक परामर्शदाता बोर्ड उस व्यक्ति के सम्बन्ध में भलीभाँति जाँच-पड़ताल करने के बाद उस व्यक्ति को और अधिक नजरबन्द रखे जाने की सिफारिश न करे। इस बोर्ड में वे ही व्यक्ति सदस्य हो सकते हैं जो किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने की योग्यता रखते है। या (आ) फिर नजरबन्द व्यक्ति उस वर्ग के बन्दियों में से हो जिसको संसद ने किसी विधि द्वारा तीन मास से अधिक नजरबन्द रखे जाने की अनुमति दे दी हो। [2]

संसद विधि द्वारा नजरबन्दी का अधिकतम समय निश्चित कर सकती है। उसकी समाप्ति के बाद किसी भी व्यक्ति को उससे आगे नजरबन्दी में नहीं रखा जा सकता है। संसद विधि द्वारा यह भी निश्चित कर सकती है कि नजरबन्दियों के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करते समय परामर्शदाता बोर्ड क्या पद्धति अपनाएगा। [3] नजरबन्दियों को यथाशीघ्र उनकी गिरफ्तारी का कारण भी बतला दिया जाना चाहिए और जितनी जल्दी सम्भव हो उन्हें अपनी नजरबन्दी के आदेश के विरुद्ध प्रार्थना करने की सुविधाएँ भी दी जानी चाहिए। [4]

एक निवारक निरोध अधिनियम संसद ने सन् १९०५ में पारित किया था और सन् १९५१ में उसका संशोधन किया गया था। मूल अधिनियम की अवधि एक वर्ष मात्र थी लेकिन सन् १९५१ के संशोधन अधिनियम में उसे बढ़ा कर दो वर्ष कर दिया गया और हर मामले की जाँच परामर्शदाता बोर्ड द्वारा किया जाना अनिवार्य कर दिया गया। सरकार को यह भी अधिकार दे दिया गया कि यह नजरबन्दियों को पैरोल पर भी रिहा कर सकती है। नजरबन्दी सम्बन्धी आदेशों के पालन और परामर्शदाता बोर्ड द्वारा जाँच की पद्धति भी निर्धारित कर दी गयी। नजरबन्दी अधिनियमों का जीवन एक वर्ष निर्धारित किया गया था पर १९५४ में वह तीन वर्षों के लिये बढ़ा कर दिसम्बर १९५७ तक कर दिया गया। १९५७ और १९६० में निवारक निरोध अधिनियम की अवधि पुनः तीन वर्ष के लिये बढ़ाई गई और वह आज भी (१९६१) लागू है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर लगाये गये प्रतिबन्धों की आलोचना—डा० अम्बेदकर ने संविधान-परिषद् में यह स्वीकार किया था कि संविधान के प्रारूप में वैयक्तिक स्वतंत्रता सम्बन्धी व्यवस्थाओं की जनता द्वारा जितनी कठोर आलोचना की गई उतनी संविधान के अन्य किसी अंश की नहीं की गई। स्वयं संविधान परिषद् में भी इन व्यवस्थाओं की कुछ कम कठोर निन्दा नहीं की गयी। पण्डित ठाकुरदास भार्गव ने

[1] अनु० २२ (३)(क) और (ख), [2] अनु० २२, [3] अनु० २२ (७), [4] अनु० २२ (५)

कहा कि "यह हमारी असफलताओं का राजमुकुट" है। बख्शी टेकचन्द ने कहा कि संविधान का यह भाग "दमन का आज्ञापत्र और वैयक्तिक स्वातंत्र्य का हननकर्त्ता है।" सबसे अधिक आलोचना निवारक निरोध सम्बन्धी अनुच्छेद की हुई। आलोचकों ने कहा कि पुलिस को नजरबन्दियों के विरुद्ध मामला तैयार करने के लिए प्रारम्भ में दिया गया तीन मास का समय बहुत अधिक है और इसे घटा कर एक मास या पन्द्रह दिन कर दिया जाना चाहिए। निवारक निरोध वाले बन्दियों से कठोर श्रम न कराया जायगा या उन्हें तकलीफें न दी जायेंगी इसकी कोई व्यवस्था नहीं की गई है। इन बन्दियों के लिये पारिवारिक भत्ते का भी कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है। परामर्शदाता बोर्ड को, जिसका कार्य तीन मास से लम्बी अवधि वाले मामलों के विषय में अपनी राय देना था, व्यवस्था भी असन्तोषजनक बतलाई गई। यह भी आशंका प्रकट की गई कि उक्त बोर्डों में सरकार ऐसे व्यक्तियों को भर सकती है जो केवल उसी के मनोनुकूल राय दें। कुछ लोगों ने कहा कि कोई न कोई ऐसी अवधि अवश्य निर्धारित हो जानी चाहिए जिसके उपरान्त सरकार किसी व्यक्ति को नजरबन्दी में न रख सके। 'विधि की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) के स्थान पर 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) शब्दावली के प्रयोग की आलोचना करते हुए कहा गया कि इससे गिरफ्तारी और नजरबन्दी के मामले में कार्यपालिका को मनमानी करने का अवसर मिलेगा।

'विधि की उचित प्रक्रिया' की व्यवस्था के बिना गिरफ्तारी और नजरबन्दी, सो भी बिना मामला चलाये, नागरिक की वैयक्तिक स्वतन्त्रता के घातक प्रतीत होते हैं। एक समय ऐसा था जब इस प्रकार की व्यवस्थाएँ किसी भी सभ्य देश के लिए अत्यन्त लज्जाजनक समझी जाती थी और प्रत्येक देश इनसे बचने का प्रयत्न किया करता था। दुर्भाग्यवश आजकल हम एक भिन्न युग में रह रहे हैं। आजकल वैयक्तिक स्वातन्त्र्य को राज्य से उतनी आशंकाएँ नहीं रह गई हैं जितनी गुप्त रूप से कार्य करने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं से जो अपनी इच्छाओं को जनता पर बलात् लादना चाहते हैं। अतः विरोधाभास-सा प्रतीत होते हुए भी, आजकल के युग में उक्त सङ्कट का सामना करने के लिए स्वातन्त्र्यप्रिय राज्यों को भी अपने हाथ में कुछ ऐसी शक्तियाँ ग्रहण करनी पड़ती हैं जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की दृष्टि से अवाञ्छनीय हैं लेकिन वस्तुतः वैयक्तिक स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए आवश्यक होती हैं। आज शायद ही ऐसा कोई देश हो जिसमें निवारक निरोध की विधि की व्यवस्था न हो। भारत में इस प्रकार की शक्ति राज्य को न देना भूल होती। अल्लादि कृष्णस्वामी ऐयर ने 'विधि की उचित प्रक्रिया' (Procedure-Established by Law) शब्दावली के प्रयोग से उत्पन्न कठिनाइयों और असुविधाओं को स्पष्ट करते हुए कहा था, "इस शब्दावली के प्रयोग के बाद राज्य

निरोधात्मक नजरबन्दी, देशनिष्कासन तथा यहाँ तक कि श्रमिकों के काम के घंटों के नियमन सम्बन्धी विधियाँ भी न बना सकेगा। आलोचकों ने (प्रस्तावित शब्दावली में) जो दोष बतलाये हैं उनको दूर करने का कार्य विधान मंडल को सौंप दिया गया है। विधानमंडल परामर्शदाता बोर्डों की स्थापना कर सकेगा, नजरबंदी का अधिकतम काल निर्धारित कर सकेगा और नजरबंदियों के साथ कोई दुर्व्यवहार न हो, इसकी भी व्यवस्था कर सकेगा।"

कुछ भी हो, खतरनाक अस्त्र का खतरा इस बात से घट नहीं जाता कि वह आवश्यक है। आजकल की सरकारें बहुधा इसकी चिन्ता में अधिक पड़ जाती हैं कि वे किस प्रकार सत्तारूढ़ बनी रहें। जहाँ एक ओर राज्य के शत्रुओं को कोई भी स्वतंत्रता नहीं मिलनी चाहिए वहीं यह भी आवश्यक है कि राज्य के शत्रु और सत्तारूढ़ सरकार के विरोधियों का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ लिया जाय। नागरिक का यह देखना कर्तव्य है कि किसी शासन-विशेष के विरोधियों को भी, जो संवैधानिक पद्धतियों में विश्वास करते हैं, वही स्वतंत्रताएँ प्राप्त हों जो शासन के समर्थकों को हैं। लोकमत को बिना मामले चलाये नजरबंद कर लेने की विधियों में किसी भी त्रुटि के न रहने देने के लिए विधान मंडल से आग्रह करना चाहिए। हमें यह कभी भी न भूलना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को व्यवहार में उतनी ही वैयक्तिक स्वतंत्रता मिलती है जिसका वह अधिकारी होता है और जिसे प्राप्त करने के लिए वह निरंतर जागरूक रहता है।

२. शोषण के विरुद्ध अधिकार—इस अधिकार के अन्तर्गत मनुष्यों के क्रय-विक्रय वर्जित हैं। इसी प्रकार किसी से बेगार भी नहीं ली जा सकती। जो व्यक्ति इन कार्यों को करेगा वह अपराधी समझा जायगा और दण्ड का भागी होगा। किसी भी कारखाने, खान या कठिन कार्य में चौदह वर्ष से कम अवस्था के बालकों को काम में न लगाया जा सकेगा। फिर भी सार्वजनिक कल्याण के उद्देश्य से नागरिकों से अनिवार्य सेवा लेने का राज्य का अधिकार सुरक्षित रखा गया है।[1]

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार—इस अधिकार में सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार की आवश्यकताओं के अधीन सब को विश्वास की स्वतंत्रता तथा किसी धर्म को अबाध रूप से मानने, तदनुसार आचरण करने और उसका प्रचार करने का अधिकार सम्मिलित है।[2] जो किसी धर्म का न मानना चाहे, उसे वैसा भी करने तथा अपने धर्म-विरोधी मत का प्रचार करने का भी अधिकार है। प्रत्येक धर्म-समुदाय या सम्प्रदाय धार्मिक तथा दान कार्यों के लिए संस्थाओं की स्थापना कर सकता है और उन्हें चला सकता है। उसे जंगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का तथा ऐसी सम्पत्ति

[1] अनु २३ और २४, [2] अनु० २५

का विधि के अनुसार प्रबन्ध करने का अधिकार भी है।[1] किसी भी व्यक्ति को किसी भी धर्म की उन्नति के लिए कोई कर देने के लिए विवश न किया जायगा।[2] राज्य कोष से संचालित किसी भी शिक्षा संस्था मे धार्मिक शिक्षा न दी जा सकेगी और सरकारी सहायता से चलने वाले तथा सरकारी मान्यताप्राप्त विद्यालयो में भी धार्मिक शिक्षा को अनिवार्य न किया जा सकेगा।[3] धार्मिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी ये अनुच्छेद राज्य को धर्म-निरपेक्ष अथवा लौकिक रूप प्रदान करते हैं।

लेकिन राज्य की धार्मिक निरपेक्षता या तटस्थता उसे ऐसी किसी भी आर्थिक, वित्तीय या राजनीतिक गतिविधि का नियमन करने से न रोक सकेगी, जिसका सम्बन्ध किसी लौकिक कार्य या समाज-सुधार से होगा। राज्य सार्वजनिक हिन्दू धर्म-संस्थाओं को सभी हिन्दुओं के लिए (इस व्यवस्था के लिए हिन्दुओं मे सिक्ख, जैन और बौद्ध भी सम्मिलित कर लिए गये हैं) खोल सकेगा। सिक्खो को कृपाण धारण करने और उसे लेकर चलने का अधिकार दिया गया है।[4] यह सिक्ख धर्म का आवश्यक अंग समझा गया, है और इसीलिए इसकी विशेष रूप से व्यवस्था की गई है।[5]

५. सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार—इन अधिकारो मे नागरिकों के किसी भी वर्ग को अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति बनाये रखने का अधिकार सम्मिलित है। राज्य द्वारा मान्यता-प्राप्त अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, वंश, जाति, भाषा आदि के आधार पर वंचित न रखा जा सकेगा। धर्म या भाषा वाले अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओ की स्थापना और प्रबन्ध का अधिकार होगा तथा शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने मे राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह किसी विशेष धर्म या भाषा वाले अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबंध में है।[6]

६. सम्पत्ति का अधिकार—संविधान सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को मान्यता देता है और घोषित करता है कि किसी भी व्यक्तिकी सम्पत्ति राज्य द्वारा तब तक न छीनी जायगी जब तक ऐसा करने लिए के विधि का प्राधिकार (Authority of Law) न प्राप्त कर लिया जाय और क्षतिपूर्ति की व्यवस्था न कर दी जायगी।[7] किसी भी सम्पत्ति पर राज्य के अनिवार्यतः कब्जा करने का अधिकार देने वाली विधियाँ राष्ट्रपति की सम्मति के लिए सुरक्षित रखी जायँगी,[8] जिससे इस मामले में जितनी भी विधियाँ बनें उन सब में देश भर में एकरूपता बनी रहे।

जिस सम्पत्ति पर राज्य अनिवार्यतः कब्जा करेगा उसके लिए संविधान के अनुसार क्षतिपूर्ति का दिया जाना आवश्यक है लेकिन संविधान में यह कहीं नहीं कहा गया है

[1]अनु० २६, [2]अनु० २७, [3]अनु० २८, (२), [4]अनु० २५ (२), [5]अनु० २५ (२), [6]अनु० २६ और ३० [7]अनु०, (१) और (२), [8]अनु० ३१ (३)।

कि वह क्षतिपूर्ति न्यायपूर्ण एवं समुचित ही होगी। इस शब्द को जानबूझ कर छोड़ दिया गया है जिससे न्यायालय इस सम्बन्ध में हस्तक्षेप न कर सके और अनावश्यक मुकदमेबाजी न हो। किस प्रकार की सम्पत्ति के लिए समुचित क्षतिपूर्ति क्या होगी, यह निर्धारित करना विधानमण्डल के विवेक पर छोड़ दिया गया है। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने कहा था, "हम प्रत्येक व्यक्ति को समुचित मुआविजा देना चाहते हैं लेकिन किसी भी दशा मे हमें मुकदमेबाजी में पड़ना स्वीकार नहीं है।"[1] न्यायालय केवल उसी दशा में हस्तक्षेप कर सकेंगे जब सम्पत्ति को कब्जे में लेने वाली विधि कोई भी क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था नहीं करती या अयथार्थ अथवा नाम मात्र की क्षतिपूर्ति प्रदान करके 'संविधान को धोखा देने का कोई जाल' (A fraud on the Consttiution) रचती है। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जिस सम्पत्ति पर अनिवार्यतः कब्जा किया जायगा उसके लिए क्षतिपूर्ति तो अवश्य की जायगी लेकिन उस राशि के औचित्य या अनौचित्य निर्णय का न्यायालय से नहीं कराया जा सकेगा।

कुछ मामलों में तो नाम मात्र की क्षतिपूर्ति दिये जाने की अवस्था मे भी न्यायालयों का हस्तक्षेप वर्जित कर दिया गया है। यद्यपि सविधान में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है फिर भी संविधान परिषद में वादविवादों के दौरान मे यह साफ तौर पर कह दिया गया था कि उक्त व्यवस्था का अभिप्राय उत्तर प्रदेश, बिहार तथा अन्यत्र मद्रास के जमींदारी-उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम को सुरक्षित बनाने का है। सविधान मे कहा गया है कि यदि संविधान के लागू होते समय कोई विधेयक विधानमण्डल के विचाराधीन है और बाद मे वह पारित कर दिया जाता है और सुरक्षित रखे जाने के बाद राष्ट्रपति के हस्ताक्षर उस पर हो जाते हैं, या किसी राज्य की कोई विधि संविधान के लागू होने के १८ मास पूर्व पारित हो जाती है और नये संविधान के लागू होने के ३ मास के अन्दर उस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर करा लिये जाते हैं और वह राष्ट्रपति द्वारा प्रमाणित कर दी जाती है तो उस पर किसी भी न्यायालय मे क्षतिपूर्ति-सम्बन्धी संवैधानिक व्यवस्थाओं का उल्लंघन करने के आधार पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इसका अर्थ यह है कि यदि उत्तर प्रदेश, बिहार और मद्रास में जमींदारी बिना मुआवजे के भी समाप्त कर दी जाती तो भी न्यायालय में कोई आपत्ति नहो उठाई जा सकती। इस मामले में विधानमण्डल के निर्णय ही सर्वथा अन्तिम होंगे। पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा—"हम अपने यहाँ के न्यायाधीशों का सम्मान करते हैं, लेकिन किसी भी न्यायाधीश या किसी भी उच्चतम न्यायालय को हम विधानमण्डल का तृतीय सदन नहीं बनने दे सकते। संसद सम्पूर्ण देश की इच्छाओं-

[1] संविधान परिषद की १२ सितम्बर, १९४९ को कारंवाई का प्रतिवादन।

का प्रतिनिधित्व करती है। सम्पूर्ण देश की सम्प्रभु इच्छा का उल्लंघन करने का अधिकार किसी भी न्यायपालिका को नहीं दिया जा सकता।"[1]

क्षतिपूर्ति सम्बन्धी सवैधानिक व्यवस्था निष्क्रमणार्थी सम्पत्ति पर नहीं लागू होगी।

लेकिन इतनी कठोर व्यवस्थाएँ भी जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों को न्यायालयों के हस्तक्षेप से बचा न सकी। न्यायालयों ने अधिनियमों में दी गई क्षतिपूर्ति की व्यवस्था के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा लेकिन मूल अधिकारों तथा अन्य सवैधानिक व्यवस्थाओं के आधार पर अधिनियमों के कुछ अंश के औचित्य पर आपत्ति करते हुए उन अंशों को अवैधानिक घोषित कर दिया। इस प्रकार पटना उच्च न्यायालय ने बिहार के जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों के कुछ अंशों को असंवैधानिक घोषित कर दिया। भविष्य में न्यायालयों द्वारा भूमि सम्बन्धी सुधारों के कार्य में ऐसे हस्तक्षेप को रोकने के लिए संविधान में संशोधन किया गया और सन् १९५१ का संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम द्वारा संविधान में ३१ क और ३१ ख ये दो अनुच्छेद और जोड़े गये। अनुच्छेद ३१ क के अनुसार कोई भी विधि जिससे राज्य को किसी भी भू-सम्पत्ति (estate) पर कब्जा करने या कब्जे के अधिकार को समाप्त या परिवर्तित करने का अधिकार मिलता है, इस आधार पर अवैध घोषित न की जायगी कि वह मूल अधिकारों के विरुद्ध है, या उनमें अल्पीकरण करता है या उनको भंग करता है। अनुच्छेद ३१ ख द्वारा संविधान में नवीं अनुसूची जोड़ दी गई है जिसके अनुसार उन विधियों की एक तालिका दे दी गई है जिनकी वैधता पर उक्त अनुच्छेद अर्थात् ३१ क के अन्तर्गत कोई आपत्ति किसी भी न्यायालय में की ही नहीं जा सकती और जो किसी न्यायालय का तत्प्रतिकूल निर्णय या आदेश होते हुए भी वैध रहेंगे। उक्त दो अनुच्छेदों के जोड़े जाने का कुल मिला कर यह परिणाम हुआ कि जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी क्षतिपूर्ति की समस्त विधियाँ न्यायालयों की कार्यसीमा के परे कर दी गई हैं। लेकिन यदि राज्य जमींदारी को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति पर कब्जा करना चाहेगा तो फिर उसे पहले की ही भाँति कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। ये कठिनाइयाँ अभी भी विद्यमान हैं। १९५४ में शोलापुर के सूती कपड़े के एक कारखाने के प्रबन्ध को सुधारने के लिए सरकार ने उस पर अस्थायी कब्जा कर लिया था लेकिन उच्चतम न्यायालय ने सरकार का यह कार्य इस कारण अवैध घोषित कर दिया कि सरकार ने ऐसा करने के पहले मालिकों को कोई क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था नहीं की। अतः संविधान चतुर्थ संशोधन अधिनियम १९५५, इस कठिनाई को दूर करने के लिए पारित हुआ। इसके द्वारा यह व्यवस्था हुई कि राज्य द्वारा सम्पत्ति का अनिवार्य अर्जन किये जाने की दशा में चाहे प्रतिकर

[1] संविधान परिषद की १० सितम्बर, १९४९ को कार्रवाई।

(Compensation) की राशि नियत कर दी जाय अथवा उसे देने के निश्चित सिद्धान्त नियत कर दिये जायँ। अनिवार्य अर्जन (Compulsory Acquisition) का कोई भी कानून अपर्याप्त प्रतिकर के आधार पर अवैध न घोषित किया जा सकेगा।[1]

दूसरे, यह भी व्यवस्था की गई कि यदि किसी कानून द्वारा सम्पत्ति का स्वामित्व या कब्जा राज्य को हस्तातंरित न होकर, केवल प्रबन्ध के अधिकार का हस्तान्तरण हो (जैसा कि शोलापुर मिलो के सम्बन्ध में हुआ था), तो वह अनिवार्य अर्जन न समझा जायगा और प्रतिकर का प्रश्न उस सम्बन्ध में न उठेगा।[2]

तीसरे और अन्तिम स्थान मे, भारतीय सविधान प्रथम संशोधन अधिनियम १९५१ द्वारा जोड़े हुए अनुच्छेद ३११ क के अनुसार मूल अधिकारो के अतिक्रमण के आधार पर न्यायालयों के हस्तक्षेप से जो छूट जमीन्दारी उन्मूलन कानूनों को दी गई थी, उसे निम्नलिखित प्रकार के कानूनो पर भी लागू कर दिया गया, अर्थात्,

(१) जो राज्य द्वारा किसी भी सम्पत्ति के अर्जन या उस सम्पत्ति-विषयक किसी भी अधिकार के अर्जन, समाप्ति या परिवर्तन की व्यवस्था करते हो।

(२) जो राज्य द्वारा सीमित समय के लिए किसी सम्पत्ति के प्रबन्ध-अधिकार के सार्वजनिक हितार्थ, लिये जाने की व्यवस्था करते हों, जिससे उक्त सम्पत्ति का सुप्रबन्ध हो सके।

(३) जो सार्वजनिक हित तथा सुप्रबन्ध की दृष्टि से दो या अधिक निगमों (Corporations) के एकीकरण (amalgamation) की व्यवस्था करते हों।

(४) जो प्रबन्धक गुमास्तो (managing agents) सेक्रेटरी या निगमो के मैनेजरो के अधिकारो या हिस्सेदारो के मतदान के अधिकारो की समाप्ति की व्यवस्था करते हों।

(५) जो किसी खनिज पदार्थ या तेल की खोज या प्राप्ति के लिए अवधि के पूर्व ही किसी समझौते, ठेके या लैसंस से सम्बन्धित किसी अधिकार की समाप्ति या परिवर्तन की व्यवस्था करते हो।[3]

सविधान की नवी अनुसूची मे ६ और भी कानूनो की तालिका जोड़ दी गई जिससे कि उनकी वैधता पूर्णतया सुरक्षित हो जाय और किसी न्यायालय के प्रतिकूल निर्णयादि के प्रभाव से मुक्त रहे।[4]

संविधान मे सम्पत्ति सम्बन्धी जो व्यवस्थाएँ दी गई है उनसे व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कट्टर विचार रखने वाले लोग सन्तुष्ट नही हो सकते। परन्तु यह तो अब सब जगह

---

[1] भारतीय सं० चतुर्थ संशो० अधि० १९५५ अनु० २, [2]वही।

[3]भार० संवि० चतुर्थ संशो० अधि० अनु० ३, [4]वही अनु० ५।

माना जाता है कि सार्वजनिक कल्याण के लिए राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अनिवार्यतः कब्जा कर सकता है। लेकिन ऐसा करने की आवश्यकता या क्षतिपूर्ति के निर्धारण की सीमा, ये बातें अत्यन्त ही विवादास्पद हैं। एक ओर तो आधुनिक साम्यवादी और उग्र समाजवादी हैं जो राज्य द्वारा सम्पत्ति पर कब्जा करने के बदले में कोई भी मुआवजा देने के घोर विरोधी हैं, और दूसरी ओर वे हैं जो यह कहते हैं कि जिस व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कब्जा किया जाय उसका मुआवजा उस सम्पत्ति के बाजार वाले मूल्य के बराबर या उससे भी अधिक हो। लेकिन ऐसे मामले में कोई भी न्यायप्रिय व्यक्ति यही कहेगा कि सम्पत्ति के कब्जे तथा उसके मुआवजे के सम्बन्ध के प्रत्येक मामले में समाज की आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए फैसला किया जाना चाहिए। जैसा कि पंडित नेहरू ने संकेत किया है, सम्पत्ति स्वरूप और तत्सम्बन्धी कल्पना बराबर बदलती रही है और सम्पत्ति सम्बन्धी प्रत्येक विधि में अपने समय का सम्पत्ति-सम्बन्धी प्रचलित मत झलकता रहना चाहिए। सम्पत्ति कई प्रकार की होती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की सम्पत्ति में अन्तर किया ही जाना चाहिए। एक समय था जब दासों को सम्पत्ति समझा जाता था। दासों को रखने का अधिकार उतना ही पवित्र माना जाता था जितना अन्य कोई सम्पत्ति-अधिकार। आजकल भूमि या उत्पादन के साधनों की बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों को समुदाय के सार्वजनिक कल्याण के हित में नहीं समझा जाता। बहुमत कम-से कम यही मानता है कि उनका उपयोग सब के हितो में होना चाहिए। संविधान निर्माताओं को ये सारी बातें ध्यान में रखनी पड़ी थी और एक ऐसा हल निकालना पड़ा था जिसको अधिक से अधिक व्यक्तियों की सहमति प्राप्त हो सके। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि निजी सम्पत्ति को किसी भी समय केवल उतना ही समर्थन प्राप्त हो सकता है जितना उस समय का लोकमत उसे देने को तैयार हो और संविधान उसे उससे अधिक संरक्षण नहीं दे सकता।

मूल अधिकारों की रक्षा के उपाय—यदि अधिकारों को कार्यान्वित न किया जा सके या उनकी रक्षा न हो सके तो उनका होना ही निरर्थक है। इसीलिए मूल अधिकारों के प्रयुक्त करने और उनकी रक्षा करने के लिए संविधान में बहुत से उपायो की व्यवस्था दी हुई है। मूल अधिकारों का प्रयोग नागरिक केवल सङ्घीय शासन के विरुद्ध ही नहीं अपितु राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं के अधिकारों के विरुद्ध भी कर सकेगा।[1] जो विधियाँ मूल अधिकारों के विरुद्ध ठहरती हैं, सब जिस हद तक के विरुद्ध है, अवैध हैं और राज्य (State) के लिए मूल-अधिकार विरोधी विधियाँ बनाना निषिद्ध है। इस प्रसंग में विधि शब्द के अन्तर्गत अध्यादेश, आदेश, उपविधियाँ, नियम,

[1] अनु० १२

विज्ञप्तियां, प्रथाएं आदि वे सभी चीजें आ जाती है जिनको देश भर में कहीं भी विधियों की भाँति मान्यता प्राप्त है।[1]

यदि संविधान में वर्णित मूल-अधिकारो का कभी उल्लंघन हो तो कोई भी नागरिक किसी भी उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय अथवा संसद के किसी अधिनियम से अधिकार-प्राप्त किसी भी न्यायालय मे उन अधिकारो की रक्षा के लिए याचना कर सकता है और उक्त न्यायालयो को संविधान के अनुसार बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार पृच्छा (Quo Warranto) तथा उत्प्रेषण (Certiorari) के समादेशो (Writs) को प्रचलित करके उक्त अधिकारों की रक्षा करने की शक्ति दी गई है।[2] सेना और पुलिस मे अनुशासन-रक्षा तथा कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से संसद उनके सदस्यों के मूल अधिकारो को सीमित या मर्यादित भी कर सकती है।[3] सेना विधि (Martial Law) के दौरान मे शांति-रक्षार्थ यदि राज्याधिकारी कुछ ऐसे कृत्य कर बैठते हैं जो मूल अधिकारो के विरुद्ध सिद्ध होते हो तो संसद विधि द्वारा उन्हे उत्तरदायित्व-मुक्त कर सकती है और फिर उन कार्यो के लिए उन्हे दण्डित न किया जा सकेगा।[4]

मूल अधिकारो की रक्षा के लिये नागरिको के न्यायालय मे जाने के अधिकार को नागरिक का 'संवैधानिक उपचार प्राप्त करने का अधिकार' (Right to Constitutional remedies) कहा जाता है। अभी तक मूल अधिकारो की रक्षा और उन्हे लागू कराने की शक्ति उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयो को ही हैं और संसद ने अब तक यह अधिकार किसी भी अन्य न्यायालय को नही दिया है। उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय अपनी शक्तियो का किस प्रकार प्रयोग करते हैं ? वे ऐसा सरकार या सरकारी अधिकारियो को कुछ कार्यो के करने या न करने के—जैसा आवश्यक हो—निर्देश, आदेश या समादेश देकर ऐसा करते हैं।

उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय मूल अधिकारो के लागू करने के लिये जो विभिन्न समादेश देते हैं (या उच्च न्यायालय जो अन्य मामलो मे भी समादेश देते हैं) उनके परिणामो पर यहाँ संक्षेप मे प्रकाश डालना आवश्यक है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण का समादेश (Writ of Habeas Corpus) देकर न्यायालय ऐसे किसी भी व्यक्ति को अपने सामने उपस्थित किये जाने की आज्ञा सरकार को दे सकते हैं जिसे अधिकारियो ने गिरफ्तार कर लिया हो। गिरफ्तार व्यक्ति के न्यायालय मे उपस्थित किये जाने के बाद न्यायालय यह फैसला कर सकता है कि गिरफ्तार व्यक्ति की गिरफ्तारी वैध है या नही। यदि गिरफ्तार या नजरबन्दी अवैध हुई तो न्यायालय

[1] अनु० १३, [2] अनु० ३२ (२), [3] अनु० ३३, [4] अनु० ३४

तत्काल उस व्यक्ति की रिहाई का हुक्म दे देता है, इस प्रकार इस समादेश में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के अधिकार की रक्षा की भावना निहित है। परमादेश का समादेश (Writ of Mandamus) किसी भी अधिकारी को उस कर्त्तव्य पालन के लिए दिया जाता है जिसका पालन करने के लिए (प्रार्थी के हित में) वह अधिकारी कानून द्वारा बाध्य हो। इस समादेश द्वारा प्राधिकारियो (Authorities) से वे कार्य करा लिए जाते हैं जिनको वे किसी कारण से न कर रहे हो और जिनके न करने से किसी नागरिक के मूल अधिकार खतरे में पड़ जाते हो। प्रतिषेध समादेश (Writ of Prohibition) उस समय दिया जाता है जब कोई प्रतिकारी ऐसा कार्य कर रहा होता है जो उसे विधि सम्बन्धी दृष्टि से नहीं करना चाहिए। प्रतिषेध का समादेश देकर न्यायालय किसी भी प्राधिकारी को कोई ऐसा अवैध कार्य करने के जिससे किसी नागरिक के मूल अधिकारो पर प्रहार होता है, रोक सकता है। इस प्रकार यह परिणाम की दृष्टि से परमादेश समादेश का उल्टा है। इस समादेश द्वारा कोई कार्य कराया नही जाता बल्कि किसी कार्य के करने से रोका जाता है। उत्प्रेषण समादेश (*Writ of Certiorari*) बड़ा न्यायालय छोटे न्यायालय या अधिकारी को देता है। छोटे न्यायालय या अधिकारी को जब यह आदेश किसी विचाराधीन मामले के सम्बन्ध मे प्राप्त होता है तो वह उस मामले को आदेश देने वाले न्यायालय के सम्मुख निरीक्षण तथा निर्णय के लिए भेज देता है। यह आदेश ऐसी दशा मे दिया जाता है जब कोई छोटा न्यायालय या अधिकारी अपने हाथ मे कोई ऐसा मामला ले लेता है जिस पर विचार करने का उसे अधिकार नही है या जिसमे उसके द्वारा अन्याय होने की सम्भावना होती है। यह समादेश सामान्यतः प्रतिषेध के आदेश के साथ-साथ निकाला जाता है। अधिकार पृच्छा समादेश (Writ of Quo Warranto) उस व्यक्ति के विरुद्ध दिया जाता है जिसकी किसी पद पर नियुक्ति या निर्वाचन विवादास्पद होता है। इस समादेश द्वारा सम्बन्धित व्यक्ति से कहा जाता है कि वह उक्त पद का भार उस समय तक ग्रहण न करे जब तक उसकी नियुक्ति या निर्वाचन की वैधता का फैसला न्यायालय न कर दे। 'अधिकार पृच्छा' का शब्दार्थ है, "किस अधिकार से ?"

आपत्तिकाल मे अधिकारों का क्रियान्वय और उनका निलम्बन—यदि राष्ट्रपति आपत्तिकाल की घोषणा कर देता है तो उक्त काल मे राज्य ऐसी विधियाँ भी बना सकता है और ऐसे आदेश भी दे सकता है जो १९ वे अनुच्छेद द्वारा रक्षित अधिकारो अर्थात् भाषण, अभिव्यक्ति, मिलने जुलने, सभा-समाजो, व्यवसाय आदि की स्वतन्त्रता के अधिकारो का उल्लंघन करते हो। लेकिन उक्त विधियां और आदेश आपत्तिकाल के समाप्त होते ही स्वयमेव समाप्त हो जायेंगे,[1] और उनमें से केवल वही विधियाँ

[1] अनु ३५८,

और आदेश प्रचलित माने जायेंगे जो उक्त अधिकारों के विरुद्ध न होंगे। आपत्तिकाल में राष्ट्रपति न्यायालयों को भी मूल अधिकारो की रक्षा करने से रोक सकता है। लेकिन मूल अधिकारों के निलम्बन (Suspension) का यह आदेश शीघ्रातिशीघ्र संघीय संसद के दोनो भवनो के समक्ष विचारार्थ उपस्थित किया जाना चाहिए।[1]

कार्यपालिका द्वारा मूल अधिकारो के निलम्बन (Suspension) की संविधान परिषद् में कुछ सदस्यो ने अतीव कटु निन्दा की थी। श्री कामथ ने कहा है, कि इस व्यवस्था द्वारा हम तानाशाही राज्य की, और पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे हैं, और यह व्यवस्था कांग्रेस के उन समस्त सिद्धान्तो के विरुद्ध है जिनका वह डंका बजा बजा कर इतने दिनो से प्रचार करती आ रही है। उन्होंने कहा, "यदि हम ऐसे राज्य में शान्ति पा भी सके तो वह शान्ति कब्र की और रेगिस्तान की नीरवता की शान्ति होगी। जब तूफान चलेगा तो इस दुर्व्यवस्था का बोझ इतना अधिक हो जायगा कि स्वतन्त्रता की सारी इमारत भर-भर कर गिर पड़ेगी।" जब यह अनुच्छेद श्री कामथ के विरोध के बावजूद पारित हो गया तो श्री कामथ ने खड़े हो कर अत्यन्त नाटकीय ढंग से कहा कि "यह दिन लज्जा और दुःख का है। ईश्वर ही भारतवासियो की मदद करें।"[2]

दूसरी ओर श्री अल्लादि कृष्णास्वामी ऐय्यर तथा डाक्टर अम्बेदकर ने इस व्यवस्था का समर्थन किया। श्री ऐय्यर ने कहा कि व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा के आश्वासन के पूर्व राष्ट्र की सुरक्षा और दृढ़ता आवश्यक है। भारत जैसे देश मे जहाँ लोगो के मत और परिस्थितियाँ भिन्न हैं वहाँ सुरक्षा का प्रश्न अधिक महत्व रखता है। राष्ट्र की रक्षा हर तरह से की जानी चाहिए। यह व्यवस्था युद्ध जैसी अपसाधारण (abnormal) परिस्थितियो के लिए है और युद्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जैसे सिद्धान्तो के आधार पर नही चलाया जा सकता है। अन्त मे उन्होने कहा, "यह व्यवस्था अत्यन्त ही आवश्यक है। यही व्यवस्था संविधान का जीवन होगी। इससे प्रजातन्त्र की हत्या नही किन्तु रक्षा होगी।"

ये दो मत हैं एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध, लेकिन दोनों ही देशभक्त, योग्य और अनुभवी व्यक्तियो के हैं। इनमें से किसका मत ठीक था?

इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर व्यक्ति की जीवन-मूल्यो सम्बन्धी अपनी धारणा (Scheme of values) पर निर्भर है। किसी संकट के समय हम सुव्यवस्था की अपेक्षा निजी स्वातन्त्र्य की रक्षा पर जोर देंगे या निजी स्वातन्त्र्य के बजाय सुरक्षा पर जोर देंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम दोनो मे से किसको अधिक मूल्यवान समझते हैं। लेकिन यदि इस प्रश्न पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करके हमे फैसला करना है तो हमें देखना चाहिए कि संसार मे अन्य स्वतन्त्र देशो मे क्या होता है। ब्रिटेन मे सन् १९२० के आपत्तिकालीन शक्ति अधिनियम (Emergency Powers Act, 1920) के अनुसार

[1] अनु ३५९, [2] २० अगस्त १९४९ की संविधान परिषद की कार्रवाई का प्रतिवेदन।

आपातिकाल की घोषणा पाँच दिनो के भीतर ही संसद के समक्ष विचारार्थ उपस्थित की जानी चाहिए और यदि ऐसा नही किया जाता तो सात दिन बाद वह घोषणा अपने आप समाप्त हो जायगी। हमारे सविधान मे ऐसा कोई समय नही निश्चित किया गया है जिसके अन्दर मूल अधिकारो के निलबन का आदेश विचार के लिए संसद के समक्ष अनिवार्यत: उपस्थित की जाय और न संसद से उसे जारी रखने के लिए स्वीकृति लेना ही अनिवार्य किया गया है। इस प्रकार भारत की कार्यपालिका को ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं ज्यादा अधिकार दे दिये गये हैं। डाक्टर अम्बेदकर ने इस प्रश्न का यह समाधान करने की चेष्टा की कि जब संसद के समक्ष मूलाधिकार-निलंबन का आदेश विचारार्थ उपस्थित होगा तो ससद जैसी चाहे वैसी कार्रवाई कर सकती है, और यदि वह मौन रहती है तथा कुछ नही करती तो इसे उसकी सम्मति का लक्षण ही समझना चाहिए।

लेकिन यह संवैधानिक कलाबाजी सविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष को शोभा नही देती। निष्क्रिय, मौन और स्पष्ट सम्मति (authorization) प्रदान करने मे जो अन्तर है उसे समझने के लिए बहुत अधिक बुद्धि या तर्क की आवश्यकता नही है। यह कौन नही जानता कि ब्रिटिश ससद के समक्ष प्रत्येक सत्र मे जो सैकड़ो नियमादि (Rules and Regulations) निरीक्षण के लिए उपस्थित किये जाते है और जिनको अधिकृत करने का संसद को वैधानिक अधिकार है, उनके दोषो की ओर संसद का ध्यान जाने का अवसर ही नही आता। ब्रिटिश विधानज्ञ यह समझते थे, इसीलिए उन्होने इस मामले में संसद की स्पष्ट सम्मति को जनस्वातंत्र्य के हित मे आवश्यक माना।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सविधान में कांग्रेस को बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम के संवैधानिक उपचारो को निलम्बित करने की शक्ति है परन्तु राष्ट्रपति इस शक्ति का प्रयोग केवल अस्थायी रूप से सर्वोच्च सेनापति के रूप में ही कर सकता है। अतः यह स्पष्ट ही है कि मूल अधिकारो के निलम्बन के सम्बन्ध मे इंगलैंड और अमेरिका की अपेक्षा भारतीय सविधान मे कार्यपालिका को अधिक शक्तियाँ दी हुई हैं। इस प्रकार न्यायपालिका पर ही नही, विधानमडल पर भी अविश्वास किया गया है। सविधान निर्माताओ की इस चिन्ता को तो हम देखते हैं कि वे राज्य को हर आपत्तिकाल का सामना करने के लिए सुदृढ बनाना चाहते थे लेकिन इससे सविधान मे दी हुई व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए भयावह इस व्यवस्था का खतरा तो कम नही होता। अतः जनता की स्वतत्रता की दृष्टि से इसमे जितनी ही जल्दी संशोधन किया जाय उतना ही अधिक अच्छा होगा। ऐसा हो सकता है कि जब तक स्वतत्रताप्रिय राजनीतिक दल सत्तारूढ रहे तब तक इस शक्ति का दुरुपयोग न किया जाय लेकिन सविधान का निर्माण बुरी से बुरी स्थिति का ध्यान रखते हुए किया जाना चाहिए, और उसकी दीर्घकालीन सभावनाओ पर दृष्टि रखनी चाहिए।

भारतीय और अमेरिकन संविधान के मूल अधिकारों की तुलना— भारतीय संविधान और अमेरिका के संविधान में मूल अधिकारो की योजनाएँ दी हुई हैं, उन दोनों में परस्पर काफी समानता है। दोनों ही संविधान में मूल अधिकारों की रक्षा और क्रियान्वय का कार्य न्यायालयों को सौंपा गया है जो उसे विभिन्न समादेशो (Writs) आदेशों (Orders) और निर्देशों (Directions) को दे कर और मूल अधिकारों के विरुद्ध बनाई गई विधियों को, चाहे वे राज्य की हो या केन्द्र की, अवैध और प्रभावशून्य घोषित करके सम्पन्न करते हैं। दोनो ही देशो मे विधानमंडलो को स्पष्ट निर्देश है कि ये मूल अधिकारों के विरुद्ध कोई विधि न बनाये। दोनो देशों में बहुत से अधिकार भी समान ही हैं। लेकिन दोनों देशों के मूल अधिकारों मे कुछ अन्तर भी है। पहला अन्तर तो यह है कि भारत में मूल अधिकार केवल वे ही हैं जिनका संविधान मे स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। जिन अधिकारो का संविधान मे उल्लेख नही है, वे मूल अधिकार नही माने गये हैं। इसके विपरीत अमेरिका के संविधान मे मूल अधिकारों की जो तालिका दी गई है वह दृष्टान्त मात्र के लिए है। वह अपने आप मे पूर्ण नही है। इस प्रकार अमेरिका में वहाँ का नागरिक संविधान मे अधिकारों की तालिका के बाहर अन्य अधिकारो का भी दावा कर सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि भारत में जहाँ केवल संविधान ही मूल अधिकारो का स्रोत है वहाँ अमेरिका मे संविधान के अतिरिक्त सामान्य विधियाँ (Common Law) और स्वाभाविक न्याय (Natural Justice) भी मूल अधिकारो के स्रोत है। दूसरे, अमेरिकन संविधान में कुछ ऐसे अधिकार हैं जो भारतीय संविधान में नही पाये जाते। उदाहरण के लिए शस्त्र रखने का अधिकार अमेरिका के नागरिको को है लेकिन भारत में नही है। तीसरे, अमेरिका मे मूल अधिकार, विशेष रूप से व्यक्ति स्वातन्त्र्य, सम्पत्ति, व्यवसाय और उद्यम की स्वतंत्रता, भारत से कही अधिक सुदृढ प्रतीत होती है क्योंकि वहाँ 'विधि की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) शब्दावली का प्रयोग किया गया है जब कि भारत मे ऐसा नही है। 'विधि की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) मे व्यापक दृष्टि से यह अर्थ निहित है कि प्रत्येक मामले के विषय मे सामान्य विधि (Common Law) और परम्पराओ (Usages) द्वारा निश्चित एक ऐसी पद्धति है जिसका उल्लंघन न तो कार्यपालिका कर सकती है और न विधानमंडल। यदि कांग्रेस निश्चित टकसाली पद्धति के विपरीत कोई भी विधि बनाती है तो न्यायपालिका उस विधि को तत्काल अवैध और प्रभावशून्य घोषित कर देगी। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, 'विधि की उचित प्रक्रिया' शब्दावली में यह अर्थ निहित है कि किसी भी व्यक्ति की गिरफ्तारी या तलाशी बिना वारण्ट के नही हो सकती, हर नागरिक को प्रत्येक मामला न्यायालय में ले जाने का अधिकार रहता है, तथा प्रत्येक नागरिक यह भी दावा कर सकता है कि उस पर खुली अदालत

में मामला चलाया जाय। कांग्रेस या राज्य की कोई भी शक्ति विधि बनाकर इन निश्चित पद्धतियों को समाप्त नहीं कर सकती। भारत में संविधान 'विधि की उचित प्रक्रिया' को मान्यता नहीं देता। फलतः नागरिक अपने इन बहुमूल्य अधिकारों के लिए विधानमंडल की दया पर निर्भर करता है। चौथे, अमेरिका के संविधान में भारतीय संविधान की भाँति आपत्ति काल में कार्यपालिका द्वारा मूल अधिकारों के निलम्बन की कोई व्यवस्था नहीं है। आपत्तिकाल में न्यायपालिका ही इस बात का फैसला करती है कि नागरिक की स्वाधीनता को राज्य की रक्षा के हितों में किस हद तक कम किया जाना चाहिए। नागरिक की स्वतंत्रताओं को कार्यपालिका या विधानमंडल न्यून नहीं कर सकता, केवल विदेशी आक्रमण या आन्तरिक विद्रोह की अवस्था में कांग्रेस बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम (Act of Habeas Corpus) का निलम्बन (Suspension) कर सकती है।

(ग) राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त

भारतीय संविधान में दिये गये मूल अधिकारों और राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में यह अन्तर है कि जहाँ मूल अधिकारों को क्रियान्वित कराने के लिए सामान्य दशाओं में भारतीय नागरिक न्यायालय जा सकता है, वहाँ राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार चलने के लिए राज्य को न्यायालय द्वारा विवश नहीं कराया जा सकता। फिर भी उक्त सिद्धान्त को राज्य-शासन के संचालन करने में आधारभूत तत्व समझा जायगा और राज्य से यह आशा की जाती है कि वह इन सिद्धान्तों को विधियाँ बनाते समय ध्यान में रखे।[१]

हम इन सिद्धान्तों को समाजवादी (Socialist); गांधीवादी और बौद्धिक उदारतावादी (Liberal Intellectualistic) आदि वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

पहले वर्ग के सिद्धान्त राज्य को यह निर्देश देते हैं कि वह सभी नागरिकों को जीवन निर्वाह के उचित साधन प्रदान करने की व्यवस्था करे। राष्ट्रीय साधनों का सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से वितरण करे। धन और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार केन्द्रण न होने पाये जिससे सार्वजनिक कल्याण को क्षति पहुँचे। स्त्रियों और पुरुषों को समान कार्यों के लिए समान वेतन मिले। श्रमिकों और विशेषकर बालकों को, संरक्षण मिले। श्रमिक जहाँ काम करे वहाँ की अवस्था ऐसी न हो जिससे श्रमिकों के स्वास्थ्य को क्षति पहुँचे। मातृत्व को सहायता पहुँचाई जाय। श्रमिकों को उचित वेतन मिले, उनके जीवनयापन का स्तर ऊँचा हो और समस्त श्रमिकों को पर्याप्त अवकाश

[१] अनु० ३७

मिले।[1] समाजवादी नीति के ये सर्वविदित लक्ष्य हैं और स्पष्ट है कि यह उन लोगों को आश्वस्त करने के लिए रखे गये है जो समाजवादी राज्य की स्थापना चाहते थे।

दूसरे वर्ग के सिद्धान्त राज्य से ऐसे बहुत से कार्य करने के लिए कहते हैं जो गांधीवादी कार्यक्रम के रूप में कांग्रेस बहुत वर्षों से मानती चली आई है। इनमें स्वशासन की इकाई के रूप मे ग्रामपंचायतों का सघटन, ग्रामीण क्षेत्रो मे कुटीर उद्योगों का विकास, परिगणित वर्गों और जातियों की उन्नति, गायो, बछड़ो तथा अन्य दूध देने वाले पशुओं का वध रुकवाना आदि सम्मिलित हैं।[2]

राज्यनीति के तीसरे निर्देशक सिद्धान्त वर्ग मे विविध प्रकार के तत्व हैं। इसमें बहुत-सी ऐसी बाते हैं जिन पर बौद्धिक उदारतावादी दीर्घकाल से जोर देते आये हैं। उदाहरण के लिए १४ वर्ष की आयु तक के बालको के लिए दस वर्षो के अन्दर अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा; सम्पूर्ण देश के लिए एकरूप व्यवहार विधि संहिता, कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण, ऐतिहासिक, कलात्मक तथा अन्य स्मारको की रक्षा और कृषि और पशुधन का आधुनिक वैज्ञानिक रीति से विकास, जनस्वास्थ्य की वृद्धि करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा और न्याय प्रसार मे सहायता करना।[3]

बहुत से आलोचको ने राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों को संविधान में रखे जाने की वास्तविक उपयोगिता पर प्रश्न और संदेह किया है। चूंकि इन सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने का राज्य पर कोई वैधानिक दायित्व नहीं है, इसलिए बहुधा उनको दर्शनी गऊ बतलाया गया है यह कहा गया है कि उक्त सिद्धान्तो को उन आलोचकों को चुप कर देने के लिए संविधान मे दे दिया गया है जिनके विचारो को अन्यत्र कहीं नही रखा जा सकता था। यह सच है कि वैधानिक दृष्टि से इन निर्देशक सिद्धान्तो की कोई उपयोगिता नही है। जो शासन उक्त सिद्धान्तों का उल्लंघन करेगा उस पर जनता के सामने अभियोग लगाया जा सकता है। ये सिद्धान्त शासन और जनता दोनों को यह स्मरण कराते रहेंगे कि क्या किया जाना चाहिए। जब किसी भी सरकार की सफलताओं को उक्त सिद्धान्तो की कसौटी पर आँका जायगा तो जिस महत्वाकांक्षी व्यापक आधारों पर उनकी रचना की गयी है, उससे कई सरकारों को नीचा देखना पड़ सकता है।



[1] अनु० ४४, ४५, ४७, ४८, ४९, ५०, और ५१, [2] अनु० ३६, ४१, ४२ और ३३, [3] अनु० ४०, ४३, ४६, ४७ और ४८

अध्याय ४ | भारत की संघीय व्यवस्था

भारतीय संघ—संविधान द्वारा स्थापित भारतीय संघ को 'यूनियन'(Union) कहा गया है। ऐसा करने में कनाडा के संविधान का अनुकरण किया गया है। 'यूनियन' (Union) शब्द 'संघ' की अपेक्षा अधिक एकत्ववाची है। जितनी एकता इससे होती है उतनी सामान्यतः संघ राज्यों में नहीं पाई जाती। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत एकात्मक राज्य है। यद्यपि भारतीय संघ-सरकार (Union Government) को वर्तमान अन्य संघीय सरकारों की तुलना में इकाइयों (Units) का नियंत्रण करने की अपेक्षाकृत अधिक शक्ति दी गई है और आपत्तिकाल में भारत का शासन वस्तुतः एकात्मक राज्य की भाँति कार्य कर सकेगा तथापि भारत की नवीन राजनीतिक व्यवस्था साधारण समय में मुख्यतः संघीय राज्यों की भाँति ही है।

भारत में संघीय कल्पना का उदय—अंग्रेजों के शासन-काल में भारत दो भागों में विभक्त था। भारत के जितने प्रदेशों पर अंग्रेजों की सरकार थी, वह तो ब्रिटिश भारत कहलाता था और इसके अतिरिक्त छः सौ से अधिक देशी रियासतें थीं, जिन पर देशी नरेश शासन करते थे। इसे देशी राज्यों का भारत कहा जाता था; किन्तु देशी राज्यों के नरेश सर्वथा स्वतन्त्र न थे। वे अंग्रेजी सरकार के अनिश्चित आधिपत्य (Paramountcy) के अधीन थे। इस प्रकार भारत स्पष्टतः दो भागों में विभक्त था, परन्तु तो भी ये दोनों भाग परस्पर सम्बद्ध थे। इन दोनों को सम्बद्ध करने वाला व्यक्ति वायसराय था। यही वायसराय भारत का गवर्नर-जनरल भी हुआ करता था। अखिल भारतीय मामलों में संधियों, सनदों तथा आधिपत्य के सुविस्तृत अधिकारों की सहायता से दोनों भागों के सहयोग की व्यवस्था की गई थी।

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद से अंग्रेज भारत के देशी राज्यों को ब्रिटिश भारत की तथाकथित उग्र राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के प्रतिकार का एक बहुमूल्य साधन मानने लगे। लार्ड केनिंग ने विद्रोह के दमन में देशी नरेशों की सेवाओं की प्रशंसा करते हुए कहा था, "ये (देशी नरेश) तूफान के वेग को रोकनेवाली चट्टान की भाँति थे। यदि ये न होते तो तूफ़ान की एक ही उत्ताल तरंग हमें बहा ले गई होती।" भारत में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ता गया, त्यों-त्यों भारत के अंग्रेज शासक देशी नरेशों को देश की

राजनीतिक व्यवस्था में ले आने को अधिकाधिक उत्सुक होते गये। अँग्रेजों का गुप्त लक्ष्य यह था कि यदि देशी नरेशों का अखिल भारतीय राजनीतिक-व्यवस्था के अन्तर्गत ले आया जा सका तो जो कुछ भी सुधार उन्हें विवश हो कर करने पड़ेंगे उन के प्रभाव को देशी नरेशों की सहायता से व्यर्थ किया जा सकेगा। अतः शताब्दी के सातवें दशक में नरेशों में लार्ड लिटन ने यह सुझाव रखा था कि वायसराय को परामर्श देने के लिए देशी नरेशों की एक मंत्रणा-परिषद् (Privy Council) बनाई जाय। सन् १९०७ में लॉर्ड मिण्टो ने इसी प्रस्ताव को कुछ संशोधन रूप में पुनः उपस्थित किया। सन् १९१९ के भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत जब आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना हुई तो वायसराय की अध्यक्षता में देशी राज्यों के नरेशों के एक 'नरेन्द्र मण्डल' की भी स्थापना की गई। नरेन्द्र मण्डल (Chamber of Princes) का मुख्य कार्य वायसराय को अखिल भारतीय महत्व के विषयों में परामर्श देना था। भारतीय व्यवस्थापिका सभा (Indian Legislative Assembly) के प्रथम अध्यक्ष सर फ्रेडरिक व्हाइट ने सन् १९२३ में भारत के लिए संघीय शासन की सिफारिश की थी। सर मालकम हेली ने भारतीय संवैधानिक समस्या का अंतिम हल 'संघीय शासन' बतलाया था। साइमन कमीशन ने भी भारतीय संवैधानिक विकास का अंतिम लक्ष्य यही बतलाया था।

किन्तु भारत का राष्ट्रीय जनमत इन प्रस्तावों को लगातार शङ्का की दृष्टि से ही देखता रहता। उसे इन प्रस्तावों की ईमानदारी के सम्बन्ध में सदैव कोई न कोई संदेह बना रहता था। उदाहरण के लिए नेहरू रिपोर्ट (Nehru Report) में कहा गया था, "हमारी समझ से यह पूर्णतः एक पक्षीय व्यवस्था ही होगी यदि देशी राज्य संघ में इस उद्देश्य से सम्मिलित हों, जिससे वे अपने मतों द्वारा या अन्यथा भारतीय विधानमण्डल की नीति और कानून-निर्माण को तो प्रभावित करें, किन्तु स्वयं उसे मानने को बाध्य न हों। यह तो संघ राज्य की कल्पना का नितान्त परिहास ही होगा।"[1]

अन्त में, सङ्घ राज्य की कल्पना को गोलमेज सम्मेलनों और भारतीय शासन अधिनियम १९३५ के द्वारा साकार रूप प्राप्त हुआ। लेकिन १९३५ ई० के अधिनियम से किसी पक्ष को कोई संतोष नहीं हुआ और उसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

फिर भी भारत की संवैधानिक समस्याओं के अन्तिम हल के रूप में सङ्घ राज्य की कल्पना जनता का मस्तिष्क में घर किये हो रही। इसका कारण भी था और वह यह कि हमारा देश इतना विस्तृत है, और उसमें परिस्थिति, भाषा और संस्कृतियों

[1]नेहरू रिपोर्ट, पृष्ठ ८३

की इतनी विविधता है कि उसको दृष्टि में रखते हुए एकात्मक राज्य की बात भी असंगत होती ।

अंग्रेजो के प्रयाण के उपरान्त राज्यों की समस्या—अंग्रेजो को इस देश से जाने के साथ ही साथ भारतीय देशी राज्यो पर उनके आधिपत्य (Paramountcy) का भी अंत हो गया। सन् १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम की धारा ७ (१) (ख) के अनुसार एक निश्चित दिन के बाद "भारतीय देशी राज्यो पर ब्रिटिश सम्राट का आधिपत्य समाप्त हो जायगा और उसी के साथ सम्राट और देशी नरेशो के बीच सारी संधियाँ और समझौते भी समाप्त समझे जायँगे।" इस प्रकार सारे देशी राज्य स्वतन्त्र कर दिये गये। उन्हे अपनी संधियो और भौगोलिक स्थिति के अनुसार भारत या पाकिस्तान मे से किसी एक राज्य मे सम्मिलित हो सकने अथवा अलग और स्वतंत्र भी रह सकने का अधिकार दिया गया।

प्रारम्भ मे देशी नरेशो ने भारतीय सङ्घ में सम्मिलत होने की कोई विशेष उत्सुकता नही दिखलाई। भारत सरकार के राजनीतिक विभाग का इन देशी राज्यों पर ५ जुलाई १९४७ तक पूरा नियंत्रण था। इसी राजनीतिक विभाग के अंग्रेज अधिकारियो के सिखावे मे आ कर तिर्वांकुर (त्रावणकोर), भोपाल, हैदराबाद और ग्वालियर जैसे कुछ राज्यो ने अपना यह इरादा घोषित कर दिया कि वे स्वतन्त्र रहेंगे और कुछ राज्यो ने भारत और पाकिस्तान दोनो से वार्ता आरम्भ कर दी। कुछ समय के लिए तो ऐसा प्रतीत हुआ कि देश इन विघटनकारी तत्वो पर विजय न प्राप्त कर सकेगा।

५ जुलाई १९४७ को भारत सरकार का देशी राज्य विभाग स्थापित हुआ। सरदार वल्लभभाई पटेल उसके अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनके सामने यह एक बडी भारी समस्या थी कि भारत की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत जो ५६२ देशी राज्य थे उन्हे भारत की राष्ट्रीय सरकार से किस प्रकार संवैधानिक सम्बन्ध से ग्रन्थित किया जाय।

इस समस्या को सुलझाने का प्रथम प्रयास तो यह किया गया कि सारे देशी राज्यों की प्रतिरक्षा, (Defence), परराष्ट्र सम्बन्ध ((External Affairs) और संचार साधनो (Communications) के विषयो मे राष्ट्रीय सरकार से सम्बन्ध हो जाने के लिए निमन्त्रण भेजे गये। १५ अगस्त १९४७ तक अधिकांश राज्यो ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इसके बाद दूसरी बात यह की गई कि उन छोटे-छोटे राज्यो के जिनके पास स्वतन्त्र सुदक्ष प्रशासन स्थापित कर लेने के लिए पर्याप्त साधन न थे समीपस्थ प्रान्तों मे विलीन कर दिया गया। पूर्वी राज्यो की एजेन्सी के अधिकांश क्षेत्रों में शान्ति और सुव्यवस्था भग हो जाने के कारण विलयन का उपाय सामने आया। देशी

राज्यों में इस प्रकार के उपद्रवों के हो जाने का एक कारण तो यह था कि वहाँ की जनता भी ब्रिटिश भारतीय प्रांतो की भाँति उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए आन्दोलन करने लगी थी और दूसरा कारण ऐसे समाज विरोधी तत्व थे जो इस मौके का अनुचित लाभ उठाना चाहते थे। ऐसे देशी राज्यों के नरेशों के पास इतनी सैनिक शक्ति नहीं थी कि वे उपद्रवो का दमन कर सकते और जब उनसे कहा गया कि विलयन के उपरात उन्हे निजी खर्च के लिए उचित वृत्ति (Privy purse) मिलेगी तो उन्होंने विलयन का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। विलयन या एकीकरण का कार्य नवम्बर सन् १६४७ में उड़ीसा से प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी देशी रियासते थी जो क्षेत्रफल और आय के साधनो की दृष्टि से बहुत छोटी थी और बड़े-बड़े देशी राज्यो के पडोस मे थी। इन छोटी देशी रियासतो को बड़े-बड़े देशी राज्यो मे मिला दिया था और इस प्रकार देशी राज्यो के संघ स्थापित हुए। इनमें सबसे पहला सौराष्ट्र सघ था। इस संघ मे छोटी-बड़ी कुल मिलाकर लगभग तीन सौ देशी रियासते सम्मिलित हुई। इसके बाद मध्य भारत, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश, तिर्वांकुर-कोचीन, पटियाला और पूर्वी पजाब के राज्यो के संघ आदि बने। भोपाल, बिलासपुर आदि जैसे कुछ राज्यो को उनकी विशिष्ट परिस्थितियो के कारण भारत सरकार ने केन्द्र द्वारा शासित प्रदेश के रूप में ग्रहण कर लिया। इनके अतिरिक्त, तीन सबसे बडे देशी राज्यो—हैदराबाद, जम्मू-काश्मीर और मैसूर को भारतीय संघ की पृथक इकाइयों (units) के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

इस विलयन और एकीकरण की प्रक्रिया का फल यह हुआ कि ५६२ देशी राज्यो के स्थान मे केवल १५ देशी राज्य रह गये और उनको भी प्रान्तो की ही भाँति भारतीय सघ में सम्मिलित किया गया। इसी के साथ और महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुआ। सभी देशी नरेशों को इस बात के लिए राजी कर लिया गया कि वह शासन की शक्ति जनता के प्रतिनिधियो को सौप दे। भारत सरकार ने इसके बदले मे देशी नरेशो को उनके निजी व्यय के लिए एक निश्चित वृत्ति देना स्वीकार कर लिया जिसका योग सब मिलाकर ४,६६,७३,५३५ रु० वार्षिक है। सामान्यत: किसी भी नरेश को १० लाख रुपये से अधिक वार्षिक वृत्ति नही दी गई। इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं; किन्तु उनमें भी सम्बन्धित नरेशो से यह तय कर लिया गया है कि उनमें उत्तराधिकारियो को अधिक से अधिक १० लाख रुपया वार्षिक ही मिला करेगा। इसका फल यह होगा कि अन्त मे इस विषय के अन्तर्गत व्यय होने वाली नरेश राशि घट कर ४ करोड़ रुपये वार्षिक ही रह जायगी। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पूर्व देशी नरेश निजी व्यय के रूप में १५ करोड़ रुपया वार्षिक खर्च किया करते थे। कुछ बड़े नरेशो को नव-स्थापित राज्य-संघों का राजप्रमुख और उपराजप्रमुख नियुक्त कर दिया गया।

इन नरेशों का कार्य अपने-अपने यहाँ के देशी राज्य संघों की संवैधानिक अध्यक्षता करना है।

यह समस्त परिवर्तन अत्यन्त शांतिपूर्वक हुए हैं। तीन राज्यों को छोड़ कर अन्य किसी भी स्थान पर न तो बल प्रयोग की कोई आवश्यकता ही पड़ी और न कोई उत्पात ही हुआ। ये तीन राज्य थे; जूनागढ, हैदराबाद और काश्मीर। जूनागढ़ के नवाब ने अपनी प्रजा की इच्छा के विरुद्ध अपना राज्य पाकिस्तान में विलयित कर दिया था। प्रजा ने नवाब को भगा दिया। इसके बाद सरकार की ओर से जनमत संग्रह कराया गया। जनमत संग्रह में प्रजा द्वारा प्रकट की गयी इच्छा के अनुसार सन् १९४८ में २० जनवरी को जूनागढ सौराष्ट्र में विलयित कर दिया गया। काश्मीर पर पाकिस्तान ने कबाइलों से आक्रमण करा दिया था। इस आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए काश्मीर ने भारत की शरण ली। भारत ने काश्मीर का विलयन पत्र स्वीकार कर लिया और उसकी रक्षा के लिए तुरन्त सेना भेज दी। लेकिन भारत काश्मीर का मामला भी शांतिपूर्वक हल करना चाहता था। अतएव, भारत ने काश्मीर की समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N.) के समक्ष विचारार्थ उपस्थित कर दिया। काश्मीर में लगातार एक बरस तक युद्ध होता रहा है। बाद में संयुक्त राष्ट्र संघ मध्यस्थता के फलस्वरूप सन् १९४९ में १ ली जनवरी को युद्ध-विराम हो गया काश्मीर के भविष्य का अन्तिम निर्णय काश्मीर-वासी ही एक जनमत संग्रह (Plebiscite) द्वारा करने को थे, किन्तु तब तक काश्मीर भारतीय संघ की ही एक इकाई (Unit) रहा। परन्तु काश्मीर की स्थिति तथा अन्य राज्यों की स्थिति में भिन्नता थी। काश्मीर का विलयन पहले प्रतिरक्षा परराष्ट्र सम्बन्ध तथा संचार साधनों के विषय में ही हुआ था। किन्तु राष्ट्रपति के सन् १९५४ में १४ मई को प्रकाशित एक आदेशानुसार स्थिति में परिवर्तन हो गया। संघ सरकार को अब काश्मीर में भी लगभग वे सभी शक्तियाँ प्राप्त हो गयी जो संविधान की संघ सूची (Union List) में दी हुई हैं। जनमत-संग्रह की शर्तों को पाकिस्तान ने न तो पूरा ही किया और न उनके निकट भविष्य में पूरा किये जाने की कोई आशा ही रही। इस दशा में काश्मीर के लोगों ने अपने संविधान-निर्माण के अधिकार का प्रयोग किया। इसके लिए एक संविधान सभा बुलाई गई और उसने १९५६ ई० में संविधान तैयार कर लिया। यह संविधान काश्मीर को भारतीय संघ का अविभाज्य अंग घोषित करता है तथा ऐसी किसी भी संशोधन का निषेध करता है जो इस व्यवस्था के विरुद्ध हो। इसके उपरांत भारत-सरकार ने घोषणा की कि समय बीतने तथा परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन हो जाने के कारण, अब जनमत-संग्रह असम्भव है और काश्मीरी जनता की संविधान तथा आम चुनाव द्वारा घोषित इच्छा के अनुसार काश्मीर भारत का अविभाज्य भाग हो गया है। संयुक्तराष्ट्र संगठन द्वारा भेजे हुए श्री जारिंग (Mr. Garring) ने भी जो

अप्रैल १६५७ में जनमत संग्रह की सम्भावना की जाँच करने आये थे, अपनी रिपोर्ट में यही कहा कि परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने के कारण जनमत-संग्रह अब असम्भव और अवाञ्छनीय है। हैदराबाद में भारत सरकार को पुलिस कार्रवाई करनी पड़ी। किन्तु भारत ने अत्यन्त विवश स्थिति में इस उपाय का आश्रय लिया। हैदराबाद के राज्याधिकारी इतने अधिक हठी सिद्ध हुए और रजाकारों के अत्याचार इतने अधिक बढ़ गये थे कि अन्य कोई उपाय ही शेष न रहा था। निजाम के राज्य पर भारतीय सेनाओं ने पाँच दिन के अन्दर कब्जा कर लिया और सन् १६४८ के सितम्बर मास में वहाँ एक सैनिक शासन स्थापित कर दिया गया। सन् १६४६ के समाप्त होने के पूर्व ही हैदराबाद भी अन्य राज्यों की भाँति भारत में विलयित हो गया और सैनिक शासन (Military Govt.) के स्थान पर एक अस्थायी मन्त्रिमण्डल की स्थापना कर दी गयी। मन्त्रिमण्डल सार्वजनिक निर्वाचनों तक कार्य करता रहा।

देशी राज्यों को सामान्यतः सामन्तवादी व्यवस्था और प्रतिक्रियावाद का गढ़ समझा जाता था। ऐसे सैकड़ों देशी राज्यों का प्रजातान्त्रिक भारतीय संघ में विलयन एक ऐसी सफलता है जिस पर देशी राज्य मंत्रालय उचित गर्व कर सकता है। यह कार्य महान कठिनाइयों के होते हुए सम्पन्न किया गया। इस महान सफलता के परिणामस्वरूप शताब्दियों से विभक्त भारत एक संविधान के अन्तर्गत एक संयुक्त देश के रूप में हम सबके सामने आ सका।

लेकिन भूतपूर्व देशी राज्यों के एकीकरण और प्रजातन्त्रीकरण का कार्य अभी पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ था। संविधान के पारित होने के बाद भी कई रियासती इकाइयों (State units) में परिवर्तन हुआ। यथा, सन् १६५० में १ ली जनवरी को कूच बिहार पश्चिम बंगाल (West Bengal) में विलयित कर दिया गया और विन्ध्य प्रदेश को भाग 'ख' राज्यों की सूची से हटा कर भाग 'ग' राज्यों की सूची में कर दिया गया जिससे उसका प्रशासन केन्द्र द्वारा किया जा सके। इसके अतिरिक्त उन राज्यों में आधुनिक प्रकार की प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था का निर्माण और संगठन करने का कठिन कार्य अभी शेष था। बहुत से देशी राज्यों में तो किसी भी प्रकार की कोई प्रतिनिधि संस्थाएँ कभी भी थी ही नहीं और बहुत से राज्यों में नरेशों के निजी शासन को छोड़कर अन्य कोई प्रशासन व्यवस्था भी नहीं थी। इन सब त्रुटियों को दूर करना आवश्यक था। बहुत से राज्यों के प्रशासन के लिए भारत सरकार के देशी राज्य मंत्रालय ने ही अस्थायी रूप से मंत्रियों को नामांकित कर दिया था। ये मंत्री राज्य के विधानमंडलों के प्रति उत्तरदायी न हो कर सीधे भारत सरकार के देशी राज्य मंत्री के प्रति उत्तरदायी थे। बहुत से राज्यों में तो कोई विधानमंडल ही नहीं था। अतः ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक था। किन्तु, देशी राज्यों के कुछ लोग इस व्यवस्था से असन्तुष्ट हो गये। लेकिन यह असन्तोष सामन्तवादी

व्यवस्था के प्रजातांत्रिक व्यवस्था में परिवर्तन का अस्थायी परिणाम था। देशी राज्यों के निवासियों को उसके पूर्व स्वशासन की कोई शिक्षा तो मिली नही थी और न उस दिशा मे उन्हे कोई अनुभव ही था। फलतः, पद और अधिकार के लोभ ने वहाँ के अनेक नेताओं को लुभा लिया और उन्होंने अनेक राजनीतिक दल और समुदाय बनाने प्रारभ कर दिया। ये दल और समुदाय पदारूढ होने के लिए आपस मे कलह करने लगे और तरह-तरह की तरकीबो से सत्ता प्राप्त करने के प्रयास होने लगे। इन सब बातो पर केन्द्र को अत्यन्त सतर्कतापूर्वक ध्यान रखने की आवश्यकता तथा कभी-कभी हस्तक्षेप करने की भी आवश्यकता पडी। ऐसा करना तब तक आवश्यक भी था जब तक उन राज्यों में प्रजातंत्रीय परम्पराएँ स्थापित नही हो जाती और लोकात्मक व्यवस्था पूर्णतः सुव्यवस्थित नहीं हो जाती। भारतीय संविधान मे इस प्रकार के आवश्यक केन्द्रीय हस्तक्षेप की आगामी दस वर्षों तक के लिए व्यवस्था दी हुई है। सन् १९५१-५२ के निर्वाचनो के उपरान्त सभी भाग 'ख' राज्यो मे नियमानुसार उत्तरदायी शासन स्थापित हो गया।

भारतीय संघ का भौगोलिक विस्तार और उसकी इकाइयाँ—१ नवम्बर सन् १९५६ को राज्यो के पुनः सगठन होने के पूर्व भारतीय सघ के भू-क्षेत्र में सविधान की प्रथम अनुसूची मे 'क', 'ख', 'ग' और 'घ' वर्गों के अन्तर्गत वर्णित इकाइयाँ सम्मिलित थी। ये इकाइयाँ निम्नलिखित हैं—

भाग क	भाग ख	भाग ग	भाग घ
१. आंध्र	१. हैदराबाद	१. अजमेर	१. अंडमान और नीकोबार द्वीप समूह
२. आसाम	२. जम्मू और काश्मीर	२. भोपाल	
३. बिहार	३. मध्य भारत		
४. बम्बई	४. मैसूर	३. कुर्ग	
५. मध्य प्रदेश	५. पटियाला और पूर्वी पंजाब के राज्यो का संघ	४. दिल्ली	
६. मद्रास	६. राजस्थान	५. हिमाचल प्रदेश और बिलासपुर	
७. उडीसा	७. सौराष्ट्र	६. कच्छ	
८. पंजाब	८. तिर्वाकुर-कोचीन	७. मणीपुर	
		८. त्रिपुरा	
९. उत्तर प्रदेश		९. विन्ध्य प्रदेश	
१०. पश्चिमी बंगाल			

इनके अलावा भविष्य में जो अन्य भूभाग भारत में आयेंगे वे भी भारतीय भू-क्षेत्र के भाग माने जायेंगे। उदाहरण के लिए हाल मे ही भारत स्थित पुर्तगाली उपनिवेश स्वतंत्र होकर भारतीय क्षेत्र मे शामिल होकर उसके ही भाग बन गए है।

इन एकको के चार भागो में वर्गीकरण का संवैधानिक महत्व था। भाग 'क' की इकाइयाँ पहले के ब्रिटिश भारतीय प्रान्त थी। इन प्रान्तों में पहले से प्रजातंत्रीय शासन की पूर्ण व्यवस्था थी। भाग 'ख' वाली इकाइयाँ वे भूतपूर्व देशी राज्य अथवा उनके समूह थी। भाग 'ग' और 'घ' के राज्य सीधे संघ-शासन के अन्तर्गत थे और उनका प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त उपराज्यपाल, चीफ कमिश्नर या किसी पड़ोसी राज्य की सरकार द्वारा होता था। इनका सवैधानिक स्वरूप भाग 'क' और 'ख' के राज्यों से भिन्न था और यदि इन राज्यों मे किसी प्रकार का स्वायत्त शासन था भी तो उसकी मात्रा अपेक्षाकृत कम थी।

इकाइयों में परिवर्तन करने की प्रक्रिया—प्रारंभ मे नियत भारतीय संघ की इन इकाइयो पर अन्तिमता की छाप न थी। प्रारंभ ही से इन में परिवर्तन करने की माँग की जा रही थी और इसी कारण सविधान मे इस प्रकार के परिवर्तनो को करने की प्रक्रिया भी दे दी गई। भारतीय ससद कानून द्वारा वर्तमान राज्यो मे से किसी भी राज्य के क्षेत्र का पुनर्वितरण या एकीकरण करके नया राज्य स्थापित कर सकती है। वह वर्तमान राज्यो मे से किसी भी राज्य का नाम, सीमा या क्षेत्र भी कानून द्वारा बदल सकती है। अनुपूरक, आनुषंगिक और प्रासगिक जिन परिवर्तनों की भी आवश्यकता पड़े वे भी इसी प्रकार किये जा सकते हैं। यह सब करने के लिए संविधान में कोई सशोधन करना आवश्यक न होगा। ससद द्वारा बनायी एक सामान्य विधि ही पर्याप्त होगी। तथापि इस प्रकार की विधि बनाने के लिए कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश से ही संसद मे उपस्थित किया जा सकेगा। यदि उस विधेयक से राज्यो पर कोई प्रभाव पड़े तो संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को उस विधेयक को सम्बन्धित राज्य के विधानमडल के मत को जानने के लिए भेज देना आवश्यक है। विधानमंडल को अपना मतामत निर्दिष्ट समय के अन्दर प्रकट कर देना आवश्यक है।[1]

इस प्रक्रिया का राज्यों की स्वायत्तता (autonomy) पर प्रभाव—इसका अर्थ यह है कि भारतीय सघ की इकाइयों का कोई ऐसा सदा के लिए निश्चित स्वरूप नही है। कोई भी इकाई नष्ट हो जाने की संभावना से सुरक्षित नही है। यह बात संघीय व्यवस्था के सिद्धान्तो के विरुद्ध है क्योकि सघ राज्य अविनाशशील इकाइयो अथवा राज्यों का अविनाशशील संघ माना जाता है। अभिप्राय यह है कि सघ की इकाई राज्यों के

[1] अनु० ३ और ४

सीमा, क्षेत्र या नाम आदि में परिवर्तन करने का अधिकार अकेले केन्द्रीय सत्ता को नहीं होता। संघीय संविधान में या तो यह स्पष्ट आश्वासन दिया रहता है कि प्रत्येक इकाई का अस्तित्व सदैव सुरक्षित रहेगा या इस बात की व्यवस्था रहती है कि उनके स्वरूपादि में कोई भी परिवर्तन करने वाले संवैधानिक संशोधन संघीय सरकार और राज्यों की संयुक्त सम्मति द्वारा ही किये जा सकेंगे, जिससे इकाई राज्यों को भी अपने प्रभाव का उपयोग करने का अवसर मिले। भारतीय संविधान में केवल यह व्यवस्था है कि इकाई राज्यों में परिवर्तन-विषयक किसी भी विधेयक के संसद में उपस्थित किये जाने के पूर्व, राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के विधानमंडल का मत अवश्य जान ले लेकिन इस बात की कोई व्यवस्था नहीं है जो कि उस राज्य के विधानमण्डल द्वारा विधेयक के विरुद्ध मत प्रकट कर दिये जाने पर राष्ट्रपति को उसे संसद के समक्ष पारित होने के लिये न भेजे। वास्तविकता यह है कि भारतीय संघ का प्रत्येक इकाई राज्य अपने अस्तित्व के लिए संघ के राष्ट्रपति और संसद की दया पर निर्भर है। इनका राज्यों की स्वायत्तता पर गम्भीर प्रभाव पड़ सकता है। जब राज्यों के सिर पर हर समय कच्चे धागे से बंधी तलवार इस तरह लटक रही हो तो यह आशा नहीं की जा सकती कि वे संघ सरकार से अपने अधिकारों के विषय में जरा भी आत्मविश्वास के साथ लड़ सकेंगे।

यह सच है कि संविधान-निर्माताओं का उक्त व्यवस्था बनाते समय यह इरादा नहीं था कि इसका उपयोग राज्यों को धमकाने के लिए किया जाय। उनका लक्ष्य तो केवल इतना मात्र था कि राज्यों मे आवश्यक परिवर्तन और सुधार सुविधापूर्वक किये जा सकें। देशी राज्यों का एकीकरण करके जो इकाइयाँ बनाई गई थी वे बिल्कुल नई वस्तु थी और उनकी उपयोगिता की परीक्षा होनी अभी शेष थी। ब्रिटिश काल के पुराने प्रान्तों की भी भाषा के आधार पर पुनर्विभाजन की माँग की जा रही थी। अतएव—परिवर्तन के अवसर अनेक आ सकते थे और परिवर्तन की प्रक्रिया का सरल होना लाभदायी भी था। लेकिन संविधानों के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि वे ठीक उसी तरह कार्यान्वित नहीं हो पाते जैसा कि उनके निर्माता चाहते हैं। अतः राज्यों मे परिवर्तन की व्यवस्था के सम्बन्ध मे यह आशंका निर्मूल नहीं है कि संघ शासन उसका प्रयोग राज्यों को धमकाने के लिए करे। जिन परिवर्तनों की निकट भविष्य मे ही आवश्यकता प्रतीत हो, उनको करने के बाद यह आवश्यक है कि इस परिवर्तन क्रिया मे ऐसे संशोधन कर दिये जायें जिससे भविष्य में इकाई राज्यों का अस्तित्व अधिक से अधिक सुरक्षित रहे।

इकाई राज्यों के भाषावार पुनर्विभाजन की समस्या—लगभग एक पीढ़ी से भी अधिक समय से यह माँग की जा रही थी कि प्रान्तों का भाषावार क्रम से पुनर्गठन किया जाय। अंग्रेज़ी राज्य काल मे प्रान्तों का गठन अंग्रेजों ने उस समय की सैनिक, राजनीतिक प्रशासकीय आवश्यकताओं को देखते हुए किया था। प्रान्तों को बनाते समय प्रान्त

वासियो के स्वाभाविक सम्बन्धो तथा इच्छाओं का कोई ध्यान नही रखा गया था। अतः प्रान्तों की रूपरेखा अत्यन्त अवैज्ञानिक और मनमानी थी। भारतीय संवैधानिक समस्या को हल करने के लिए समय-समय पर नियुक्त समितियों जैसे माण्टफोर्ड समिति, साइमन कमीशन और नेहरू समिति आदि की रिपोर्टों में इस त्रुटि को स्वीकार किया गया। स्वयं कांग्रेस सन् १९२०-२१ से यह सिद्धान्त स्वीकार करती चली आ रही थी कि भाषाओं के आधार पर ही प्रान्त बनने चाहिये। अब, प्रजातंत्र की स्थापना हो जाने से भाषावार प्रान्तो या राज्यो का निर्माण पहले से भी अधिक आवश्यक कहा जाने लगा। इसका कारण यह है कि कोई भी शासन उस समय तक वस्तुत प्रजातान्त्रिक नही हो सकता जब तक उसका सारा कार्य नागरिकों की बोलचाल की भाषा मे न हो। यदि शासन की भाषा प्रजा,की नित्य की बोलचाल की भाषा से भिन्न हुई तो शासको और शासितो के बीच का अन्तर बराबर बना रहेगा। भाषा का अन्तर लोगो को एक-दूसरे से जितना दूर कर देता है उतना कदाचित नदियो और पर्वतो के व्यवधान भी नही करते।

जो लोग प्रान्तो या राज्यो के भाषावार पुनर्विभाजन के विरुद्ध हैं, उनका विरोध सिद्धान्त तथा सामयिक आवश्यकताओ दोनो पर आधारित है। सिद्धान्त के आधार पर विरोध करने वालो का कहना था कि भाषावाद साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता की तरह की एक विघटनात्मक प्रवृत्ति है। इससे राष्ट्रीय एकता को क्षति होती है। भाषावार प्रान्तो के कारण बहुत-सी अवाछनीय बाते हो सकती थी, यथा सकुचित पृथकता प्रवृत्ति, भाषा की दृष्टि से अल्पसंख्यक व्यक्तियो के प्रति दुर्व्यवहार, राष्ट्रीय सरकार के प्रति आस्था मे कमी, बहुत से छोटे-छोटे भाषावार राज्यो की माँगे आदि। सामयिक परिस्थितियो पर दृष्टि रखते हुए जो व्यक्ति उक्त परिवर्तन के विरोधी थे उनका कहना था कि यद्यपि भाषावार राज्य उचित था, पर वह समय उन्हे बनाने के लिए उपयुक्त नही था। राष्ट्रीय एकता के और अधिक सुदृढ हो जाने के बाद जब देश की आवश्यक आर्थिक एव राजनीतिक समस्याएँ सुलझ जायें तब भाषावार प्रान्तो के निर्माण का उपयुक्त समय हो सकता था।

इस समय कांग्रेस और भारत सरकार की यही घोषित नीति थी। सविधान परिषद् के कार्य आरम्भ कर देने के पश्चात् उसके अध्यक्ष ने भाषावार प्रान्तो के निर्माण के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की थी। यह समिति धर समिति के नाम से विख्यात है। इसने सन् १९४८ मे राज्यो के भाषावार पुनर्विभाजन के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया था। इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने के उपरान्त भाषावार राज्यों के समर्थकों मे बड़ा असतोष फैला। इस असतोष के निवारण के लिए सन् १९४८ के दिसम्बर मास मे जयपुर कांग्रेस मे इस प्रश्न पर नये सिरे स विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति के सदस्य थे पडित जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और डा० पट्टाभि सीतारमैया। यह समिति जे० वी० पी०

या जवाहर-वल्लभ-पटाभि समिति के नाम से प्रख्यात है। उसकी रिपोर्ट मार्च सन् १९४९ में कांग्रेस कार्यकारिणी के समक्ष उपस्थित की गई। कार्यकारिणी समिति ने इस पर विचार कर यह निश्चय किया कि यद्यपि राज्यों के भाषावार पुनर्विभाजन का उपयुक्त समय अभी नहीं आया, पर जिन भाषावार राज्यों की सीमा और विस्तार के सम्बन्ध में कोई विवाद न हो उन्हें सर्वसम्मति द्वारा स्थापित किया जा सकता था। आंध्र में इन सब शर्तों की पूर्ति की आशा थी, अतएव उसको मद्रास से पृथक करने की तैयारियाँ आरम्भ कर दी गयीं। कुछ समय के लिये लोगों को यह आशा हो गई थी कि आंध्र प्रान्त नये गणतंत्र के उद्घाटन के पूर्व ही बन जायगा। किन्तु इसी बीच राजधानी तथा कुछ अन्य बातों के सम्बन्ध में मतभेद उठ खड़े हुए। फलतः आंध्र राज्य का निर्माण-कार्य उस समय स्थगित करना पड़ा।

परन्तु आंध्र जनता के निरंतर आन्दोलन के फलस्वरूप अक्टूबर १९५३ में आंध्र राज्य की रचना कर दी गयी। इस राज्य की स्थापना से भाषावार राज्यों के समर्थकों को और बल मिला तथा उन्होंने अपनी माँगें बलपूर्वक रखनी प्रारम्भ कर दीं। फलतः राज्यों के पुनर्गठन की सम्पूर्ण समस्या पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने एक राज्य पुनर्गठन कमीशन की नियुक्ति कर दी। कमीशन की रिपोर्ट १९५५ के मध्य में प्रकाशित हुई। इस की सिफारिशों और भारत सरकार के उन पर निर्णयों को लेकर देश में वाद-विवाद का तूफान सा आ गया। बम्बई तथा उड़ीसा में उत्पात तथा दंगे भी हो गये। परन्तु अन्त में लोगों ने समझदारी से काम लिया और मतभेदों पर समझौता कर लिया। राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित हुआ और ३१ अगस्त सन् १९५६ को उस पर राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति दे दी। संविधान का सप्तम संशोधन विधेयक, जो राज्य पुनर्गठन से सम्बद्ध था, १९ अक्टूबर १९५६ को पारित हुआ। १ नवम्बर १९५६ को पुनर्गठित राज्यों का अस्तित्व प्रारम्भ हो गया।

भारतीय संघ की पुनर्गठित इकाइयाँ—राज्य पुनर्गठित आयोग १९५६ और संविधान सप्तम संशोधन अधिनियम के अनुसार भारतीय संघ की इकाइयों की संख्या २८ से घट कर २० रह गई। इकाइयों का क, ख, और ग श्रेणियों का वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया। क भाग वाले जो दस राज्य थे वे सभी पुनर्गठन के उपरान्त भी बने रहे, परन्तु उत्तर प्रदेश और उड़ीसा को छोड़ कर अन्य सभी में थोड़ा बहुत सीमा-परिवर्तन हुआ। भाग ख के जो ८ राज्य थे, केवल चार बच रहे अर्थात् जम्मू और काश्मीर, मैसूर, राजस्थान और ट्रावन्कोर-कोचीन (केरल के नये नाम से)। शेष ४ में से हैदराबाद विघटित हो गया और उस के भू-भाग आन्ध्र, मैसूर और बम्बई में बाँट दिये गये। मध्य भारत मध्य प्रदेश में और सौराष्ट्र बम्बई में मिला दिया गया। ग भाग के ६ राज्यों में से चार—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मनीपुर और त्रिपुरा संघीय भू-भाग

बना दिये और शेष पाँच अपने पड़ोस के राज्यों में मिला दिये गये—अजमेर राजस्थान में, भोपाल और विन्ध्य-प्रदेश मध्य प्रदेश में। कुर्ग मैसूर में, और कच्छ बम्बई में। १९५६ के पुनर्गठन के ३½ वर्ष बाद बम्बई का द्विभाषी राज्य दो भागों में विभक्त कर दिया गया और १ मई १९६० को उसके स्थान में महाराष्ट्र और गुजरात के २ पृथक राज्य स्थापित हुए। मराठी भाषाभाषी लोगों के संयुक्त महाराष्ट्र राज्य की स्थापना के लिए आन्दोलन के फल स्वरूप ऐसा करना पड़ा। महाराष्ट्र की राजधानी बम्बई रक्खा गया।

भारतीय संघ की पुनर्गठित इकाइयों का अब केवल दो श्रेणियों में वर्गीकरण किया गया है अर्थात् (१) राज्य, और (२) संघीय भू-भाग।

राज्यों की संख्या १५ है। राज्यों के नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) आन्ध्र प्रदेश
(२) आसाम
(३) बिहार
(४) गुजरात (१ मई १९६० को स्थापित)
(५) केरल
(६) मध्य प्रदेश
(७) मद्रास
(८) महाराष्ट्र (१ मई १९६० को स्थापित)
(९) मैसूर
(१०) उड़ीसा
(११) पंजाब
(१२) राजस्थान
(१३) उत्तर प्रदेश
(१४) पश्चिमी बंगाल
(१५) जम्मू और काश्मीर

संघीय भू-भागों की संख्या ६ है, वह इस प्रकार है—

(१) दिल्ली
(२) हिमाचल प्रदेश
(३) मनीपुर
(४) त्रिपुरा
(५) अंडमान निकोबार द्वीप समूह
(६) लक्का द्वीप, मिनीकाय और अमीनद्वीप समुदाय।

संघीय भू-भागो की संवैधानिक स्थिति तथा उनका केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध, राज्यों से भिन्न है, उनकी विशिष्ट स्थिति ही इसका कारण है, ये सभी छोटी इकाइयाँ है तथा दिल्ली को छोड़कर, या तो सीमा पर स्थित है या सैनिक महत्व के हैं। दिल्ली के अलावा यह सभी पिछड़े हुए हैं। दिल्ली भी इसी वर्ग मे रखी गई है क्योंकि वह संघ सरकार की राजधानी है और उसे केन्द्र के सीधे नियन्त्रण मे होना चाहिए।

क्या पुनर्गठन भाषावादी था ?—उपरोक्त वर्णित राज्यो के पुनर्गठन को प्राय: भाषावादी पुनर्गठन कहा गया है। यह पूर्ण रूप से सत्य नही है क्योंकि पुनर्गठन द्वारा बने सभी राज्य न तो एकभाषी थे और न भाषा पुनर्गठन का एक मात्र आधार ही था। चौदह राज्य इकाइयो मे से कम से कम दो—बम्बई और पजाब-द्विभाषी थे। पहला मराठी और गुजराती तथा दूसरा हिन्दी और पंजाबी भाषी प्रदेशों के योग से बना था। कदाचित् ही ऐसा कोई राज्य हो जिसमे ऐसे व्यक्ति न हों जो राज्य की जन-बहुमतमान्य भाषा से भिन्न भाषा न बोलते हो। पुनर्गठन के आधारो मे से भाषा केवल एक ही है। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे पुनर्गठन के चार आधारभूत सिद्धात बतलाये हैं[1]—

१—भारत की एकता एवं सुरक्षा की रक्षा तथा पुष्टि।

२—सस्कृति तथा भाषा की समानता।

३—वित्तीय, आर्थिक तथा शासकीय पर्याप्तता, और

४—राष्ट्रीय योजना का सफल परिचालन।

इस प्रकार भाषा के पुनर्गठन के आधारभूत सिद्धातो मे एक ही रही है।

इकाइयों का भविष्य—क्या यह कहा जा सकता है कि भारतीय संघ की इकाइयो की रचना अन्तिम रूप से हो गई और इनमे अब परिवर्तन की कोई सम्भावना नही है ?

इसमें संदेह नही कि अधिकाश इकाइयाँ पुनर्गठन के अन्तर्गत प्राप्त सीमाओ और प्रदेशो से संतुष्ट है परन्तु इनमे से दो—बम्बई और पंजाब—के समक्ष अब भी एक समस्या उपस्थित थी। बम्बई मे मराठी व गुजरातीभाषी जनता शामिल थी। यह कोई नई चीज नही और लगभग एक शताब्दी से अधिक वर्षो से ऐसा रहा था तथा यह व्यवस्था राष्ट्रीय ससद द्वारा पारित दोनो गुजराती व मराठी नेताओ द्वारा स्वीकृत समझौते के अनुसार थी तो भी, बात यह है कि मराठी जनमत बम्बई राजधानी सहित संयुक्त महाराष्ट्र का समर्थक था, और गुजराती जनमत यदि संभव हो तो बम्बई सहित और नही तो बम्बई के केन्द्र द्वारा प्रशासित शहर क्षेत्र बना कर एक अलग गुजरात

[1] राज्य पुनर्गठन आयोग विज्ञप्ति, पृष्ठ २५

राज्य की कामना करता था। कुछ समय के लिये यह विवाद शान्त होता दिखाई पड़ा, पर उसका अन्त नही हुआ और १ मई १९६० को बम्बई राज्य को महाराष्ट्र और गुजरात—इन दोनो राज्यो में विभक्त करना पड़ा। पंजाब मे हिन्दी-पंजाबी विवाद चालू है और राज्य में हिन्दी को अधिक महत्व का स्थान देने के लिए विवाद प्रारम्भ हो गया है। एक पंजाबी सूबा की माँग जिसके समर्थक मुख्यतया अकाली सिख हैं, रक्खी गई है और उसके लिए पर्याप्त आन्दोलन भी हो रहा है। संयुक्त महाराष्ट्र की स्थापना होने के कुछ पूर्व ही, पृथक विदर्भ राज्य के लिये आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और मई १९६० में इसके लिये नागपुर और कुछ अन्य नगरों मे उपद्रव भी हुए। हिमाचल प्रदेश की भी एक समस्या है क्योंकि वह संघीय भू-भाग के रूप मे हमेशा के लिए एक अलग इकाई नही रखा जा सकता। इसको शायद पंजाब मे विलीन करना पडे। राज्य पुनर्गठन की प्रक्रिया वाले संविधान व्यवस्था (धारा ३) अभी भी उपस्थित है जब तक कि इसे रद नही किया जाता तथा दूसरे संघो के समान इकाइयो को यह आश्वासन नही दिया जाता है कि उनको सम्मति के विरुद्ध उनकी सीमाओ मे कोई परिवर्तन नही किया जावेगा तब तक यह नही कहा जा सकता कि सघ की इकाइयो ने अन्तिम स्वरूप या स्थायित्व प्राप्त कर लिया है।

क्षेत्र और क्षेत्रीय परिषदें—पुनर्गठन विवादो से उत्पन्न पृथकता तथा संकीर्णता प्रवृत्तियो का सामना करने और योजना तथा दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय हितों के कार्यों मे अन्त-राज्यीय सहयोग की प्राप्ति के लिए राज्यपुनर्गठन अधिनियम कई राज्यो को मिला कर क्षेत्रों तथा क्षेत्रीय परिषदो की व्यवस्था करता है।

इस प्रकार पाँच क्षेत्र बनाये गए हैं और उनमें प्रत्येक के सामने लिखित राज्य व भू-भाग सम्मिलित हैं।[1]

१. उत्तरी क्षेत्र-सम्मिलित राज्य तथा भू-भाग, पंजाब, राजस्थान, जम्मू और काश्मीर, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश।

२. मध्यक्षेत्र—उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश।

३. पूर्वीय क्षेत्र—बिहार, पश्चिमी बङ्गाल, उडीसा, आसाम, मनीपुर तथा त्रिपुरा।

४. पश्चिमी क्षेत्र—बम्बई और मैसूर।

५. दक्षिणी क्षेत्र—आन्ध्र प्रदेश, मद्रास और केरल।

इनमे से प्रत्येक क्षेत्र मे एक क्षेत्रीय परिषद है जिसमे राष्ट्रपति द्वारा नामजद एक केन्द्रीय मंत्री, क्षेत्र में सम्मिलित राज्यों के मुख्य मंत्री, प्रत्येक सम्मिलित राज्य के राज्य-

[1] राज्य पुनर्गठन अधि० १९५६ खंड १५।

पाल (जम्मू और काश्मीर के सम्बन्ध मे सदरे-रियासत) द्वारा नामजद उस राज्य के दो अन्य मन्त्री, राष्ट्रपति द्वारा नामजद क्षेत्र मे सम्मिलित प्रत्येक केन्द्र-प्रशासित भू भाग से दो सदस्य तथा पूर्वीय क्षेत्र में आसाम के राज्यपाल के जन-जाति क्षेत्र के सलाहकार सम्मिलित हैं।[1] जिस राज्य में मन्त्रिमण्डल नहीं है वहाँ मुख्य मन्त्री तथा दो अन्य मन्त्रियों के स्थान पर राष्ट्रपति क्षेत्रीय परिषद में उस राज्य के प्रतिनिधित्व के लिए तीन व्यक्तियों को नामांकित करेगा। क्षेत्रीय परिषद का नामांकित केन्द्रीय मंत्री अध्यक्ष होता है और मुख्य मन्त्रियों में से प्रत्येक क्रमशः बारी-बारी से एक वर्ष की अवधि के लिए उपाध्यक्ष होता है।[2]

क्षेत्रीय परिषद में परामर्शदाताओं का भी एक दल होता है जिनमें से एक योजना आयोग द्वारा नियुक्त होता है और शेष सम्मिलित राज्यो के मुख्य मन्त्री और विकास आयुक्त (development commission) होते हैं। इसी प्रकार क्षेत्रीय परिषद की सदस्यता राजनीतिक है, पर उसकी परामर्श सस्था विशेषज्ञ-निर्मित है। ये परामर्शदाता परिषद के वाद-विवाद मे भाग लेते हैं परन्तु इन्हे मतदान का अधिकार नहीं है।[3] परिषद की बैठक के समय व स्थान का निर्धारण अध्यक्ष करता है परन्तु बैठक का स्थान क्षेत्र में सम्मिलित राज्यों में बारी-बारी से होता है। केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से कौंसिल स्वयं ही अपने कार्य-संचालक के नियम निर्धारित कर सकती है।[4]

निर्दिष्ट कार्यों के संचालन के लिए परिषद समितियों की स्थापना भी कर सकती है।[5] इसका एक सचिवालय भी है जिसका व्यय (सचिव के वेतन के अलावा) केन्द्रीय सरकार वहन करती है। परिषद का केन्द्र-स्थान जहाँ उसका कार्यालय स्थापित है परिषद द्वारा ही निश्चित होता है। यह स्थान क्षेत्र की सीमा के भीतर ही होता है।[6]

क्षेत्रीय परिषदो के कार्यों का जहाँ तक सम्बन्ध है, ये परामर्शदात्री संस्थाएँ हैं और किसी भी विषय पर जिससे कि कुछ या सभी सदस्य राज्य या केन्द्र और क्षेत्र के एक या अधिक राज्य सम्बद्ध हो, विचार-विमर्श कर सकती है। ऐसे किसी विषय पर वह केन्द्रीय सरकार और सदस्य राज्यो की सरकारो को सलाह दे सकती है। विशेषतः क्षेत्रीय परिषद निम्न विषयो पर विचार-विमर्श एव सिफारिशें दे सकती है।[7]

१—आर्थिक एव सामाजिक योजनाओ सम्बन्धी सामान्य हित का कोई भी विषय;

२—अन्तर्राज्यीय यातायात, अल्पसंख्यक भाषा समुदायो तथा सीमा-विवादों से सम्बन्धित कोई विषय, और

---

[1]राज्य पुनर्गठन कानून १६५६ खण्ड १६ (१), [2]वही खण्ड १६ (२) और (३) [3]वही खण्ड १६ (४) और (५), [4]वही खण्ड १७ (१) और (२) [5]वही खण्ड १८ (१) [6]वही खण्ड १६ और २०, [7]राज्य पुनर्गठन कानून १६५६ खण्ड २१।

३—राज्य पुनर्गठन और अधिनियम १९५६ के अन्तर्गत हुए राज्यो के पुनर्गठन से उत्पन्न या सम्बन्धित कोई विषय।

सामान्य हितो से सम्बन्धित विषयो के विचारार्थ दो या अधिक क्षेत्रो की परिषदों के संयुक्त अधिवेशन की भी व्यवस्था की गई है।[1]

क्षेत्रीय परिषदो की उपयोगिता का केवल भविष्य ही निर्णय कर सकता है। अभी तक केवल उत्तरी क्षेत्रीय परिषद की ही बैठक हुई है। केन्द्रीय गृहमन्त्री पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त उसके अध्यक्ष थे। उसमे विचार-विमर्श हुआ जिसके उपरान्त वह समाप्त हो गई। सघों मे अन्तर्राज्यीय सहयोग आवश्यक है और उसे प्राप्त करना होता है, परन्तु क्या इसके लिए क्षेत्रीय परिषदे जैसी स्थायी सस्थाओ की आवश्यकता विवाद का विषय है। अभी तक योजना और अन्य विषयों मे ऐसा सहयोग दिल्ली मे केन्द्रीय सरकार द्वारा बुलाई गई मुख्य मन्त्रियो तथा राज्य के अन्य कर्मचारियो के समय समय पर होने वाले सम्मेलनो द्वारा प्राप्त किया जाता रहा है। क्षेत्रीय परिषदे इस कार्य के लिए अधिक सुविधाजनक या प्रभावशाली सिद्ध होगी—यह संदिग्ध है। यदि ये सशक्त तथा सफल सिद्ध हुई तो ये हमारी वर्तमान दो स्तरो वाली संघीय प्रणाली को तीन स्तरो वाली तथा अधिक जटिल बना देगी, पर यदि ये असुविधाजनक या निरर्थक सिद्ध हुई (जैसी कि सम्भावना है) तो ये शीघ्र ही उपेक्षित तथा विस्मृत हो जावेगी। हमारे संविधान की गाड़ी मे ये परिषदे अन्य निरर्थक पांचवे पहिये के समान जान पड़ती हैं।

संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण—संघीय व्यवस्था का सार तत्व यह है कि उसमे संविधान द्वारा केन्द्र और राज्यो में शक्तियो का विभाजन कर दिया जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और स्विट्जरलैंड जैसे पुराने संघो में दो सूचियों द्वारा संघ और राज्यों के बीच स्पष्टतः शक्तियाँ विभाजित कर दी गयी हैं। इस प्रकार का शक्ति-विभाजन लोचरहित तथा असुविधाजनक सिद्ध होता है। कभी-कभी राज्य सूची के किन्ही विषयो के सम्बन्ध मे अखिल देशीय नीति का अनुसरण किया जाना आवश्यक होता है लेकिन संविधान मे औपचारिक रीति से संशोधन हुए बिना संघीय विधानमंडल ऐसे विषयो का नियमन कर ही नही सकता। अतः संविधान शास्त्रियों ने समवर्ती सूची (Concurrent list) रखने का उपाय खोज निकाला। इस सूची मे दिये गये विषयो पर सघ और राज्य—दोनो के विधानमडल—कानून बना सकते हैं। नये सघो मे तो समवर्ती सूचियो का आकार निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। सन् १९१९ के जर्मनी के संविधान मे उक्त तीन सूचियो के अतिरिक्त दो सूचियाँ और बढा दी गयी। दो नयी सूचियो में उन विषयो का उल्लेख था जो सामान्यतः राज्यो के अधीन रहते लेकिन जिन पर संघीय सरकार परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न मात्रा मे कानून

[1] वही खण्ड २२।

बनाने और प्रशासकीय नियंत्रण रख सकता था। ज्यों-ज्यों संघीय सविधानों का विकास होता जा रहा है त्यो-त्यो शक्तियो के अधिकाधिक केन्द्रण की प्रवृत्ति बढती जा रही है। यह केन्द्रण या तो सविधान के निर्माण के समय ही हो जाता है या बाद में न्यायाधीशो की व्याख्याओ अथवा औपचारिक संशोधनो द्वारा होता है। भारतीय संविधान में इस प्रवृत्ति की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यही कारण है कि सविधान मे आरम्भ से हो प्राय: वे सारी शक्तियां केन्द्र को दे दी गयी हैं जो उसके लिये अन्य देशो के अनुभवानुसार आवश्यक या वाछनीय सिद्ध हुई हैं।

भारतीय सविधान मे तीन सूचियो की पद्धति अपनायी गई है। प्रथम सूची मे उन विषयो का उल्लेख हुआ है जिस पर केवल केन्द्रीय विधानमंडल या संसद ही कानून बना सकती है। इसे सघ सूची (Union List) कहा गया है और इसमे ६७ विषय दिये गये हैं। इस सूची मे निम्नलिखित महत्वपूर्ण विषय हैं: प्रतिरक्षा (Defence), परराष्ट्र संबन्ध (Foreign Relations), युद्ध, शान्ति और सधियाँ; नागरिकता और विदेशियो को नागरिक बना सकने के अधिकार आव्रजन और प्रव्रजन; प्रत्यर्पण (Extradition); यातायात के साधन जिसमे रेलपथ और राष्ट्रीय महत्व की सड़के भी सम्मिलित हैं; नौवहन और नौपरिवहन, वायु पथ, डाक और तार विभाग, टेलीफोन, बेतार के तार और रेडियो; सार्वजनिक ऋण (सघीय), मुद्रा, नोट तथा विनिमय आदि; विदेशी और अन्तर्राज्य वाणिज्य तथा व्यापार, बैंकिंग, बीमा व्यवसाय और वित्तीय नियम, एकस्व (Patents) और व्यापार चिन्ह आदि, राष्ट्रीय महत्व के उद्योग, एक निश्चित सीमा के अन्दर खानो और खनिज धातुओ सम्बन्धी नियम; मत्स्य उत्पादन केन्द्र; नमक; अफीम, सिनेमा फिल्मो की स्वीकृति, दिल्ली, बनारस हिन्दू और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय; राष्ट्रीय महत्व की वैज्ञानिक और औद्योगिक संस्थाएँ, ऐतिहासिक स्मारको की रक्षा, जनसख्या गणना तथा अनुसंधानात्मक निरीक्षण (Survey), संघीय लोकसेवाएँ, सङ्घीय और राज्यों में निर्वाचन सङ्घ और राज्यो की लेखा परीक्षा (audit); उच्च और उच्चतम न्यायालयो की रचना और सङ्गठन, आयकर (कृषि से होने वाली आय को छोड़ कर आयात और निर्यात कर (Customs); मदिरा, अफीम, भंग तथा अन्य नशीले पदार्थों को छोड कर अन्य वस्तुओ पर उत्पादन कर; निगम कर; कुछ अपवादो के सहित सम्पत्ति के मूल्य पर कर, सम्पत्ति और उत्तराधिकार कर; कृषि भूमि को छोड़ कर वस्तुओ या यात्रियो पर सीमा कर, स्टाक के सौदे पर कर; विनिमय-पत्रो, चेको आदि पर स्टाम्प कर; समाचारपत्रो के विक्रय तथा उनके विज्ञापनो पर कर; समाचारपत्रो को छोड़ कर अन्य वस्तुओ के क्रय-विक्रय पर कर, यदि ऐसा क्रय-विक्रय अन्तर्राज्य व्यापार के सम्बन्ध मे हुआ हो।[१] सङ्घ सूची मे दिये

---

[१] संविधान के छठवे संशोधन अधिनियम १९५६ द्वारा संशोधित।

गये विषयों में से किसी पर फीस; उच्चतम न्यायालय को छोड़ कर अन्य न्यायालयों के संघीय सूची के विषयों से सम्बन्धित क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ।

दूसरी सूची का नाम राज्य सूची (State list) है। इसमें वे विषय दिये हैं जिन पर केवल राज्यों का ही अधिकार रहेगा। इस सूची में ६६ विषय हैं। इनमें महत्वपूर्ण विषय ये हैं—सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, न्याय प्रबन्ध, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को छोड़ कर अन्य सब न्यायालयों की स्थापना और संगठन; जेल, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता; चिकित्सालय और औषधालय; मादक पेय; शिक्षा (वे विषय छोड़ कर जो सङ्घ के अधीन हैं।); सड़कें और जलपथ, कृषि, सिंचाई, भूमि-प्रबन्ध और भूमिअधिकार (land tenure); वन; कुछ नियंत्रणों के साथ उद्योग और वाणिज्य, तौल और माप, निगमन (Incorporation) नाट्यशालाएँ तथा सिनेमा आदि, राज्य लोक सेवाएँ, राज्य लोकऋण, भूमि राजस्व, कृषि से होने वाली आय पर कर, कृषि भूमि सम्बन्धी सम्पत्ति कर तथा उत्तराधिकारी कर; भू-राजस्व; भूमि, मकानों तथा खनिज अधिकारों पर कर, मद्य, अफीम, भाँग तथा अन्य नशीले पदार्थों पर कर; स्थानीय क्षेत्रों में उपयोग के लिए लाये जाने वाले पदार्थों पर, चुंगी, समाचारपत्रों और अन्तर्राज्य व्यापार के सम्बन्ध में हुए क्रय विक्रय को छोड़ अन्य वस्तुओं पर क्रय-विक्रय कर, समाचारपत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों को छोड़ कर अन्य विज्ञापनों पर कर, पशुओं तथा सवारियों पर कर, वृत्तियों और व्यापारों पर कर, विलास की वस्तुओं तथा आमोद प्रमोद पर कर, पण लगाने और जुआ खेलने पर कर, स्टाम्प कर, व्यक्ति कर और किसी न्यायालय में लिये जाने वाले शुल्कों को छोड़ कर इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में शुल्क।

तीसरी और आखिरी, समवर्ती सूची (Concurrent list) है जिसमें ४७ विषय हैं। इनमें से ये विषय अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं—फौजदारी कानून और दण्ड प्रक्रिया (Criminal law and Procedure), निवारक-निरोध (Preventive detention), विवाह और तलाक (Marriage and Divorce), वसीयत विहीन स्थिति, गोद लेना और उत्तराधिकार, कृषि भूमि छोड़ कर अन्य सम्पत्ति का हस्तांतरण, रजिस्ट्री, (Registration), संविदा (Contract) दिवाला, प्रन्यास; (trusts) प्रमाण (evidence) और शपथें, पागलपन, खाद्य पदार्थों और अन्य वस्तुओं का मिश्रण की रोकथाम, औषधियाँ और विष, आर्थिक और सामाजिक योजनाएँ; श्रमिक सङ्घ (Trade unions), श्रम सम्बन्धी झगड़े और श्रमिक कल्याण (labour welfare), वकालत, डाक्टरी, वैद्यक तथा अन्य पेशे; स्वास्थ्य-सम्बन्धी आँकड़े, राज्य के आन्तरिक जलपथों पर यंत्र-चालित नौकाओं द्वारा परिवहन, सार्वजनिक हित में

औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन, संरक्षण तथा वितरण का नियंत्रण, मूल्य-नियंत्रण, समाचार पत्र और मुद्रणालय, निष्क्रमणार्थी सम्पत्ति, अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए प्रतिकर, न्यायिक स्टैम्पों द्वारा संग्रहित शुल्कों को छोड़ कर अन्य स्टैम्प शुल्क (Stamp duty) तथा इस सूची के विषयों मे से किसी के बारे मे फीसें। ये सारे विषय ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में सङ्घ और राज्य दोनो सरकारों को अधिकार प्राप्त है।

समवर्ती क्षेत्र मे अधिकार क्षेत्रीय संघर्ष—यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर राज्य और सङ्घ दोनो कानून बना दें और ये कानून एक दूसरे के विरुद्ध हों तो क्या होगा ? सामान्यतः सङ्घ का कानून राज्य के कानून से प्रबल और मान्य होगा लेकिन यदि भाग 'क' और 'ख' राज्यों का कानून सुरक्षित रखे जाने के बाद किसी सङ्घीय विधि के प्रतिकूल राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त कर चुका हो तो वह विरोधी सङ्घ कानून को दबा कर स्वयं मान्य होगा। बाद में संसद चाहे तो राज्य के उस कानून मे परिवर्तन और संशोधन कर सकती है।[1] संविधान की यह व्यवस्था भारत सरकार के सन् १९३५ के अधिनियम की १०७ वी धारा का रूपांतर मात्र है। यह बात निम्नलिखित दृष्टान्त से और स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि उत्तर प्रदेश की सरकार समाचारपत्रों पर कोई प्रतिबन्ध लगानेवाली विधि पारित कर देती है। सङ्घीय संसद उनमें से कुछ प्रतिबन्धों को हटाते हुए एक विधि पारित कर देती है। ऐसी दशा मे सङ्घ की विधि को प्राथमिकता प्राप्त हो गई और उत्तर प्रदेश की विधि उस सीमा तक शून्य हो जायगी जिस सीमा तक वह सङ्घ की विधि से असंगत है। अब उत्तर प्रदेशीय विधानमण्डल पुनः एक ऐसी विधि पारित करता है जिसमें सङ्घ विधि द्वारा उन्मूलित प्रतिबन्ध समाचारपत्रों पर पुनः लगाये जाते हैं तो इस प्रकार के विधेयक को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रख छोड़ेंगे और यदि राष्ट्रपति उत्तर प्रदेश की स्थिति को देखते हुए उक्त विधेयक को अपनी स्वीकृति दे देते है तो सङ्घीय विधि के प्रतिकूल होते हुए भी उत्तर प्रदेश मे उत्तर प्रदेश विधानमंडल द्वारा पारित विधि ही मानी जायगी। यदि सङ्घीय संसद उत्तर प्रदेश की विधि के प्रतिकूल उत्तर प्रदेश के समाचारपत्रों को प्रतिबंधमुक्त करना चाहती है तो वह तत्संबंधी विधि बनाने के लिए स्वतंत्र है। इस प्रक्रिया का लक्ष्य यह है कि समवर्ती क्षेत्र में संसद और उसकी विधियों की स्थिति सर्वोच्च रहे। यद्यपि नमनशीलता और सुविधा की दृष्टि से सङ्घ विरोधी राज्य विधि की वैधता को बिल्कुल ही समाप्त नही कर दिया गया है, तथापि उसकी वैधता कुछ मामलो में राष्ट्रपति की स्पष्ट स्वीकृति पर निर्भर करती है। इतने पर भी यदि संसद चाहे तो राष्ट्रपति की स्वीकृति को भी नये कानून द्वारा निरर्थक कर सकती है।

[1] अनु० २५४

अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers)—अवशिष्ट शक्तियाँ वे है जिनका किसी भी सूची मे स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख नही है। यह तथ्य है कि संविधान निर्माता चाहे कितने ही सावधान और सतर्क क्यों न रहे वे ऐसी व्यापक सूची नही बना सकते जिसमे समस्त शासनिक शक्तियों का स्पष्टत: उल्लेख कर दिया गया हो। वर्तमान काल की परिवर्तनशील परिस्थितियो मे नित्य नई शक्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। आज से दो पीढ़ी पूर्व कोई भी यह नही समझता था कि वायु पथ पर भी शासनिक नियंत्रण की आवश्यकता होगी। लेकिन विमानो के विकास तथा वायु-यातायात के प्रसार के कारण वायुपथ पर सरकारी नियंत्रण होना आवश्यक ही नही किन्तु परमावश्यक हो गया है। अत: प्रत्येक सङ्घीय संविधान इन अवशिष्ट शक्तियो को सङ्घ के किसी पक्ष को सौंप देता है।

वर्तमान सङ्घ राज्यो मे से संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रेलिया के संविधान ऐसे हैं जो इकाइयों (units) को अवशिष्ट शक्तियाँ देते हैं, किन्तु कनाडा के सविधान मे यह शक्ति सघ शासन को दी गई है। इस मामले में हमारे सविधान ने कनाडावाली व्यवस्था को माना है। अवशिष्ट शक्तियों तथा करो का जिनका संविधान की शक्ति सूचियो मे से किसी मे भी उल्लेख नही है सघ सरकार को ही दिये गये हैं।[1] उसका प्रभाव यह होगा कि संघीय सरकार राज्यो की तुलना मे सबल रहेगा।

संघ संसद की राज्यों के विषयों के सम्बन्ध में कानून-निर्माण की शक्ति—कुछ विशिष्ट उद्देश्यो के लिए और कुछ विशेष अवस्थाओ में संघ संसद उन विषयो पर भी कानून बना सकती है जो केवल राज्यो के हैं।

प्रथम, यदि राज्य परिषद (Council of States) उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर देती है कि वैसा करना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है तो संसद राज्यो की सूची मे लिखित किसी भी विषय से विधियाँ बना सकती है। यह प्रस्ताव एक बार पारित हो जाने के बाद एक वर्ष तक प्रभावशील रहेगा लेकिन राज्य परिषद् जितनी बार चाहे उतनी बार उसे पुन: पारित करके उसकी अवधि बढाती रह सकती है। जब तक यह प्रस्ताव प्रभावशील रहेगा तब तक संसद उसमें कथित विषयों पर विधियाँ बना सकती है। इस प्रकार से जो भी विधियाँ बनाई जायँगी वे प्रस्ताव की अवधि के समाप्त होने के छ: मास पश्चात् उस मात्रा में प्रभावशून्य हो जायँगी, जिसमे वे संसद के विधि निर्माण की सीमा से वहिर्गत है।[2]

द्वितीय अनुच्छेद ३५२ के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा की गई संकटकाल की घोषणा के दौरान मे राज्य सूची के किसी भी विषय पर समस्त भारत या उसके किसी भी भाग

[1]अनु० २४८, [2]अनु० २४९

के लिए विधि बना सकती है। संकट काल की घोषणा की समाप्ति के ६ मास बाद ऐसी विधियाँ उस मात्रा में जिसमे वे संसद के अधिकार क्षेत्र के बहिर्गत हो प्रभावहीन हो जायगी।[1]

तृतीय, यदि किसी राज्य में संवैधानिक व्यवस्था विफल हो जाती है तो राष्ट्रपति घोषणा करके सम्बन्धित राज्य के लिए विधियाँ बनाने की शक्ति संसद को दे सकता है। ऐसे सम्बन्धित राज्य के लिए संसद राज्य-सूची में दिए गए विषयों पर भी विधियाँ बना सकती है।[2] संसद चाहे तो इस शक्ति का स्वयं प्रयोग करने के स्थान पर राष्ट्रपति को ही इस बात का अधिकार दे दे कि वे अपने किसी प्रतिनिधि को उक्त राज्य के लिए विधियाँ बनाने का अधिकार सौंप दे। इस प्रकार, जो भी विधियाँ बनेंगी वे घोषणा की कालावधि की समाप्ति के एक वर्ष बाद अप्रवृत्त हो जायँगी।[3]

चतुर्थ, यदि दो या इससे अधिक राज्यों के विधानमंडल से प्रस्ताव पारित करके संसद से अनुरोध करे कि वह उनके लिए किसी राज्य विषय पर संयुक्त विधि बना दें, तो वह ऐसा कर सकती है। बाद में इस प्रकार की विधि को अन्य राज्य भी अपने यहाँ के विधानमंडलों से इस आशय का प्रस्ताव पारित कराके स्वीकार कर सकते है।[4]

अन्त में, संसद को किसी संधि या अन्तर्राष्ट्रीय संविदा को कार्यान्वित कराने के लिए ऐसी विधियाँ बनाने की शक्ति है जो आवश्यक हों; भले ही उन विधियों का सम्बन्ध राज्यसूची के विषयो से ही क्यो न हो।[5] इस प्रकार की शक्ति के न होने के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका संघ सरकार को कई झगड़ो का सामना करना पड़ा और परराष्ट्र सम्बन्ध के कई मामलो तथा सम्बन्धियो को क्रियान्वित कराने मे कई बार झगड़ो का सामना करना पड़ा। उदाहरणार्थ, केलिफोर्निया राज्य का कहना था कि वह अपने यहाँ बसे जापानियो के साथ जैसा व्यवहार चाहेगा करेगा और जापान अमेरिका की संघ सरकार पर बराबर यह दोषारोपण करता रहा कि अमेरिका मे बसे उसके यहाँ के लोगो के साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा है; परन्तु अमेरिका का संघ शासन इस मामले मे बिल्कुल शक्तिहीन था। इस अनुभव से भारत ने चेतावनी ग्रहण की। भारतीय संविधान मे संघ संसद को इस सम्बन्ध से पर्याप्त शक्तियाँ प्राप्त है।

डायसी ने संघव्यवस्था का यह एक मौलिक दोष बतलाया है कि शक्ति विभाजन के कारण संघीय शासन देश के आन्तरिक और बाह्य मामलो का शक्ति-विभाजन के कारण समुचित प्रबन्ध नही कर पाता। भारतीय संविधान मे संघ शासन को उपरोक्त शक्तियो के दे दिये जाने से संघीय व्यवस्था का मौलिक दोष बहुत कुछ दूर हो जाता है; क्योंकि

[1] अनु० २५०, [2] अनु० ३५६ (१) (ख), [3] अनु० ३५७, [4] अनु० २५२, [5] अनु० २५३।

संविधान में दी गई व्यवस्थाओं के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर संसद राज्यसूची के विषयों पर भी विधेयन कर सकती है।

संघ और राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध—जिन मामलों में संघ-संसद को विधि-निर्माण के अधिकार प्राप्त हैं उन सबकी कार्यपालिका शक्ति भी संघ सरकार में निहित है। समवर्ती विषय इसके अपवाद हैं। समवर्ती सूची के विषयों का प्रशासन सामान्यतः राज्यों के अधीन है। राज्य ही अपने-अपने क्षेत्रों में उनका प्रयोग करते है। ऐसा तब तक रहेगा जब तक संविधान विधि द्वारा अन्य व्यवस्था नहीं की जाती। अनेक विषय ऐसे भी हैं जो संघ सूची में हैं पर उनका शासन प्रबन्ध राज्य करते आ रहे हैं। इस प्रकार की वर्तमान व्यवस्था तब तक चलती रहेगी अर्थात् इन विषयों का शासन प्रबन्ध राज्यों और उनके अधिकारियों द्वारा तब तक होता रहेगा जब तक संसद विधि द्वारा कोई अन्य निर्णय नहीं कर देती।[1]

वर्तमान व्यवस्था यह है कि सीमा कर, केन्द्रीय उत्पादन कर, आयकर, रेलपथ, डाकघर आदि का प्रशासन तो सीधे केन्द्रीय शासन के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के हाथ में है और शेष संघीय विषयों का प्रशासन तथा केन्द्रीय विधियों को कार्यान्वित करने का भार सामान्यतः राज्य अधिकारियों के हाथ में सौंपा गया है। उच्चतम न्यायालय को छोड़ कर केन्द्रीय या संघीय विधियों का पालन कराने के लिए जितने भी न्यायालय हैं, वे राज्य न्यायालय ही हैं। यह सच है कि संघ की कुछ अखिल भारतीय सेवाएँ हैं—भारतीय प्रशासन सेवा और भारतीय पुलिस सेवा आदि। इन सेवाओं के सदस्य ही राज्यों के उच्च पदों पर भी काम करते हैं। संघ शासन और राज्य प्रशासन के बीच शृङ्खलात्मक कड़ियों का कार्य करेंगी।[2] यह भी सत्य है कि और संघीय न्यायालयों की भी स्थापना हो सकती है जिससे संघीय विधियों का पालन अधिक अच्छी तरह हो सके।[3] परन्तु इसकी कोई संभावना नहीं है कि संघीय विधियों के पालन और संघीय विषयों के प्रशासन के लिए केन्द्रीय शासन एक सर्वथा अलग संघीय अधिकारी मंडल और न्यायालयों की स्थापना करे। संयुक्त राज्य अमेरिका ही एक मात्र ऐसा देश है जिसमें संघीय विधियों का पालन कराने के लिए एक सांगोपांग संघीय कार्यपालिका और न्यायपालिका का एक अलग प्रबंध (Agency) है। किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था बड़ी व्ययसाध्य होती है और साथ ही असुविधाजनक भी। भारत में संघ सरकार (Union Government) संघीय विधियों के पालन कराने में बहुत-कुछ राज्यों के अधिकारियों पर ही निर्भर करेगी। यही अधिकांश अन्य संघ-राज्य भी करते हैं। भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि वह किसी संघ विषय या विषयों को प्रशासनार्थ

---

[1] अनु० ७३, [2] अनु० ३१२, [3] अनु० २४७,

राज्य शासनो को सौंप सकता है। सघ की संसद भी संघीय मामलों के संबंध में राज्य के अधिकारियो को अधिकार दे सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि संघ-संबंधी कार्यों को कराने मे जो अतिरिक्त व्यय होगा वह संघ सरकार देगी।[१]

संविधान मे यह स्पष्ट निर्देश है कि राज्य अपनी कार्यकारिणी शक्ति का उपयोग इस भाँति करे, कि संघीय विधियो के पालन तथा सघीय प्रशासन के संचालन में बाधा न पड़े। ऐसा निर्देश इसलिए, दिया गया है जिससे राज्य के केन्द्रीय विधियों या कार्यो के करने मे अनमनापन न दिखलाये और न उन कार्यो को असतोषजनक ढङ्ग से करे। सघशासन राज्यो को आवश्यक आदेश दे सकता है, विशेषतः राष्ट्रीय महत्व के सञ्चार-साधनो के निर्माण और उन्हें बनाये रखने तथा राज्यो की सीमा मे स्थित रेल पथों की रक्षा के लिए।[२]

यदि कोई राज्य सरकार सघीय विषयो के संबंध मे संघ शासन के निर्देशों का पालन नही करती है तो राष्ट्रपति अपने सङ्कट-कालीन अधिकार के प्रयोग द्वारा उक्त राज्य मे संविधान को विफल घोषित कर सकता है। इस घोषणा के बाद राष्ट्रपति उक्त राज्य के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले सकता है।[३]

सङ्कटकालीन घोषणा की अवधि मे सघ-शासन किसी भी राज्य के अधिकारियो को यह निर्देश दे सकता है कि वे अपनी कार्यपालिका शक्ति का अमुक प्रकार से प्रयोग करें। सविधान के विफल हो जाने की अवस्था मे राष्ट्रपति घोषणा करके किसी भी राज्य के राज्यपाल, राजप्रमुख या अन्य किसी भी अधिकारी के पद के अधिकारो को अपने हाथ में ले सकते हैं।[४]

संघ-शासन का यह कर्तव्य है कि वह बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक उत्पातो से राज्यो की रक्षा करे और यह देखे कि उनका शासन सविधान में दी गई व्यवस्थाओ के अनुसार ही हो रहा है।[५] इन कर्तव्यो का पालन करने में संभवतः कभी कभी केन्द्र के विशुद्ध राज्य-विषयो मे भी हस्तक्षेप करना पड़ सकता है।

असंघीय मामलो में अन्तर्राज्य सहयोग—सघ शासन को संविधान द्वारा ऐसी कुछ शक्तियाँ प्राप्त हैं जिनकी सहायता से वह विभिन्न राज्यों की नीतियो का समन्वय (Co-ordination) कर सकता है। उनके आपस के झगड़े भी निपटा सकता है। राष्ट्रपति राज्यों के आपस के झगड़ो के निर्णय मे परामर्श देने के लिए अतर्राज्य परिषद की नियुक्ति कर सकता है। यह परिषद् राज्यों के लिए सामान्य महत्ववाले विषयो का अनुसधान उन पर विचार विनिमय कर सकती है। वह राज्यो की नीति के समन्वय और क्रियान्वय के विषय मे भी सलाह दे सकती है।[६] किन्तु, इस परिषद् के कर्तव्य

[१]अनु० २५८ [२] अनु० २५६ और २५७, [३] अनु० २६५, [४] अनु० ३५३, (क), ३५६ (१) (क), [५] अनु० ३५५, [६] अनु० २६३

परामर्श देने तक ही सीमित रहेंगे। कई राज्यों मे होकर बहने वाली नदियों के जल के उपयोग तथा वितरण संबंधी मतभेदों का निर्णय संघ की संसद के कानून के अनुसार ही होगा। इस मामले में उच्चतम या अन्य न्यायालय कोई भी हस्तक्षेप न कर सकेंगे।[१]

राज्यों से सम्बन्धित कुछ मामलों का संघ द्वारा नियमन (Regulation)—कुछ ऐसे मामले हैं जिनका सम्बन्ध राज्य तथा संघ दोनों से है लेकिन उनका नियमन या तो केवल या मुख्यतः संघ द्वारा होता है। इस प्रकार राज्यो तथा संघ में होने वाले सभी निर्वाचनों का अधीक्षण, निर्देशन और नियत्रण निर्वाचन आयोग (Election Commission) द्वारा होता है, जिसकी कि नियुक्ति सघ का राष्ट्रपति करता है।[२] इसी प्रकार ंघ तथा राज्यो के हिसाबो का परीक्षण नियंत्रक और महालेखा परीक्षक करता है।[३] राष्ट्रपति कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य लोक सेवा आयोगो के अध्यक्ष और सदस्यों को भी हटा सकता है।[४] अनुसूचित जातियों और पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण की देख-भाल का भार विशेष रूप से राष्ट्रपति को सौंपा गया है। राष्ट्रपति उनकी अवस्था की जाँच-पड़ताल के लिए आयोग की नियुक्ति कर सकता है और आयोग की सिफारिशो के अनुसार राज्यों से उनकी दशा में सुधार करने के लिए कह सकता है।[५] यद्यपि उच्च न्यायालय (High Courts) राज्य-न्यायालय हैं फिर भी उनका सगठन सघीय विषय हैं और उनके न्यायाधीशो की नियुक्ति, पदच्युति और स्थानान्तरण राष्ट्रपति ही करता है।[६]

संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध—संघीय प्रणाली मे वित्त की आदर्श व्यवस्था तो यह है कि संघ और राज्य के राजस्व के स्रोतो को स्पष्टतः अलग-अलग विभक्त कर दिया जाय और सघ तथा राज्य दोनो वित्तीय दृष्टि से अपने-अपने क्षेत्रो मे स्वतन्त्र हैं। किन्तु शायद ही कोई देश ऐसा हो जो इस आदर्श तक पहुँच सका हो। संयुक्त राज्य अमेरिका इस आदर्श के सबसे अधिक निकट पहुँच सका है, लेकिन अन्य स्थानों में या तो संघ शासन अपने कोष से इकाइयों की सहायता करता है या इकाइयाँ अपनी आय से संघ के राजकोष को मदद देते हैं। कनाडा तथा आस्ट्रेलिया मे तो केन्द्र ही इकाइयों की सहायता करता है लेकिन स्विट्जरलैंड में इकाइयाँ संघ को अपनी आय का कुछ अंश देने के लिए बाध्य की जा सकती हैं। आजकल अमेरिका तक मे केन्द्रीय शासन या सघ ने राज्यो को वित्तीय अनुदान देने आरम्भ कर दिये हैं। जिस आदर्श को धनी और सम्पन्न संघराज्य भी क्रियान्वित न कर सके वह आदर्श स्वभावतः भारत जैसे निर्धन देश के लिए असम्भव था। फलतः संविधान में शक्ति सूचियो के अन्तर्गत राजस्व

---

[१] अनु० २६२, [२] अनु० ३२४, [३] अनु० २५० और २५१, [४] अनु० ३१७, [५] अनु० ३३६ और ३४०, [६] अनु० २१७

के स्रोतों का विभाजन किया गया है, किन्तु वह अस्पष्ट और अपूर्ण है। राज्यों को जितने धन की आवश्यकता है, आय के साधन उससे बहुत कम उन्हें मिले हैं। फलतः संविधान में ऐसी बहुत-सी अनुपूरक व्यवस्थाएँ दी हुई हैं जिनके द्वारा संघ की आय के कुछ अंश को विभिन्न रूपों में राज्यों को दिया गया है।[1] इसका परिणाम यह हुआ है कि राज्यों और संघ के वित्तीय सम्बन्ध बहुत जटिल और उलझे हुए से हो गये हैं। बहुत से ऐसे कर हैं जिनको केन्द्र या सङ्घ द्वारा लगाया जाता है किन्तु उनको वसूल करना और काम में लाना राज्यों के अधीन है। ऐसे भी कई सङ्घीय कर हैं जो सङ्घ के अधिकारी ही वसूल करते हैं किन्तु उनकी आय राज्यों को दे दी जाती है या सङ्घ और राज्यों में बाँट दी जाती है। राज्यों के कुछ करों पर अतिरिक्त उपकर (Cess) लगा कर उसकी आय सङ्घ के कोष में चली जाती है। इसके अलावा केन्द्र या सङ्घ द्वारा राज्यों को अनुदान भी दिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार सङ्घीय अर्थ व्यवस्था वाले अध्याय में किया गया है।

संघ और राज्यों के पारस्परिक उत्तरदायित्व और प्रतिबन्ध—व्यापार-वाणिज्य के मामलों में सङ्घ या राज्य दूसरे सहयोगी राज्य के साथ कोई भेदभाव नहीं कर सकते। इस प्रकार का भेदभाव निषिद्ध है। लोकहित की दृष्टि से आवश्यक प्रतिबन्धों को छोड़ कर भारत के सभी क्षेत्रों में व्यापार-वाणिज्य तथा गमनागमन की स्वतन्त्रता है।[2] राज्यों को अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करना होता है कि उससे किसी सङ्घीय विधि के पालन में कोई बाधा न पड़े।[3] सङ्घ और राज्यों, दोनों के एक-दूसरे के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों और न्याय सम्बन्धी कार्रवाइयों को प्रामाणिकता (Credit) देनी आवश्यक है। व्यवहार-न्यायालयों (Civil Courts) के अन्तिम आदेशों और निर्णयों को वे चाहे देश के किसी भी भाग में दिये गये हों, देश में कहीं भी क्रियान्वित किया जा सकता है।[4] अन्त में सङ्घ का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्यों की बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक उत्पातों से रक्षा करे और यह देखे कि राज्यों में संविधान की व्यवस्थाओं द्वारा शासन हो रहा है या नहीं।[5]

संघ व्यवस्था में विभिन्नता के कुछ तत्व—भारतीय संघ के सभी राज्यों या एककों से समान सम्बन्ध नहीं है। यहाँ समान सम्बन्धों से आशय सम्बन्धों की एकरूपता (uniformity) से है। इस पुस्तक के गत पृष्ठों में संघ और एककों के पारस्परिक सम्बन्धों का जो विवरण दिया गया है वह केवल राज्यों पर लागू होता है और उनमें भी जम्मू और काश्मीर राज्य के सङ्घ से सम्बन्ध अन्य राज्यों की अपेक्षा कुछ भिन्न हैं।

[1]अनु० २६८ से २८१, [2]अनु० ३०१ से ३०३, [3]अनु० २५६ और २५७, [4]अनु० २६१, [5]अनु० ३५५।

सङ्घीय भू-भागों, (Union territories) के केन्द्र से जो सम्बन्ध हैं, वे सङ्घीय न होकर एकात्मक राज्य की भाँति हैं।

संघ में जम्मू और काश्मीर राज्य की स्थिति—आरम्भ में जम्मू और काश्मीर राज्य भारत मे केवल उन्हीं विषयो में सम्मिलित हुआ था जिनका उल्लेख विलयनपत्र (Instrument of Accession) में किया गया था। ये विषय तीन थे अर्थात्—परराष्ट्र सम्बन्ध, प्रतिरक्षा और सचार साधन। राष्ट्रपति राज्य की सरकार से परामर्श करके यह घोषणा कर सकता था कि उक्त तीन विषयो का सघ सूची के किन-किन विषयो से सम्बन्ध है और सङ्घ की संसद को केवल उन्ही विषयो के अन्तर्गत काश्मीर राज्य के लिए कानून बनाने का अधिकार था। काश्मीर सरकार की सहमति से राष्ट्रपति सघीय संसद को संघ सूची के अन्य विषयो पर भी काश्मीर के लिए विधियाँ बनाने का अधिकार दे सकता था। काश्मीर राज्य की ही संविधान परिषद् को उक्त राज्य का सविधान निश्चित करने और भारत और काश्मीर के पारस्परिक सम्बन्ध तय करने का अधिकार था। काश्मीर को दिये गये ये विशेषाधिकार राष्ट्रपति की एक सार्वजनिक विज्ञप्ति द्वारा किसी भी समय समाप्त किये जा सकते थे और काश्मीर की स्थिति भी अन्य समकक्ष राज्यों की ही भाँति घोषित की जा सकती थी। लेकिन ऐसा तभी हो सकता था जब काश्मीर की संविधान परिषद् वैसा करने की सिफारिस कर देती।[1] साथ ही साथ सविधान के पहले अनुच्छेद के अनुसार काश्मीर भारत का अविभाज्य भाग था।

सन् १९५४ में १४ मई को दिये गये राष्ट्रपति के आदेश के अनुसार जम्मू और काश्मीर राज्य के सम्बन्ध मे सघीय सरकार (Union Government) का अधिकार क्षेत्र काफी बढ़ गया। उक्त आदेश जम्मू और काश्मीर राज्य की सहमति से दिया गया था। इसके अनुसार संघीय सरकार केवल विदेशी मामलो, प्रतिरक्षा और संचार साधनो ये तीन विभागों को ही जम्मू और काश्मीर मे नियन्त्रण न करके संघीय सूची के ९७ विषयो मे से ८२ विषयो पर अपना नियन्त्रण रख सकती थी। जिन विषयो पर संघीय सरकार का नियंत्रण नही था उसमें मुख्यतः आर्थिक और व्यापारिक विषय थे। यद्यपि कुछ का सम्बन्ध निरोघात्मक नजरबन्दी, गुप्तचर और अनुसंधान विभाग, जनगणना आदि राजनीतिक एवं प्रशासनिक विषयो से भी था। समवर्ती सूची के सारे विषय राज्य सरकार के हाथ मे ही रहे और यही बात अवशिष्ट शक्तियो (Residuary Powers) के सम्बन्ध मे भी थी। इस प्रकार जम्मू और काश्मीर राज्य के सम्बन्ध मे अन्य राज्यो की तुलना मे संघीय सरकार का क्षेत्र सकुचित था। यद्यपि अखिल भारतीय महत्व के मामले अब सङ्घीय सरकार के हाथ में थे।

[1] अनु० ३७०

काश्मीर संविधान निर्माण के लिए एक संविधान सभा बुलाई गई। २५ नवम्बर १९५६ को इस सभा ने संविधान निर्माण का कार्य समाप्त किया। वयस्क मताधिकार पर आधारित आम चुनाव द्वारा काश्मीर की जनता ने इसे १९५७ में स्वीकृति दी। संविधान घोषित करता है कि "काश्मीर राज्य भारतीय सङ्घ का एक अभिन्न अंग है और रहेगा।[1] इसके तथा परिस्थितियों के परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जो १९४७ से (जब कि भारत सरकार ने जनमत संग्रह द्वारा काश्मीर के भविष्य को निर्णय करने का आश्वासन दिया था) अब तक हुए थे, जनमत संग्रह की बात अब वापस ले ली गई है तथा जम्मू और काश्मीर की जनता के निर्णय को स्वीकृत करते हुए भारत सरकार ने यह घोषित किया है कि काश्मीर भारतीय सङ्घ का एक अभिन्न अंग है।

पाकिस्तान ने संयुक्त राष्ट्र सङ्घ में यह विषय उठाया और भारत को जनमत संग्रह के लिए बाध्य करने का प्रयास किया। बहुत वाद-विवाद के उपरान्त सुरक्षा परिषद् ने श्री जारिंग को भारत तथा पाकिस्तान सरकारों से विचार परिवर्तन करके जनमत-संग्रह की सम्भावना का पता लगाने के लिए भेजा। भारत का मत था कि जनमत-संग्रह अब असम्भव है, क्योंकि—

१—युद्ध विराम के उपरांत संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्देशित जनमत-संग्रह की शर्तों को पाकिस्तान ने जो कि अभी भी जम्मू और काश्मीर के प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमाये हुए है, पूरी नहीं किया;

२—अमेरिका व पाकिस्तान के बीच हुई सैनिक सहायता की सन्धि के कारण भारत के सैनिक स्थिति में मौलिक परिवर्तन हो गया है।

३—१९४७ से जब कि भारत सरकार ने जनमत-संग्रह का प्रस्ताव रखा था दस वर्ष बीत गये और इस लम्बी अवधि की परिस्थिति में मौलिक परिवर्तन हो गया। अतः अब यह प्रस्ताव अव्यावहारिक तथा अमान्य है;

४—काश्मीर की जनता ने संविधान सभा और १९४७ के आम चुनावों द्वारा काश्मीर के भारत में विलयन के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया है। वयस्क मताधिकार पर आधारित आम चुनाव जनमत संग्रह से किसी भी रूप में भिन्न नहीं है। श्री जारिंग ने अपनी रिपोर्ट में इस विचार से मतैक्य प्रकट किया और सुरक्षा परिषद को तद्नुसार सूचना दी। अतः यद्यपि अभी भी पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्र और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जनमत-संग्रह के प्रश्न को उठाता रहता है तथापि जहाँ तक भारत तथा जम्मू और काश्मीर राज्य का सम्बन्ध है, उनकी समस्या केवल यह है कि काश्मीर के पाकिस्तान द्वारा अधिकृत भाग की स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो। अन्यथा, भारतीय सङ्घ के अभिन्न

[1] जम्मू और काश्मीर संविधान १९५६ अनु० ३।

अङ्ग के रूप में काश्मीर की संवैधानिक स्थिति अन्तिम तथा अटल रूप से निश्चित हो चुकी है।

जम्मू और काश्मीर का संविधान १९५६—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जम्मू और काश्मीर का संविधान उक्त राज्य को भारत का एक अभिन्न अंग घोषित करता है। राज्य के विधानमण्डल के किसी भी सदन में संविधान की इस धारा या इससे सम्बद्ध अन्य धाराओं के संशोधन सम्बन्धी किसी भी विधेयक का प्रस्ताव निषिद्ध है।[1] अतः काश्मीर का भारत सङ्घ में सम्मिलन अब पूर्णतया अटल है। राज्य के अधिशासी और विधायक अधिकारों का क्षेत्र भारतीय संविधान के अन्तर्गत सङ्घीय संसद के राज्यों के लिए विधि-निर्माण के अधिकार द्वारा सीमित है।[2] राष्ट्रपति की १४ मई १९५४ की आज्ञा तथा इन व्यवस्थाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। राष्ट्रपति की इस आज्ञा के परिणामस्वरूप काश्मीर का भारत से न्यायिक तथा आर्थिक एकीकरण भी हो गया।

अतः मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जम्मू और काश्मीर की स्थिति अब भारतीय संघ के दूसरे अन्य राज्यों के सदृश ही हो गई है। फिर भी ऐतिहासिक कारणों से कुछ बातों में इस राज्य को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। ये बातें निम्न-लिखित हैं—

१—काश्मीर का अपना अलग संविधान है जब कि दूसरे राज्यों का संविधान भारतीय संविधान का ही एक भाग है।

२—काश्मीर के राज्य का सर्वोच्च अधिकारी 'राज्यपाल' न कहा जाकर सदरे-रियासत कहलाता है। वह राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त नहीं बल्कि "स्वीकृत होता है।" यह स्वीकृति केवल राज्य विधान सभा द्वारा चुने हुए व्यक्ति को ही दी जा सकती है;[3]

३—भारतीय नागरिक आप से आप नहीं बल्कि कुछ शर्तों की पूर्ति पर ही जम्मू और काश्मीर राज्य के "स्थायी निवासी" हो सकते हैं;

४—राष्ट्रपति की मई १९५४ की आज्ञा के अन्तर्गत राज्य की विधान सभा को व्यवसाय, अचल सम्पत्ति के अर्जन, राज्य में बसने आदि के सम्बन्ध में स्थायी निवासियों के हितों के संरक्षण के लिए कानून-निर्माण के अधिकार प्रदान किये गये हैं। राज्य के भूमि सुधार सम्बन्धी कानून भी भारतीय संविधान की क्षतिपूर्ति धारा से उत्पन्न उलझन से विशेष रूप से सुरक्षित किये गये हैं;

---

[1] जम्मू और काश्मीर संविधान धारा १४, [2] वही धारा ५, [3] जम्मू और काश्मीर संविधान धारा २७

५—जम्मू और काश्मीर राज्य के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार सीमित हैं। राज्य संविधान की विफलता के आधार पर सङ्कट की घोषणा भारत के राष्ट्रपति की सहमति पर राज्य के "सदरे रियासत" द्वारा की जा सकती है।[1] ऐसी घोषणा के परिणामस्वरूप राज्याधिकारियों के अधिकार राष्ट्रपति में नहीं बल्कि सदरे-रियासत के हाथों में आ जाते हैं। अन्य राज्यों के समान, ऐसी घोषणाएँ संसद नहीं, किन्तु जम्मू और काश्मीर राज्य की विधान सभा के समक्ष ही रखी जाती हैं।

केन्द्र प्रशासित प्रदेशों की स्थिति—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मनीपुर, त्रिपुरा, अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह तथा लकाद्वीप, मिनीकाय और अमीन दीवी द्वीप समुदाय—इन ६ संघीय भू-भागों की स्थिति राज्यों से भिन्न है। यदि संसद के किसी कानून द्वारा अन्यथा व्यवस्था न की गई हो तो प्रत्येक संघीय भू-भाग का शासन राष्ट्रपति जिस मात्रा में वह उचित समझे, अपने द्वारा नियुक्त कर्मचारी द्वारा करता है। राज्य के राज्यपाल को किसी पासवर्ती प्रदेश का शासक बनाने में कोई बाधा नहीं है। यदि ऐसी नियुक्ति हुई तो राज्यपाल ऐसे शासक के रूप में अपने कार्यों का सचालन अपने मन्त्रि-मण्डल से स्वतन्त्र रूप में करता है।[2] संघीय भू-भागों की परिस्थितियाँ और इसीलिए उनकी संवैधानिक स्थिति भिन्न है। इसीलिए प्रत्येक भू भाग के लिए उचित व्यवस्था करने का अधिकार संसद को दिया गया है।

अण्डमान-निकोबार द्वीप समुदाय तथा लकाद्वीप, मिनीकाय और अमीन दीवी द्वीप समुदाय के लिए राष्ट्रपति को नियम बनाने का अधिकार है। इन नियमों को इन भू-भागों में वही मान्यता प्राप्त है जो संसद के कानूनों को। राष्ट्रपति का नियम इन भू-भागों में प्रचलित संसद के किसी भी कानून का संशोधन या खण्डन कर सकती है।[3]

इस प्रकार संघ के सम्बन्ध में इन भू-भागों की स्थिति वही है जो एकात्मक राज्य में उसके प्रदेशों की होती है। तीन सूचियों द्वारा संघ तथा राज्यों में जो अधिकार विभाजन किया गया है वह तथा राज्य-सरकारों का स्वरूप इन भू-भागों में लागू नहीं होता। इन भू-भाग में संसदीय सरकार की व्यवस्था की भी जा सकती है और नहीं भी। दिल्ली तथा द्वीप भू-भागों में वह बिल्कुल नहीं पाई जाती।

भारतीय संघ व्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएँ—भारतीय संविधान में वे सारी विशेषताएँ हैं जो संघात्मक शासन में होनी चाहिए। भारतीय संविधान लिखित और अनम्य (rigid) है। इसमें भी अन्य संविधानों की भाँति विस्तारपूर्वक शक्ति

[1] वही धारा ९२ (१) और (५)। [2] सप्तम संशोधन कानून १९५६ द्वारा संशोधित धारा २३९, [3] ।।तवाँ संशोधन धारा २४०।

विभाजन किया गया है। जिस प्रकार अन्य संघों में उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था है उसी प्रकार संवैधानिक झगड़ों को निपटाने के लिए भारतीय संविधान द्वारा भी उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई है। तथापि भारतीय संविधान में कुछ ऐसी बातें हैं जो उसे अन्य सघों से भिन्न बना देती हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि भारतीय संविधान अत्यन्त सबल केन्द्र या सघ शासन की स्थापना करता है। भारत का संघ शासन इकाइयों की तुलना में जितना सबल है उतना शायद अन्य किसी संघ का नही। भारतीय संघ शासन को विभिन्न उपायों से सबल बनाया गया है। प्रथम स्थान मे संघ विषयो की सूची काफी लबी है जिनमे उन सारे विषयो को सम्मिलित कर लिया गया है जो अनुभव द्वारा केन्द्र के लिए आवश्यक समझे गये हैं। इसके बाद एक लबी समवर्ती विषयो की सूची भी है। समवर्ती सूची में लिखित विषयो पर भी सघ की संसद अपनी इच्छानुसार विधियां बना सकती है और संसद द्वारा बनायी गयी विधियां राज्यों की विधियो से सदैव उच्चतर स्थिति में रहेगी। द्वितीय स्थान में अवशिष्ट शक्तियां सघ शासन को दी गई हैं और वे भी उसे सबल बनाती है। तृतीय स्थान में समस्त देश की एक संयुक्त न्यायपालिका है, जिसके शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है। चतुर्थ स्थान में सारे देश के लिए मूलतः एक ही दीवानी और फौजदारी कानून (Civil And Criminal Code) है। उक्त कानून के समस्त प्रमुख विषय समवर्ती सूची मे रख दिये गये है जिससे उनका नियमन और नियन्त्रण केन्द्र कर सकेगा। पचम स्थान में उच्चतर पदो के लिए समस्त देश के लिए अखिल भारतीय नौकरियो के लिए लोक सेवा व्यवस्था है। अखिल भारतीय एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस व पुलिस सर्विस को ज्यों का त्यों बनाये रक्खा गया है और संविधान मे इसी प्रकार की और भी अखिल भारतीय नौकरियां स्थापित करने का अधिकार केन्द्र को दिया गया है। षष्टम् स्थान में समस्त देश मे एक ही नागरिकता है। समस्त नागरिक, संघ के नागरिक हैं। उनकी नागरिकता संघीय नागरिकता है। और संघ की नागरिकता जैसी दो भिन्न-भिन्न कोई चीजें भारत में नही है। फलतः कोई नागरिक चाहे किसी भी राज्य मे रहे उसके नागरिक अधिकार सर्वत्र एक समान ही रहेंगे। राज्यों या स्थान के अन्तर से उनमे कोई परिवर्तन न आयेगा। नागरिकता के अधिकारों के सम्बन्ध मे कोई भी राज्य अपने राज्य-वासियो या अन्य किसी राज्य के निवासियो मे कोई भेद-भाव या अन्तर नही कर सकता। सप्तम् स्थान मे सविधान द्वारा केन्द्र को राज्यो से संघीय विधियो के पालन कराने के पर्याप्त अधिकार दिये गये हो। अष्टम और अन्तिम स्थान मे बाह्य आक्रमण के भय या आन्तरिक उपद्रव अथवा संविधान के विफल हो जाने के संकटकाल मे राष्ट्रपति संवटकालीन घोषणा करके राज्यों के विधानमण्डलों की समस्त शक्तियों को संसद को हस्तान्तरित कर सकता है और अपनी इच्छा के अनुसार राज्यों को यह भी आदेश दे सकता

है कि वे अपनी कार्य-पालिका शक्तियों का प्रयोग किस प्रकार करें।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्य काल में भारत का शासन संघीय रहता है लेकिन आपत्तिकाल में आवश्यक सीमा तक एकात्मक बना लिया जा सकता है। हम यह बतला ही चुके हैं कि भाग 'ग' और 'घ' के क्षेत्रों का शासन सामान्य दशाओं में भी एकात्मक ही रहता है।

दूसरे, केन्द्र की सबलता के कारण राज्य अपेक्षाकृत निर्बल हैं। शक्ति-विभाजन द्वारा राज्यों को कुछ विशिष्ट अधिकार अवश्य दिये गये हैं। किन्तु इन अधिकारों में केन्द्रीय संसद व सरकार अनेक प्रकार से हस्तक्षेप कर सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया की भाँति भारतीय संघ के राज्य अपना संविधान स्वयं बना या संशोधित नहीं कर सकते। संघीय संसद के द्वितीय सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व का भी अधिकार प्राप्त नहीं है। संघ के द्वितीय सदन को अमेरीका या आस्ट्रेलिया की सीनेटों की भाँति राज्यों के अधिकारों की रक्षा करने की शक्तियाँ भी प्राप्त नहीं हैं। राज्यपालों तथा राज-प्रमुखों की नियुक्तियाँ राष्ट्रपति करता है। कुछ विशिष्ट प्रकार की राज्य विधियों का राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी या स्वीकृति के लिए रखा जाना आवश्यक है। राज्य अपने अस्तित्व तक के लिए राष्ट्रपति तथा भारतीय संसद की दया पर निर्भर है। कोई भी राज्य किसी भी समय विभक्त किया जा सकता है। उसके क्षेत्र का पुनर्वितरण किया जा सकता है और उसके क्षेत्र को अन्य राज्यों में मिला दिया जा सकता है। संक्षेप में राज्यों की स्वाधीनता भारत में बहुत ही सीमित है। भारतीय राज्य कभी भी अमेरिकन और आस्ट्रेलियन राज्य तो क्या कनाडा के प्रान्तों की भाँति भी नहीं हो सकते।

तीसरे, वित्तीय मामलों में राज्य बहुत कुछ संघ पर निर्भर हैं। राजस्व के जितने स्रोत राज्यों को दिये गये हैं उनसे राज्यों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। उन्हें संघ की आय से कुछ अंश प्राप्त करने की आशा करनी ही पड़ेगी। यह सच है कि बहुत से करों के सम्बन्ध में संविधान में ही यह निर्देश कर दिया गया है कि उनका कितना अंश राज्यों को मिलेगा, किन्तु फिर भी ऐसे बहुत से कर हैं जिनमें से राज्यों को मिलने वाले अंश के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार संघ के राष्ट्रपति को दिया गया है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वित्तीय पराश्रयता के कारण राज्यों की नीति और प्रशासन भी संघ के कर्ता-धर्ताओं की इच्छाओं से प्रभावित हो।

चौथे, भारतीय संविधान में न्यायपालिका का एकीकरण अन्य संघीय संविधानों की तुलना में अधिक मात्रा में है। उच्चतम न्यायालय को जितने अधिकार भारतीय संविधान में दिये गये हैं उतने अधिकार अन्य किसी भी संघीय संविधान में संघ के न्यायालय को प्राप्य नहीं हैं। संघीय अधिकारियों को राज्यों के उच्च न्यायालयों के

[1] अनु० ३५३

गठन और संगठन की भी शक्ति प्राप्त है और ये उच्च न्यायालयों पर नियंत्रण रखते हैं।

पाँचवें, संघ की सरकार का उच्च प्रशासकीय सेवाओं अर्थात् अखिल भारतीय नौकरियों पर पूर्ण नियंत्रण है। इन नौकरियों की भरती संघ सरकार ही करती है और इनके राज्यों के सदस्य उच्चतर प्रशासकीय पदों पर भी कार्य करते हैं। यह पद्धति ब्रिटिश शासन की परम्पराओं का अवशेषांश है। इन पद्धतियों का कुछ राज्य के मुख्य मन्त्रियों ने विरोध भी किया था लेकिन फिर भी इन्हें संविधान में रखना उचित समझा गया। संसार में अन्यत्र कहीं भी किसी संघीय संविधान में ऐसी व्यवस्था नहीं मिलेगी।

छठवीं और अन्तिम बात यह है कि भारतीय संविधान संसार के अन्य किसी भी सङ्घीय संविधान की अपेक्षा अधिक सुविधा और सरलता से संशोधित किया जा सकता है। संविधान के कुछ भाग तो संसद की सामान्य विधि द्वारा संशोधित किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे भागों में नागरिकता या राज्य के व्यक्तिगत अस्तित्व वाले अंशों या अनुच्छेदों का नाम लिया जा सकता है। संविधान के कुछ अन्य भाग अकेली संसद की कार्रवाई से संशोधित किये जा सकते हैं, अर्थात् प्रत्येक सदन के कुछ सदस्यों की संख्या के कम से कम आधे और उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से। संविधान के जो भाग राज्यों के संविधान, शक्तियों और संसद में उनके प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित है, वे भी उक्त पद्धति द्वारा ही संशोधित किये जा सकते हैं, यदि भाग 'क' और 'ख' के कुछ राज्यों के कम से कम आधे राज्यों की विधान-सभा में संशोधन को स्वीकार कर लें। अमेरिका में इस प्रकार के संशोधन को तब मान्यता प्राप्त होती है जब कुछ राज्यों के तीन-चौथाई राज्य विधानमण्डल सङ्घ विधानमण्डल द्वारा पारित संशोधन स्वीकार कर लें। और आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैण्ड में इस प्रकार के संशोधन तब पारित माने जाते हैं जब देश भर में जनमत ग्रहण (Referendum) किया जाय और बहुसंख्यक राज्यों में तथा समस्त देश का बहुमत उनके पक्ष में हो।

भारत संघ तथा कुछ विदेशी संघ राज्यों की तुलना—स्वरूप की दृष्टि से भारतीय संघ का संविधान कनाडा के संविधान के सर्वाधिक निकट है और आत्मा की दृष्टि से दक्षिण अफ्रीका के संविधान के। कनाडा की भाँति भारतीय संविधान में भारत को 'यूनियन' कहा गया है 'फैडरेशन' नहीं। कनाडा की ही भाँति द्वितीय सदन में एककों का असमान प्रतिनिधित्व है। कनाडा की ही तरह राज्यों के राज्यपालों आदि की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है; अवशिष्ट शक्तियाँ सङ्घ को दी गई हैं और न्यायपालिका का एकीकरण कर दिया गया है। लेकिन भारतीय संविधान कुछ अर्थों में कनाडा से भिन्न भी है। कनाडा में प्रान्त अपने यहाँ के संविधान

मे संशोधन कर सकते हैं; यद्यपि उन्हें राज्यपाल के पद सम्बन्धी संवैधानिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त नही है। इसके विपरीत भारतीय राज्यो को अपने संविधान मे किसी भी तरह का कोई संशोधन करने का अधिकार प्राप्त नही है। कनाडा के सविधान में प्रान्तो से सम्बन्धित भाग का सशोधन केवल ब्रिटिश संसद के कानून द्वारा ही हो सकता है और ब्रिटिश ससद इस प्रकार का कोई कानून तब तक पारित नही करती जब तक वह यह न जान ले कि उस सशोधन के बारे मे केन्द्र तथा प्रान्तो मे परस्पर कोई समभौता हो गया है; यद्यपि संशोधन की सिफारिश कनाडा की केन्द्रीय सरकार ही करती है। उक्त व्यवस्था के कारण भारतीय राज्यो की तुलना मे कनाडियन प्रान्तो की शक्तियाँ कहीं अधिक स्थिर और निश्चित हैं। कनाडा तथा भारत की सघीय व्यवस्था मे एक अतर यह भी है कि कनाडा मे सघ-सरकार किसी भी प्रातीय विधेयक को अपनी अनुमति दे कर कानून बनने से रोक सकती है जब कि भारतीय सघ के राष्ट्रपति को यह अधिकार केवल उन्ही मामलो में प्राप्त है जिसके सम्बन्ध मे भारतीय सविधान मे स्पष्ट रूप से यह निर्देश कर दिया गया है कि तत्सम्बन्धी राज्यों के विधेयक बिना राष्ट्रपति के लिए सुरक्षित रखे गये और बिना उनके हस्ताक्षरो के पारित न हो सकेंगे।

आस्ट्रेलिया संघ के राज्यो को भारतीय राज्यो की अपेक्षा कहीं अधिक उच्चतर स्थान प्राप्त है। प्रत्येक आस्ट्रेलियन राज्य का अपना अलग संविधान है जिसमे वह अपनी इच्छानुसार जो चाहे सशोधन कर सकता है। आस्ट्रेलियन राज्यो के राज्यपालो की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा की जाती है। इस नियुक्ति के सम्बन्ध मे राज्यो के मन्त्रि-मण्डलो की ही सलाह ली जाती है—आस्ट्रेलिया के गवर्नर-जनरल की नहीं। प्रत्येक राज्य का अस्तित्व विशेष रूप से सुरक्षित है और इसी तरह उनकी शक्तियाँ भी; क्योंकि राज्यो की शक्ति मे परिवर्तन करने के लिए सविधान में संशोधन होना आवश्यक है और ऐसे किसी भी सशोधन को करने के लिए आस्ट्रेलिया मे एक बड़ी ही जटिल और कठिन प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती है। सीनेट मे प्रत्येक राज्य को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है और सीनेट विधायिनी शक्तियो की दृष्टि से बहुत ही शक्तिमान सदन है। अन्त में; सङ्घीय और समवर्ती विषयो की सख्या भारतीय सङ्घ की तुलना मे बहुत ही कम है तथा आस्ट्रेलिया का केन्द्र भारतीय सङ्घ के केन्द्र की तुलना में निर्बल है और उसके राज्य भारतीय राज्यो की अपेक्षा अधिक शक्तिमान हैं। आस्ट्रेलिया मे अवशिष्ट शक्तियो राज्यो को प्राप्त है।

अमेरिका के राज्यो तथा स्विट्जरलैंड के केण्टनो की स्थिति और भी अच्छी है। बहुत अधिक विस्तार मे न जा कर संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि उक्त दोनों देशो की सङ्घीय व्यवस्था मे एकक अपने-अपने क्षेत्र मे लगभग संप्रभु ही हैं। दोनों ही देशों

में एककों का अस्तित्व संविधान द्वारा सदा के लिये सुरक्षित है। अमेरिका में किसी भी राज्य का सीनेट में समान प्रतिनिधित्व का अधिकार बिना उसके विधानमंडल की स्पष्ट सम्मिति के अपहृत नहीं किया जा सकता। दोनों ही देशों में संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया बड़ी कठिन और जटिल है और उसमें राज्यों तथा जनता का बड़ा प्रभाव है। आर्थिक दृष्टि से दोनों देशों के एकक न केवल आत्म-निर्भर हैं बल्कि उससे भी कुछ अधिक हैं। दोनों ही देशों में अवशिष्ट शक्तियां एककों को प्राप्त हैं और संघ की इनी-गिनी शक्तियाँ ही दी गयी हैं। इन देशों में समवर्ती सूची में दी गयी शक्तियाँ महत्वपूर्ण नहीं हैं। राज्यों के मामलों में सङ्घीय नियन्त्रण और हस्तक्षेप न्यूनतम मात्रा में ही होता है।

भारतीय एककों की स्थिति सन् १९१९ के जर्मन संविधान के राज्यों (लेण्डर्स) और दक्षिणी अफ्रीका के प्रान्तों के समान है। सन् १९१९ के जर्मनी संविधान में सङ्घ के अध्यक्ष को भी भारतीय सङ्घ के राष्ट्रपति के समान (यद्यपि पूर्णतः नहीं) ही संकटकालीन शक्तियाँ प्राप्त थी। जर्मनी का अध्यक्ष भी राज्यों को भारतीय संघ के राष्ट्रपति की भाँति ही नियन्त्रित कर सकता था और उन्हें निर्देश दे सकता था। वहाँ भी सङ्घ की सरकार को राज्यों से अधिक वित्तीय अधिकार प्राप्त थे। दक्षिणी अफ्रीका के राज्यों की स्थिति भी अस्तित्व के मामले में भारतीय राज्यों से ही मिलती-जुलती है। शक्ति के सम्बन्ध में तो दक्षिणी अफ्रीका के प्रान्त भारतीय राज्यों से भी गये बीते हैं। परन्तु दक्षिणी अफ्रीका एकात्मक राज्य है और जर्मनी का सङ्घीय स्वरूप शीघ्र ही नष्ट हो गया है।

क्या हमारा संविधान वस्तुतः सङ्घीय है?—सङ्घीय शासन के बढ़े हुए अधिकारों तथा राज्यों की निर्बलता को दृष्टि में रखते हुए बहुधा यह शंका प्रकट की जाती है कि क्या भारतीय संविधान वस्तुतः सङ्घीय है? इस शंका का उत्तर यह है कि भारतीय संविधान में एकीकरण की प्रक्रिया अन्य संघ राज्यों की अपेक्षा काफी आगे ले जायी गयी है लेकिन यह अन्तर केवल मात्रा का है, प्रकार का नहीं। संघीय व्यवस्था के दो मूल तत्व हैं। पहला तो यह है कि उसमें छोटे-छोटे कई एकक मिलकर संघ राज्य बनाते हैं; चाहे उन एककों को राज्य कहा जाय या प्रान्त अथवा कैण्टन। इन एककों की अपनी सरकार और अपने अधिकार होते हैं। दूसरी बात यह है कि संविधान द्वारा ही राज्यों और केन्द्र में शक्तियों का स्पष्ट विभाजन कर दिया जाता है जिससे कोई भी पक्ष उसे अकेले परिवर्तन न कर सके।

हम देखते हैं कि भारतीय संघ उक्त दोनों कसौटियों पर खरा उतरता है। जहाँ पहली कसौटी का सम्बन्ध है संविधान का प्रथम अनुच्छेद घोषित करता है कि "भारत अर्थात् इण्डिया राज्यों का संघ होगा।" यद्यपि इसमें किसी राज्य विशेष के अस्तित्व को

सदा सुरक्षित रखने का कोई आश्वासन नही है लेकिन इतना तो है कि भारत सदैव कुछ राज्यो का संघ रहेगा। दूसरे शब्दों मे यद्यपि संसद साधारण कानून द्वारा राज्यों को मिला कर उनकी जगह कुछ अन्य एकक बना सकती है लेकिन वह कुछ एककों का उन्मूलन कर के उनके स्थान पर संघ को एकात्मक राज्य नहीं घोषित कर सकती। ऐसा करना असवैधानिक होगा, क्योकि सम्पूर्ण संविधान इस आधार पर ही बनाया गया है कि भारतीय संघ मे राज्य अवश्य रहेगे।

जहाँ तक दूसरी कसौटी का सम्बन्ध है अर्थात् शक्ति विभाजन की कसौटी का, राज्यो की शक्ति की मर्यादाएँ और सीमाएँ स्वयं संविधान द्वारा निर्दिष्ट हैं और संघ सरकार संकटकाल या संविधान की विफलता की अवस्थाओ को छोडकर सामान्य दशाओं मे अपनी मनमानी कार्रवाई द्वारा उनमे कोई परिवर्तन नही कर सकती। सामान्य दशाओं में अपनी विधायिनी या कार्यपालिका शक्ति के लिए राज्य किसी भी प्रकार केन्द्र पर निर्भर नही है। राज्य और संघ शासन, दोनों की शक्तियो का स्रोत एक ही है; अर्थात् संविधान। अतः इस दृष्टि से दोनों बराबर हुए। इसमें सन्देह नही कि संघ सरकार को संविधान द्वारा एकको की तुलना मे अधिक शक्तियाँ दी गई हैं—और यह भी सच है कि भारतीय संविधान के अतिरिक्त अन्य कोई संघीय संविधान केन्द्र को इतनी शक्ति नहीं देता लेकिन यह संघीय संविधान का कोई आवश्यक तत्व नही है और इस से संविधान के 'संघत्व' मे कोई अन्तर नही।

संकटकालीन शक्तियाँ अवश्य केन्द्र को एकपक्षीय कार्रवाई द्वारा राज्य की शक्तियों मे हस्तक्षेप करने का अपरिमित अधिकार देती हैं। जैसा कि हम बारम्बार कह चुके हैं संकटकालीन शक्तियो के प्रयोग काल मे संघ व्यवस्था का अन्त हो कर समस्त राज्य एकात्मक हो जाता है। कुछ भी हो, आपत्तिकाल—आपत्तिकाल होता है और वह किसी विधि को नही मानता। कहा भी गया है 'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति' अर्थात् आपत्ति-काल मे कोई मर्यादा नही होती। ये शक्तियाँ केन्द्रो को संविधान द्वारा चाहे दी जातीं या न दी जातीं, राष्ट्रीय संकट के समय भी सरकार उन शक्तियों का प्रयोग अवश्य प्राप्त करती। हमे यह न भूलना चाहिए कि अमेरिका और स्विट्जरलैण्ड दोनों देशो में राज्यों को सङ्घ से पृथक होने से रोकने के लिए गृहयुद्ध हुआ था यद्यपि उनके संविधानो में ऐसी किसी सम्भावना की कल्पना नही की गई थी; और न संघ सरकार को इस प्रकार के बल प्रयोग के कोई अधिकार ही दिये गये थे।

अतः, सामान्यतः भारतीय सङ्घ सङ्घ-राज्यों की ही भाँति संचालित होगा। सङ्घ सरकार की संवैधानिक शक्तियाँ कुछ भी हों, वह राज्यों की भावनाओं को ठुकरा कर अपने कार्य नही कर सकता। अन्ततोगत्वा, राष्ट्रीय एकता और राज्यों के स्वशासन,

दोनो की आवश्यकताओं में सन्तुलन स्थापित करने वाला कोई न कोई मार्ग अवश्य निकल आयेगा। अन्य सङ्घ राज्यो मे ऐसा हुआ भी है। केन्द्र राज्यों की सारी शक्तियों को हड़प ले, यह होने के बजाय ऐसा भी हो सकता है कि कालान्तर में राज्य ही केन्द्र की नीतियो को नियंत्रित करने लगें। सच तो यह है कि आज भी भारतीय सङ्घ सरकार की तमाम संवैधानिक शक्तियो के होते हुए भी यह शिकायत की जाती है कि कुछ राज्य इस प्रकार कार्य करते हैं जैसे सङ्घ-सरकार का अस्तित्व ही न हो। संविधान की सामान्य प्रवृत्तियों को न देख कर उसकी कुछ असाधारण विशेषताओ पर जोर देना विकृत दृष्टिकोण का परिचायक है।

केन्द्र को इतना शक्तिशाली क्यों बनाया गया?—केन्द्र को इतना शक्तिशाली बनाये जाने का कारण सामयिक परिस्थितियाँ थी। कुछ तो सामयिक परिस्थितियो की आवश्यकताओ के कारण और कुछ उनसे मिलने वाली सहायता और सुविधाओ के कारण ही सङ्घ या केन्द्र को इतना शक्तिशाली बनाना सम्भव हो सका। भारतीय एकता सदियो बाद प्राप्त हुई थी, विभाजन, अनैक्य और भयंकर कठिनाइयो का सामना करते हुए। जब राष्ट्र अपनी स्वाधीनता के लिए सङ्घर्ष कर रहा था तो सब मे एकता थी और उस एकता का सूत्र था सबको विदेशी शासन से अरुचि। विदेशी शासन की समाप्ति के साथ एकता का यह सूत्र लुप्त हो गया और विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या भाषा के सिद्धान्तो या विचारधाराओं के रूप मे देश के विभिन्न भागो में विघटन और अनैक्यताकारी प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगी। संविधाननिर्माता राष्ट्रीय एकता की हर तरह से रक्षा करना चाहते थे। इस मामले मे वे किसी प्रकार का खतरा उठाने के लिए प्रस्तुत न थे। इसीलिए उन्होने इन अनैक्यताकारी तत्वो का सामना करने के लिए बड़ी सावधानी दिखलाई। उन्होने एक ऐसी सङ्घ सरकार की स्थापना की जो हर दशा मे देश की एकता को बनाये रख सके। इसके अतिरिक्त आर्थिक योजनाओं की सफलता का भी प्रश्न था और इन्हे राष्ट्रव्यापी आधार पर कार्यान्वित करना था। खाद्याभाव को दूर करने, मुद्रास्फीति को समाप्त करने और सामान्य जनता के जीवनयापन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न आवश्यक था। इसी दृष्टि से यह भी आवश्यक था कि भारत का सम्पूर्ण क्षेत्र एक ऐसे सबल केन्द्र के अन्तर्गत रहे जो उसे एक आर्थिक घटक (Economic Unit) के रूप में सचालित कर सके।

सबल केन्द्र की वाञ्छनीयता या औचित्य के चाहे जितने कारण रहे हों, पर यदि कुछ बाधाएँ दूर न हो गई होती और कुछ सहायक प्रवृत्तियां पृष्ठभूमि में कार्यशील न होती तो सशक्त केन्द्र की स्थापना सम्भव न होती। देश के विभाजन से और भारतीय राजनीतिक क्षेत्र से मुसलिम लीग के हट जाने से सबल केन्द्र स्थापित करने के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा स्वयमेव हट गई। देशी राज्यो की समाप्ति ने एक दूसरी बाधा क

अन्त कर दिया। यदि देश राज्य बने रहते तो भी सशक्त केन्द्र की स्थापना करने में कठिनाई होती।

यह तो हुई बाधाओं की निवृत्ति सम्बन्धी बात। अब सहायक तत्वों को लीजिये। शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना में सहायता करने वाला सबसे पहला कारण था भारत का एकात्मक शासन जो ब्रिटिश शासन काल से ही चला आता था, गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट, १९३५ का फौलादी ढाँचा उस समय भी काम मे लाया जा रहा था। और इससे अधिक सरल अन्य कोई बात नही हो सकती थी कि केन्द्रीय और प्रान्तीय संबन्धों को उसी एक्ट की धाराओं के सुदृढ़ सूत्रो से बाँध दिया जाता। प्रान्तों की स्वशासन की परम्परा इतनी प्राचीन नही हुई थी कि शक्तिशाली केन्द्र का विरोध करते। सत्तारूढ कांग्रेस दल के प्रान्तीय मंत्री स्वयं सुदृढ केन्द्रीय अनुशासनान्तर्गत रहने के अभ्यस्त थे। ये मंत्री कांग्रेस हाई कमांड की आज्ञा मानने के अभ्यस्त थे। ये मन्त्रिमण्डल हाई कमांड की इच्छाओं के विरुद्ध प्रान्तीय अधिकारों का झन्डा लेकर लड़े न हो सकते थे। विशेषकर उस समय जब कि वही हाई कमांड केन्द्र मे सत्तारूढ था। देशी राज्यों के नरेश सम्भवतः राज्यों की स्वाधीनता के पक्ष में मोर्चा लेते किन्तु जन-आन्दोलन और केन्द्रीय प्रभाव से वे कुछ ऐसे दब गये कि उन्हे नई व्यवस्था के मार्ग से चुपचाप हट जाना पड़ा। इस प्रकार राज्यो के विरुद्ध केन्द्र को अपनी शक्तियाँ प्राप्त करने के द्वन्द्व में लगभग बिना लड़े ही विजय प्राप्त हो गई।

क्या केन्द्र की शक्तियाँ अपर्याप्त हैं?

कुछ पर्यवेक्षको का मत है कि संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों के बावजूद व्यावहारिक दृष्टि मे भारत की केन्द्रीय सरकार पर्याप्त सफल नही है; विशेषकर विकास योजनाओ के क्रियान्वय मे। इस सम्बन्ध मे सार्वजनिक प्रशासन के सुप्रसिद्ध अमेरिकन विशेषज्ञ डीन एच० पॉल एपिलबी का मत ध्यान देने योग्य है। उनका कहना है कि राज्यो की तुलना में केन्द्र बहुत अधिक निर्बल है। उन्होंने लिखा है कि कोई भी अन्य महान राष्ट्रीय सरकार—सैद्धांतिक दृष्टि से अधिक लेकिन वस्तुतः स्वतन्त्र इकाइयो पर राष्ट्रीय कार्यक्रमो के लिए इतना निर्भर नहीं करती जितना भारत की केन्द्रीय सरकार—भारत के राज्यो के राजस्वो के साधन अन्य संघो के राज्यो के राजस्वों के साधनो से कहीं अधिक हैं। इन साधनों की राज्यो के अनुकूल दिन प्रति दिन वृद्धि होती जा रही है क्योकि जनता मे प्रांतीय स्वशासन की माँग अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। भारत के बड़े-बड़े राज्यों मे सरकारी कर्मचारियो की सख्या उस सख्या से कहीं अधिक है जो अमेरिका का धनी से धनी राज्य रखता है।"[1] एपिलबी का मत है कि राष्ट्र, विकास

[1] H. Paul Appleby: *Public Administration in India, Report of a Survey* p. 21.

योजनाओं की पूर्ति के विषय में, राज्यों पर बहुत अधिक निर्भर है। आजकल तो पहले की केन्द्रीय व्यवस्था प्रधानमन्त्री के असाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव और केन्द्र तथा राज्यों में एक दल के शासन के कारण काम चल रहा है, लेकिन भविष्य में क्या होगा ? विशेषकर उस समय जब ये एकताकारी तत्व नहीं रह जायेंगे ?

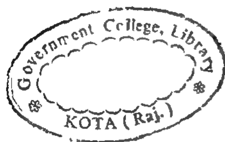
एपिलबी का विचार है कि राष्ट्रपति द्वारा आपत्तिकालीन शक्तियों का किसी विरोधी राज्य पर प्रयोग उत्तरोत्तर कठिन होता जायगा विशेषकर किसी राज्य के मामले में। इसके अलावा राज्य में केन्द्र का कोई ऐसा अधिकारी मण्डल भी नहीं है जिसके द्वारा वह अपनी आपत्तिकालीन शक्तियों का प्रयोग करा सके। एपिलबी ने भारतीय संघ में शक्तियों के विभाजन की भी आलोचना की है। यदि खानें, खनिज पदार्थ तथा तेल आदि प्राप्त करने के प्राकृतिक साधन राष्ट्रीय सरकार को सौंपे गये हैं तो सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, मछली-पालन आदि भी राष्ट्रीय सरकार को ही सौंपे जाने चाहिए थे क्योंकि उनका राष्ट्रीय महत्व पूर्व-वर्णित विषयों के बराबर ही अथवा भारत जैसे लोक-कल्याण के लक्ष्य को लेकर चलने वाले राज्य के लिए कदाचित अधिक ही है।

एपिलबी की यह आलोचना सारहीन नहीं है, यह बात इससे ही सिद्ध हो जाती है कि अभी हाल में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने यह प्रस्ताव रक्खा है कि संविधान में दी गई विषय-सूची का पुनः परीक्षण किया जाय और संविधान में संशोधन करके राज्य तथा केन्द्र में शक्तियों का विभाजन इस प्रकार किया जाय कि संघ सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार-वाणिज्य, उद्योग, वित्त और प्राकृतिक साधनों के संरक्षण के विषयों में पहले से अधिक शक्तियाँ मिल जायें। यह स्पष्ट ही है कि संघीय सरकार के मन्त्रालय इन विषयों में अपनी शक्तियों को अपर्याप्त पा रहे हैं।

लेकिन बात यह है कि संघीय सरकार को चाहे जितनी शक्तियाँ दी जायें, समय-समय पर तरह-तरह की कठिनाइयाँ अवश्य उत्पन्न होंगी क्योंकि राष्ट्रीय समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध होती है और उन समस्याओं के हल में देशव्यापी एकरूपता की आवश्यकता होती है। संघीय व्यवस्था में इस प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा होना अनिवार्य है। अन्य देशों ने इस समस्या को संविधान की व्यवस्थाओं की न्यायपालिका द्वारा रचनात्मक व्याख्या और राज्यों को आर्थिक सहायता देकर बदले में उनसे सामंजस्य और नियन्त्रण के संविधान के बाहर वाले अधिकार प्राप्त करके हल किया है। संविधान में संशोधन करने से वे चाहे संख्या में कितने ही हों, समस्या का स्थायी हल नहीं निकल सकता।

प्रोफेसर एपिलबी का मत अमेरिकन पृष्ठभूमि से स्पष्ट रूप से प्रभावित है। उनके अपने देश में राष्ट्रीय सरकार की अपनी अलग प्रशासन सेवाएँ और न्यायालय हैं। ये अधिकारी और न्यायालय राष्ट्रीय सरकार की विधियों और नियमों तथा योजनाओं को

क्रियान्वित करते हैं। अन्य संघीय राज्यों ने, जिनमें भारत भी सम्मिलित है, इस व्यवस्था का अनुकरण नहीं किया है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था करने में व्ययभार और विभिन्न शासनिक स्तरों का सामंजस्य करने की समस्या बढ़ जाती है। ऐसा कोई कारण नहीं है जिसकी वजह से यह कहा जा सके कि भारत सरकार अपनी विधियों, प्रादेशों और नियमों को क्रियान्वित कराने के लिए राज्यों के अधिकारी वर्ग पर पूर्ववत निर्भर न रहे। यह बात दूसरी है कि भारत सरकार को भविष्य में अपने नये कार्यों के लिए नई सेवाएँ स्थापित करनी पड़े जैसी रेलवे, सीमाकर, आयकर आदि में अब भी है। किन्तु इनका संघीय सरकार की संवैधानिक शक्तियों की अपर्याप्तता से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रोफेसर एपिलबी की आलोचना का सम्बन्ध देश की प्रशासन व्यवस्था से अधिक है, संवैधानिक रूपरेखा से कम।



भारतीय संघ का राष्ट्रपति | अध्याय ५

राष्ट्रपति के पद के लिए आवश्यक अर्हताएँ—भारतीय संघ का अध्यक्ष राष्ट्रपति कहलाता है। राष्ट्रपति के पद के उम्मीदवार का भारतीय नागरिक होना आवश्यक है। उसकी आयु कम से कम ३५ वर्ष की होनी चाहिए, उसमें वे समस्त योग्यताएँ होनी चाहिये जो किसी भारतीय नागरिक के लोकसभा का सदस्य होने के लिए आवश्यक हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो भारत की सरकार या किसी राज्य-सरकार के अन्तर्गत वैतनिक या आर्थिक लाभ वाले पद पर हो वह राष्ट्रपति के पद के लिए उम्मीदवार नहीं हो सकता। परन्तु यह प्रतिबन्ध राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपालों तथा केन्द्र और राज्यों के मन्त्रियों के पदों पर लागू नहीं होता।[1]

राष्ट्रपति का निर्वाचन—राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होता है। निर्वाचक मण्डल संघीय संसद और राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा बनता है।[2] निर्वाचक-मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का समान मूल्य नहीं होता। निर्वाचक-मण्डल के सदस्यों को मतदान का अधिकार इस सिद्धान्त के आधार पर नहीं मिलता कि एक व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार है, किन्तु प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या जितनी जनसंख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है, उसके अनुपात से निश्चित होती है। यही कारण है कि प्रत्येक सदस्य की मतसंख्या एक समान न होकर भिन्न-भिन्न होती है। राष्ट्रपति के निर्वाचन का फल मतों की साधारण गणना करके नहीं किन्तु उनके गुरुत्व या महत्व के अनुसार निश्चित होता है।[3] इसका निम्नलिखित सूत्र है—

(१) किसी भी राज्य की विधान-सभा के सदस्य के मतों की संख्या $= \dfrac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या।}} \div १०००$

(२) संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या $= \dfrac{\text{समस्त राज्यों की विधान सभाओं के समस्त सदस्यों को प्राप्त मतों की संख्याओं का कुल योग}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}}$

[1]अनु० ५८, [2]अनु० ५४, [3]अनु० ५५

सदस्यों के मतों की संख्या निर्धारित करते समय यदि हिसाब से कम कोई संख्या आती है तो उसे छोड़ दिया जायगा और यदि ½ या उससे अधिक कोई राशि आती है तो उसे पूरा १ मान लिया जायगा।

इस प्रक्रिया का पहला लक्ष्य यह है कि प्रथम तो सभी राज्यों के राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी प्रभाव में एकरूपता रहे और दूसरे राज्यों और संघीय संसद के प्रभाव में भी सम तुल्यता रहे। विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य ही समान जनसंख्या का प्रतिनिधित्व नहीं करते। कुछ राज्यों के निर्वाचनक्षेत्र जनसंख्या की दृष्टि से बड़े हैं तो कुछ राज्यों के छोटे। अतः राज्यों की एकरूपता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि निर्वाचक मंडल के प्रत्येक सदस्य को उसी अनुपात मे मत प्राप्त हों जितनी जनसंख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है। यह अनुपात राज्यों की जनसंख्या को उसकी विधान सभा के निर्वाचित राज्यों की संख्या से भाग देकर और जो कुछ भागफल आता है उसे पुनः एक हजार से भाग दे कर निश्चित किया जाता है।[1]

सभी विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की संख्याओं का योग भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार संसद के दोनो सदनों के सदस्य भी भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव यह उचित ही है कि इन दो पक्षों को जो समान रूप से भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, राष्ट्रपति के निर्वाचन मे समान मत प्राप्त हों। संसद के निर्वाचित सदस्यों तथा राज्य विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के मतों की समतुल्यता का यही कारण है।

मई सन् १९५२ में हुए राष्ट्रपति के निर्वाचन में विभिन्न राज्यो की विधान सभाओं तथा संसद के प्रत्येक सदस्यो के मतों की सख्या की तालिका नीचे दी जा रही है—

राज्य विधान सभाएँ		निर्वाचित सदस्यो की संख्या		प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या
आसाम	...	१०८	...	७९
बिहार	...	३३०	...	११६
बम्बई	...	३१५	...	१०४
मध्य प्रदेश	...	२३२	...	९०
मद्रास	...	३७५	...	१४५
उड़ीसा	...	१४०	...	१०३
पंजाब	...	१२६	...	१००

[1] अनु० ५५

उत्तर प्रदेश	...	४३०	...	१४३
पश्चिमी बङ्गाल	...	२३८	...	१०२
हैदराबाद	...	१७५	...	१०१
कश्मीर	...	७५	...	५९
मध्यभारत	...	९९	...	७९
मैसूर	...	९९	...	८२
पेप्सू	...	६०	...	५५
राजस्थान	...	१६०	...	९२
सौराष्ट्र	...	६०	...	६६
तिर्वांकुर-कोचीन	...	१०८	...	७९
अजमेर	...	३०	...	२४
भोपाल	...	३०	...	२८
कुर्ग	...	२४	...	७
दिल्ली	...	४८	...	३२
हिमाचल प्रदेश	...	३६	...	३०
विन्ध्य प्रदेश	...	६०	...	६५
कुल योग		३३५८		३,४५,२५१

संसद

लोक सभा ४९५ }
राज्य परिषद २०४ } = ६९९ ४९४ योग ३४५,२५१

निर्वाचक मंडल के कुल मतो की संख्या—६,९०, ५५७

प्रत्येक निर्वाचक सदस्य की मत संख्या ऊपर लिखे सूत्र के अनुसार निश्चित की गई थी। इस सूत्र को नीचे लिखे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश की जनसंख्या ६,१६,२८,००० और उसकी विधान सभा में ४३० निर्वाचित सदस्य थे। अतएव प्रत्येक सदस्य के मतो की संख्या इस प्रकार निश्चित की गई—

$$\frac{६,१६,२८,०००}{४३०} \div १००० = १४३३२० \div १०००$$

अर्थात् १४३$\frac{३२०}{१०००}$

अर्थात् १४३$\frac{३२०}{१०००}$ भिन्न को जो $\frac{१}{२}$ से कम थी, छोड़ दिया गया।

इसी प्रकार अन्य राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के मतों की संख्या भी निर्धारित की गयी। अन्त में इन मतों की कुल संख्या ३,४५,२५१ हुई। समानता के

नियम के अनुसार ससद के ६६६ सदस्यों को भी इतने ही अर्थात् ३,४५,२५१ मत मिले जिससे ससद के प्रत्येक सदस्य को ४६४ मतो के प्रयोग का अधिकार मिला। इन मत संख्याओं का निर्धारण राष्ट्रपति के प्रत्येक चुनाव के लिए निर्वाचन-आयोग द्वारा नये सिरे से किया जाता है। निर्वाचन-आयोग अपने निर्णय की सूचना निर्वाचनाधिकारी को दे देता है जो इसका प्रयोग निर्वाचन का फल निकालने के लिए करता है। जनसंख्या में परिवर्तन के अनुसार प्रत्येक राष्ट्रपति के चुनाव मे इन मतसख्याओं मे थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता जायगा।

निर्वाचन पद्धति (The Election Procedure)—संविधान के अनुच्छेद ७१ (३) के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति सम्बन्धी सूक्ष्म और विस्तृत बातों को संसद के कानून द्वारा निश्चित किया गया।[1] केन्द्रीय सरकार के परामर्श से सर्वप्रथम निर्वाचन आयोग एक निर्वाचनाधिकारी की नियुक्ति करता है। निर्वाचनाधिकारी का प्रधान कार्यालय दिल्ली मे है। निर्वाचनाधिकारी के लिए दो-एक सहायक अधिकारियो की भी नियुक्ति की जा सकती है।

राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम १६५२ के अनुसार नामांकन पत्र दाखिल करने की अन्तिम तिथि को दिन में ३ बजे तक उम्मीदवार का नामांकन पत्र, जिस संसदीय निर्वाचन क्षेत्र की मतदाताओं की सूची मे उसका नाम हो, प्रमाणित प्रतियों सहित स्वयं उम्मीदवार द्वारा अथवा उसके प्रस्तावक या अनुमोदक द्वारा निर्वाचन अधिकारी को दे दिया जाना चाहिए।

नामांकन पत्र दाखिल करने की अन्तिम तिथि, उनकी जाँच की तिथि, उम्मीदवारों द्वारा नाम की वापसी और मतदान की तिथि, ये सब बाते निर्वाचनाधिकारी विधि के अनुसार क्रम से निश्चित करता है।[2] कोई भी निर्वाचक एक से अधिक उम्मीदवार के नाम का न तो प्रस्तावक और न अनुमोदक हो सकता है। एक ही उम्मीदवार के नाम कई नामांकन पत्रो द्वारा प्रस्तावित किया जा सकता है।

किसी भी उम्मीदवार का नामांकन पत्र निम्नलिखित किसी कारण से अस्वीकृत किया जा सकता है,[3] अर्थात्

(१) कि अभ्यर्थी सविधान के अनुसार राष्ट्रपति के पद के लिए अयोग्य है, या

(२) कि प्रस्तावक या अनुमोदक उपयुक्त योग्यताहीन है, या

(३) कि प्रस्तावक या अनुमोदक या उम्मीदवार मे से किसी के भी हस्ताक्षर जाली हैं या धोखे से प्राप्त किये गये हैं, या

[1] राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम १६५२। [2] राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम विभाग ४, [3] राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन नियम संख्या ६ (३);

(४) कि नामांकन पत्र किसी महत्वपूर्ण बात में अपूर्ण या दोष-युक्त है, या

(५) कि प्रस्तावक या अनुमोदक ने निर्वाचनाधिकारी के पास उसी चुनाव के लिए किसी अन्य उम्मीदवार का नाम भेज दिया है।[१]

राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए मतदान दिल्ली तथा प्रत्येक राज्य की राजधानी में होता है।[२] राज्य विधान सभाओं के सदस्य विधान-सभा भवनों मे ही मतदान करते हैं जब कि संसद सदस्य अपने राज्य के विधान सभा भवनों में ही मतदान मे भाग लेते हैं अथवा दिल्ली स्थित संसद भवन में। नजरबन्द निर्वाचक भी राष्ट्रपति के चुनाव मे अपना मत डाक द्वारा भेज सकते हैं (लेकिन वे उपराष्ट्रपति के चुनाव मे ऐसा नही कर सकते।)

मतदान के बाद मतपत्रों के बक्स मुहरबन्द करके निर्वाचनाधिकारी के पास गणना के लिए दिल्ली लाये जाते है।[३]

संविधान के शब्दों में राष्ट्रपति का निर्वाचन गुप्त मतदान द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एक हस्तातरणीय मत द्वारा होता है।[४] कोई भी निर्वाचक मत-पत्र १, २, ३, ४ आदि लिख कर अपनी रुचि या पसन्द के क्रम से उतने मत प्रकाशन कर सकता है जितनी उम्मीदवारों की संख्या हो। यदि कोई व्यक्ति हर नाम के सम्बन्ध में अपनी रुचि न प्रकट कर के एक या दो उम्मीदवारों को ही अपना मत देता है, तो इस कारण उसका मत-पत्र अशुद्ध नहीं होता है। लेकिन यदि निर्वाचक प्रथम रुचि ही प्रकट नहीं करता या एक से अधिक उम्मीदवारों के नाम के सामने (१) संख्या लिख देता है, या ऐसा मत प्रकाशन का चिह्न लगाता है जो सशयात्मक है या किसी ऐसे उम्मीदवार के नाम के समक्ष चिह्न लगाता है जिसके नाम के पहले से ही कोई संख्या लिखी हो तो उसका मत पत्र रद्द कर दिया जाता है। वह मत पत्र भी रद्द कर दिया जाता है जिससे पता चल जाय कि किस मतदाता ने उसे डाला था।[५]

निर्वाचन आयोग द्वारा निश्चित तिथि को नई दिल्ली में निर्वाचनाधिकारी के कार्यालय मे निश्चित समय पर मतो की गणना होती है।[६] जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है हर मत पत्र का मूल्य अलग-अलग होता है और वह मूल्य निर्वाचन आयोग द्वारा एक निश्चित रीति द्वारा निर्धारित किया जाता है जिसका उल्लेख विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। मत गणना के पश्चात् नीचे लिखी पद्धति द्वारा फल निश्चित किये जाते हैं।[७]

चुनाव फल किस प्रकार निश्चित होता है?—सबसे पहले यह तय किया जाता है कि कौन-सा मतपत्र वैध है और कौन-सा अवैध। वैध और अवैध मतपत्रों को

[१]वही नियम संख्या ३, [२]वही, संख्या ६, [३]वही, संख्या २०-२४, [४]अनु० ६५ (३) [५]राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम संख्या २८, [६]वही संख्या २८, [७]वही अधिनियम, नियम संख्या ३६ (३) से (६) की अनुसूची

अलग-अलग छाँट लिया जाता है। उसके बाद वैध मतपत्रों में से यह देखा जाता है कि किस उम्मीदवार को प्रथम संसद अर्थात् उसके नाम के १ संख्या वाले कितने मत मिले हैं। प्राप्त प्रथम मतों की संख्या लिख दी जाती है।

इसके बाद कुल वैध मतो के मूल्य में दो का भाग देकर और फल मे एक जोड़ कर चुनाव संख्या (Electoral quota) निकाल लिया जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी चुनाव में वैध मतों का मूल्य १०,००० है तो चुनाव अंक १०,०००/२+१ अर्थात् ५००१ होगा। निर्वाचित होने के लिए आवश्यक है कि उम्मीदवार कम से कम उक्त अंक के बराबर मत प्राप्त करे। सामान्य भाषा मे उक्त कथन का अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए किसी उम्मीदवार को कुल वैध मतो की संख्या का स्पष्ट बहुमत अर्थात् आधे से अधिक मत अवश्य मिलने चाहिए।

यह तो स्पष्ट है ही कि यदि, दो ही उम्मीदवार हो तो उनमें से एक को (यदि दोनो को समान ही मत न मिल जाय) स्पष्ट बहुमत अवश्य मिल जायगा। ऐसी अवस्था मे निर्वाचन पद्धति सामान्य निर्वाचन की भांति ही चलती है और जिसको बहुमत प्राप्त हो जाता है वही उम्मीदवार विजयी घोषित कर दिया जाता है। किन्तु यदि उम्मीदवारों की संख्या दो से अधिक है तो यह सम्भव है कि उनमें से किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत न प्राप्त हो सके। यदि चार उम्मीदवार क, ख, ग और घ हो तो उनमें मतों का वितरण भी हो सकता है।

क	३५००	योग १०,०००
ख	३२००	
ग	१८००	
घ	१५००	

यहाँ किसी भी उम्मीदवार को बहुमत या चुनाव अको के बराबर ५००१ मत प्राप्त नही हुए हैं। इस दशा मे सबसे कम मत मिलने वाले उम्मीदवार 'घ' को पराजित घोषित कर दिया जायगा और उसके मत शेष तीन उम्मीदवारो मे उन पर लिखी (२) संख्यानुसार वितरित कर दिये जायँगे। मान लीजिए कि घ के मतो से द्वितीय विकल्प (Choice) के अनुसार 'क' को १५०, 'ख' को १३०० और 'ग' को ५० मत मिले तो इस अवस्था मे राष्ट्रपति पद के शेष उम्मीदवारो की स्थिति इस प्रकार हो जायगी।

क	३५००+१५० =३६५०
ख	३२००+१३००=४५३०
ग	१८००+५० =१८५०
घ	×

लेकिन अभी भी किसी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला है, इसलिए इस बार सबसे कम संख्या के मत वाले 'ग' को पराजित घोषित कर दिया जायगा और उसके मतों को उन पर लिखी (२) संख्या अर्थात् द्वितीय विकल्प के अनुसार 'क' और 'ख' में बाँट दिया जायगा। मान लीजिए 'ग' के १८५० मतों में १२०० मत 'क' को और ६५० 'ख' को मिलते हैं तो स्थिति यह हो जायगी—

क	३५००+१५०+१२०० =४८५०
ख	३२००+१३००+६५० =५१५०
ग	×
घ	×

अब 'ख' को चुनाव अंक के निश्चित ५००१ मतों से अधिक मत अर्थात् ५१५० मत मिल गये, इसलिए 'ख' विजयी घोषित कर दिया जायगा। यदि उम्मीदवारों की संख्या, अधिक होती और यह आवश्यक होता तो सब से कम मतवाले उम्मीदवारों को एक के बाद एक क्रमशः पराजित घोषित करके उनके मतों का अन्य उम्मीदवारों में वितरण क्रिया तब तक बार-बार दुहराई जाती जब तक किसी उम्मीदवार को चुनाव अंक के बराबर या उससे अधिक मत न प्राप्त हो जाते।

इस पद्धति के प्रयोग में दो जटिलताएँ उत्पन्न हो सकती हैं। उनमें पहली तो यह है कि पराजित उम्मीदवार को अलग करने की प्रक्रिया में कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि सबसे कम मत वाले दो उम्मीदवार हों जिनके मतो की संख्या समान ही हो। ऐसी अवस्था में इन दोनों में से उस उम्मीदवार को पराजित घोषित किया जायगा, जिसे प्रथम विकल्प के सबसे कम मत मिले हों। लेकिन यदि दोनों उम्मीदवारों को प्रथम विकल्प में भी समान संख्या में मत मिले हों तो इसका फैसला चिट्ठी डाल कर किया जायगा। दूसरी बात यह है कि यदि किन्हीं मतपत्रों में द्वितीय या तृतीय अथवा आगे के विकल्प न दिये हुए हों तो ऐसी अवस्था में मतो का वितरण शेष उम्मीदवारों से असम्भव हो जायगा। ऐसे मतपत्रों को जिन पर द्वितीय या आगे के विकल्प न होंगे उन्हें 'समाप्त' समझा जायगा और अलग रख दिया जायगा।

क्या यह आनुपातिक प्रतिनिधित्व है ?

संविधान में इस पद्धति को एकत्र हस्तान्तरणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था कहा गया है। लेकिन यह शब्दावली ठीक नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि अनुपात का प्रश्न वहाँ उठता है जहाँ कम से कम दो वस्तुओं में तुलना की आवश्यकता हो। लेकिन जहाँ केवल एक ही पद के रिक्त स्थान की पूर्ति होनी हो अर्थात् जहाँ केवल एक ही राष्ट्रपति चुना जाने वाला हो वहाँ का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस दशा में अनुपात किसके बीच होगा और क्या होगा ? जहाँ बहुत से स्थानों का चुनाव होना हो वहाँ तो आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा प्रत्येक दल या समूह को उसके प्राप्त मतों के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है लेकिन जहाँ केवल एक ही पद का चुनाव हो वहाँ उस समय तक आनुपातिक प्रतिनिधित्व करने की बात करना हास्यास्पद है जब तक राष्ट्रपति के पद को टुकड़ो में न बांटा जा सके और फिर उन टुकड़ों को इस प्रकार न वितरित किया जा सके कि निर्वाचन में समूहों या दलों का जितने मत प्राप्त हुए हैं उन्ही के अनुसार वे टुकड़े उन्हे न मिल जायें। इस पद्धति और आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति में बाह्य लक्षणों की समानता अवश्य प्रतीत होती है क्योंकि दोनो मतों का हस्तान्तरण होता है किन्तु इन दोनो में उतना ही अन्तर है जितना खच्चर और घोड़े में। यह पद्धति 'विकल्पनात्मक मत, (Alternative Vote) के नाम से संसार भर मे प्रसिद्ध है और सामान्य या बहुमत प्रतिनिधित्व का ही थोड़ा परिष्कृत रूप है। इस पद्धति के परिणामस्वरूप आनुपातिक प्रतिनिधित्व नही होता बल्कि केवल इतना होता है कि स्पष्ट बहुमत मिले बिना कोई राष्ट्रपति नही चुना जा सकता। कभी-कभी ऐसा हो सकता है जैसा कि ऊपर दिये गये हमारे दृष्टान्त से स्पष्ट है कि विजयी उम्मीदवार का फैसला प्रथम विकल्प के मतों द्वारा न हो बाद के विकल्पों द्वारा हो। ऐसा होने से संभव है कुछ अल्पसंख्यक समूहों का चुनाव पर कुछ प्रभाव पड़ सके, किन्तु ऐसा सदैव नही होता।

यदि उम्मीदवारों की सख्या केवल दो है या दो से अधिक उम्मीदवार होते हुए भी अधिकाश मतदाता द्वितीय या आगे के विकल्प मत पत्र पर देते नही (क्योंकि इस व्यवस्था मे ऐसी कोई बाध्यता या अनिवार्यता नहीं है) तो यह पद्धति भी ठीक उसी तरह कार्य करेगी जिस तरह सामान्य बहुमत प्रतिनिधित्व की पद्धति—और यह बात हमारे इस कथन का एक और प्रमाण है कि उक्त व्याख्या सच्ची आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति नहीं है।

पद्धति का एक और सम्भव दोष

इस पद्धति में एक और दोष उत्पन्न होने की संभावना है, हालांकि उसकी नौबत आना बड़ा कठिन है। यदि उम्मीदवारो की संख्या दो से अधिक है और मतदाता मतपत्रो पर अपने विकल्प चिन्हित नही करते, अर्थात् केवल एक ही उम्मीदवार को मत देते हैं और यदि मत इस प्रकार विभक्त हो जाते हैं कि किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत नही मिलता, तो क्या होगा ? यथा, क, ख, ग और घ के बीच १०,००० मत यदि इस प्रकार विभक्त हो जायें जैसा कि ऊपर वाले दृष्टान्त मे दिखलाया गया है और बाद के विकल्पो के चिन्हित न किये जाने की वजह से मतो का

हस्तान्तरण न हो सके तो इस प्रणाली द्वारा कुछ निर्णय ही न हो सकेगा। दोष तो तभी दूर हो सकता है जब कुछ न कुछ विकल्पो को चिन्हित करना अनिवार्य कर दिया जाय। आस्ट्रेलिया के राज्यो मे इस पद्धति का सीनेटरो के चुनने में प्रयोग किया जाता है लेकिन वहाँ हर मतदाता इतने वैकल्पिक मत प्रकट करे जितनी कि उम्मेदवारो की सख्या है।

सन् १९५२ का राष्ट्रपति का निर्वाचन—सन् १९५२ के मई मास में राष्ट्रपति का जो चुनाव हुआ था उसमे पाँच उम्मीदवार थे। निर्वाचन मंडल में कुल ४०५७ मतदाता थे और उनके द्वारा प्रयोग किये जा सकने वाले मतो का मूल्य ६,९०,५५७ था। लेकिन इसमें से केवल ६,१५,६१३ मूल्य का मतदान हुआ। इनमें से भी १०,५२७ मतो के मूल्य के मतपत्र अशुद्ध घोषित कर दिये गये। ९० प्रतिशत मतदाताओ ने मतदान मे भाग लिया।

विजयी उम्मीदवार डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने ५,०७,४०० मूल्य के मत प्राप्त किये जो कुल मतो के ८४ प्रतिशत थे।

निर्वाचन सम्बन्धी विवाद—राष्ट्रपति के निर्वाचन का फल प्रकाशित होने के ३० दिन के भीतर कोई भी उम्मीदवार दस या इससे अधिक मतदाता उच्चतम न्यायालय में किसी उम्मीदवार के निर्वाचन पर आपत्ति कर सकते है। जिन आधारो पर आपत्ति की जा सकती है, वे हैं, निर्वाचन मे विजयी उम्मीदवार द्वारा रिश्वत दिया जाना या मतदाताओ पर अनुचित प्रभाव डाला जाना, या उम्मीदवार की ओर से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा ऐसा किया जाना, या किन्ही मतपत्रो का अनुचित ढंग से अवैध घोषित कर दिया जाना, या राष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बन्धी किसी भी सवैधानिक अथवा विधि की व्यवस्था का पालन न किया जाना। इनमें से किसी भी आधार पर यदि उसका निर्वाचन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा है उच्चतम न्यायालय मे आपत्ति की जा सकती है। यदि किसी उम्मीदवार का नामाकन पत्र अनुचित रूप से अस्वीकृत कर दिया जाता है तो उसके कारण भी न्यायालय मे मामला जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय विवाद की परिस्थितियो के अनुसार प्रार्थनापत्र अस्वीकृत कर सकता है या निर्वाचित उम्मीदवार का निर्वाचन दूषित ठहरा कर उसके स्थान पर किसी अन्य उम्मीदवार को विजयी घोषित कर सकता है।

सामान्य व्यवहार न्यायालय (Civil Courts) राष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बन्धी मामलो में हस्तक्षेप नही कर सकते।

राष्ट्रपति के पद की आकस्मिक रिक्तता

यदि किसी कारण राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता है तो रिक्त स्थान की पूर्ति

६ मास के भीतर नये निर्वाचन द्वारा होनी चाहिए। जब तक निर्वाचन द्वारा स्थानपूर्ति नहीं होती उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति का कार्य करता है। यदि राष्ट्रपति का कार्यभार सँभालने के लिए उपराष्ट्रपति भी उपलब्ध न हो तो उस स्थिति का प्रबन्ध संसद कोई विधि बना कर करती है।[1]

राष्ट्रपति का कार्यकाल—राष्ट्रपति का निर्वाचन ५ वर्ष की अवधि के लिए होता है।[2] राष्ट्रपति का स्थान यदि आसनारूढ़ राष्ट्रपति की मृत्यु, त्यागपत्र या पदच्युति के कारण रिक्त होता है तो नया राष्ट्रपति पूरी पाँच वर्ष की अवधि के लिए ही निर्वाचित होता है पूर्ववर्ती राष्ट्रपति की अवशिष्ट अवधि के लिए नहीं।[3] राष्ट्रपति का पुनर्निर्वाचन चाहे जितनी बार किया जा सकता है।

महाभियोग लगा कर राष्ट्रपति को हटाने की पद्धति—संविधान के विरुद्ध आचरण करने पर राष्ट्रपति को महाभियोग लगा कर हटाया जा सकता है। महाभियोग की प्रक्रिया संसद का कोई भी सदन आरम्भ कर सकता है; किन्तु इसकी पहिली शर्त यह है कि महाभियोग के प्रस्ताव की सूचना १४ दिन पूर्व दी जानी चाहिए और उस सूचना पर उस सदन के कम से कम एक-चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए। यदि प्रस्ताव सदन की कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई मतों से पारित हो जाय तो उसे दूसरे सदन के पास अनुसंधान तथा निर्णय के लिए भेज दिया जाता है और यदि दूसरा सदन भी दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाये गये अभियोगों को स्वीकार कर उस प्रस्ताव को पारित कर देता है तो राष्ट्रपति को पदत्याग करना पड़ता है। जिस राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाया गया हो उसे इस बात का अधिकार है कि वह अनुसंधान करने वाले सदन के समक्ष आ कर अपनी पैरवी कर सके और अभियोगों से अपनी रक्षा करने के लिए जो कुछ कहना हो कह सके।[4]

वेतन भत्ता आदि—राष्ट्रपति को दस हजार रुपया मासिक वेतन मिलता है। आवास के लिए बिना किराया दिये निवासस्थान मिलता है। वेतन के अतिरिक्त राष्ट्रपति को संसद द्वारा निर्दिष्ट भत्तों के रूप में एक अच्छी रकम और मिलती है। वह अपने कार्यकाल में कोई अन्य लाभ का पद ग्रहण नहीं कर सकता।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ—राष्ट्रपति को बहुत सी व्यक्तिगत उन्मुक्तियाँ और सार्वजनिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। वह अपने कार्यकाल में पद के कर्तव्यों की पूर्ति के लिए जो भी कार्य करता है उसके लिए वह किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। वह न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न कारागार भेजा जा सकता

---

[1]अनु० ६२ (२) और ६५ (१), [2]अनु० ५६ (१), [3]अनु० ६२ (२)
[4]अनु० ६१

है। पदावधि में उसके विरुद्ध दण्ड विधि की कोई प्रक्रिया लागू नहीं की जा सकती। राष्ट्रपति पर व्यवहार-न्यायालय (Civil Court) मे मामला चलाया जा सकता है किन्तु केवल दो मास पूर्व लिखित सूचना देने के बाद।[१] उसका किसी भी अधिकारी के समक्ष कोई राजनीतिक उत्तरदायित्व नही है। उसे केवल महाभियोग द्वारा ही संविधान का उल्लंघन करने के अपराध पर उसके पद से हटाया जा सकता है।

राष्ट्रपति की सार्वजनिक शक्तियाँ तीन भागो में विभाजित की जा सकती है—साधारण कालीन, संकट कालीन और अस्थायी। साधारण कालीन शक्तियाँ वे हैं जिनका प्रयोग राष्ट्रपति सामान्य दशाओं मे दैनिक प्रशासन के कार्यों में करता है। संकट कालीन शक्तियाँ वे हैं जिनका प्रयोग राष्ट्रपति युद्ध, आन्तरिक व्यवस्था और संवैधानिक विफलता जैसी असाधारण दशाओ में देश की खतरो से रक्षा के लिए करता है। शक्तियों के ये वर्ग संविधान की स्थायी व्यवस्थायें हैं, यद्यपि संकटकालीन शक्तियो का प्रयोग स्वाभावतः केवल कभी-कभी ही किया जायगा। इसके विपरीत अस्थायी शक्तियाँ वे हैं जो संक्रमणकालीन परिस्थितियों की कठिनाइयों का सामना करने के लिए केवल कुछ वर्षों के लिए राष्ट्रपति को दी गई थी और बाद में लुप्त हो जायेंगी।

सामान्य काल में राष्ट्रपति की शक्तियाँ

राष्ट्रपति की सामान्यकालीन शक्तियो को हम सुविधापूर्वक चार शीर्षकों मे विभक्त कर सकते है—विधायिका, वित्तीय, कार्यपालिका सम्बन्धी और न्यायपालिका सम्बन्धी।

राष्ट्रपति की विधायिका शक्तियाँ—राष्ट्रपति स्वयं संसद के किसी भी सदन का सदस्य नही होता किन्तु उसे ससद की रचना, सत्रो तथा विधि-निर्माण आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी शक्तियाँ प्राप्त हैं। वह राज्य परिषद में १२ सदस्य मनोनीत कर सकता है। इसी प्रकार लोकसभा मे भी दो एंग्लो इण्डियन सदस्यो को मनोनीत कर सकता है। किसी भी सदन के सदस्यता की अयोग्यता के सम्बन्ध के प्रश्नों का निर्वाचन आयोग (Election Commission) के परामर्श से निर्णय करता है।[२] लोक सभा के सत्रो के आरम्भ और अवसान की तिथियाँ वही निश्चित करता है। वह लोकसभा को किसी भी समय विघटित कर सकता है।[३] यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों में मतभेद हो जाय तो वह उसे दूर करने के लिए दोनों सदनो का संयुक्त अधिवेशन करा सकता है।[४] वह किसी सदन मे या दोनो सदनो के संयुक्त अधिवेशन में भाषण दे सकता है। वह चाहे तो किसी भी समय एक या दोनों सदनों को संदेश भेज सकता है। लोकसभा के प्रत्येक साधारण निर्वाचन के बाद प्रति वर्ष लोकसभा का प्रथमसत्र राष्ट्रपति के भाषण से प्रारम्भ होता है।

[१]अनु० ८०, [२]अनु० १०३, [३]अनु० ८५ (२), [४]अनु० १०८ (१)

जहाँ तक विधि-निर्माण का सम्बन्ध है, राष्ट्रपति की स्वीकृति या सिफारिश के बिना कुछ प्रकार के विधेयक को संसद मे विचारार्थ उपस्थित ही नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए राज्यो का पुनर्वितरण, नाम या सीमाएँ या क्षेत्र परिवर्तन या धन-सम्बन्धी कोई भी विधेयक ससद् मे बिना राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति अथवा सिफारिश के ससद मे नही आ सकता। राज्य विधान-मण्डलो में भी कुछ प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना विचारार्थ उपस्थित नहीं किए जा सकते, उदाहरणार्थ ऐसा कोई विधेयक जिससे राज्य में व्यापार-वाणिज्य या गमनागमन की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगता हो या उसमें बाधा पड़ती हो।[1] दूसरे, संसद द्वारा पारित कोई विधेयक बिना राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के विधि नही बन सकता। राष्ट्रपति किसी भी विधेयक को अस्वीकृत कर सकता है और धन सम्बन्धी विधेयकों को छोड़ कर किसी भी विधेयक को संसद के पास पुनर्विचारार्थ वापस भेज सकता है। लेकिन पुनर्विचार के लिए आने पर संसद यदि उस विधेयक को दूसरी बार भी संशोधित या बिना संशोधन के पारित कर देती है तो राष्ट्रपति उस विधेयक पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य है।[2] इस प्रकार राष्ट्रपति को संघीय विधेयकों पर निषेधाधिकार (absolute veto) प्राप्त है तथा वह किसी विधेयक को संसद के पास लौटा कर उसके विधि बनने मे देर भी कर सकता है। कुछ प्रकार के राज्य सम्बन्धी विधियो पर भी उसकी स्वीकृति आवश्यक है। ऐसी विधियो के विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के हस्ताक्षरो के लिए सुरक्षित रख लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए किसी राज्य का विधानमण्डल यदि समवर्ती सूची के किसी ऐसे विषय के सम्बन्ध मे विधि बनाता है जो उसी विषय की सङ्घीय विधि के प्रतिकूल पड़ता है तो राज्यपाल राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित उस विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख लेगा।[3] इसी प्रकार यदि कोई राज्य विधान मण्डल किसी प्रकार की सम्पति को अनिवार्य रूप से लेना चाहता है[4] या कुछ विशेष प्रकार के कर आदि लगाना चाहता है[5] तो इन विधेयकों को भी राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखेगा। राज्यो का इस प्रकार की विधियो पर राष्ट्रपति हस्ताक्षर करना अस्वीकार कर सकता है। उसका यह निषेधाधिकार वास्तविक तथा निरपेक्ष (absolute) है।

अंत मे, राष्ट्रपति को ससद के सूत्र मे होने के समय, नई विधि की आवश्यकता पड़ने पर अध्यादेश (ordinance) जारी करने का अधिकार है। राष्ट्रपति के अध्यादेश संसद की पुनः बैठक के प्रारम्भ के छः सप्ताह बाद तक कानून का काम देते हैं। उसके बाद मे उनकी कालावधि समाप्त हो जाती है। संसद का अधिवेशन प्रारम्भ होते ही इन अध्यादेशों को दोनो सदनों के समक्ष विचारार्थ उपस्थित कर दिया जाना चाहिए। और यदि

[1] अनु॰ ३०४. [2] अनु॰ १११, [3] अनु॰ २५४, [4] अनु॰ ३१-३३, [5] अनु॰ २८६-३, २८८-२,

वे प्रस्ताव द्वारा उन्हें अस्वीकृत कर दे तो वे तुरन्त ही समाप्त हो जाते हैं। अध्यादेश संसद की विधायिका शक्ति के बाहर न होने चाहिए अथवा वे न्यायालयों द्वारा अवैध (ultra vires) घोषित कर दिये जाते है। संघीय भू-भागों तथा लका दीप, मिनीकाय तथा अमीन दिवी द्वीपों के लिए राष्ट्रपति को नियम बनाने की शक्ति है। ये नियम उन क्षेत्रों में संसद की भाँति ही मान्य होते है।[1]

राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियाँ—संघ की सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। वह उन शक्तियों का प्रयोग या तो स्वयं या अपने अधीन कर्मचारियों द्वारा कर सकता है।[2] कार्यपालिका शक्ति में बहुत सी बातें सम्मिलित हैं। प्रथम स्थान में भारत सरकार का समस्त प्रशासन कार्य राष्ट्रपति के नाम से होता है। औपचारिक दृष्टि से भारत सरकार के सभी महत्वपूर्ण निर्णय राष्ट्रपति के निर्णय माने जाते हैं। वह शासन कार्यवाही के नियम बनाता है और मंत्रियों में कार्य वितरित करता है।[3] दूसरे, उसे सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। प्रधानमंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को मंत्रिमंडल के निर्णयों की बराबर सूचना देता रहे। इसके साथ राष्ट्रपति प्रशासन सम्बन्धी जो भी सूचनाएँ माँगे, उनको देना भी प्रधानमंत्री का कर्तव्य है। वह प्रधान मंत्री से कह सकता है कि किसी एक मंत्री के निर्णयों को विचार के लिए मंत्रीमण्डल के समक्ष उपस्थित किया जाय।[4] तीसरे राष्ट्रपति समग्र देश के सेना का सर्वोच्चाधिकारी है। लेकिन राष्ट्रपति की सैन्य शक्ति का विधियों के अनुसार नियमन किया जाता है। अन्य देशों के अनुभवों से ज्ञात होता है कि युद्धकाल में कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्र की सेना के सर्वोच्च सेनापति के रूप में व्यवहारतः देश की रक्षा के हित में असीमित शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। चौथे, राष्ट्रपति को नियुक्ति तथा पदच्युत करने की महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है और प्रधानमंत्री मन्त्रणानुसार अन्य मंत्रियों, उच्चतम और उच्चन्यायालयों के न्यायाधीशों, राज्यपालों, महान्यायवादी, नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक, संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों, निर्वाचन दिस, राजभाषा तथा अन्य बहुत से आयोगों के सदस्यों आदि की नियुक्ति करता है। वह प्रधान न्यायाधीश तथा उच्चतम और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, संघ तथा राज्य लोकसेवा-आयोगों के अध्यक्षों और सदस्यों को भी कुछ अवस्थाओं में एक निश्चित प्रक्रिया द्वारा हटा सकता है।[5] पांचवे राष्ट्रपति को संसद के उभय सदनों की संयुक्त बैठकों सम्बन्धी नियम बनाने की शक्ति है। वह उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्तियों विषयक नियम बना सकता है। वह नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की प्रशासकीय शक्तियों के प्रयोग तथा संघीय लोक सेवाओं में भरती,

[1]अनु० १२३ और २४३ (२), [2]अनु० ५३ (१), [3]अनु० ७-७७, [4]अनु० ७८, [5]अनु १२४ (४), २१७ (१) (ख), ३१७ (३ और ४)

संघ लोकसेवा आयोग के सदस्यों की संख्या निर्धारण तथा कुछ अन्य विशेष मामलो के सम्बन्ध में भी नियम बना सकता है।[1] छठें, कुछ अन्य प्राधिकारियों के प्रशासनिक कृत्यों तथा निर्णयों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है जैसे उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्मित उसकी प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों, नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा निर्धारित हिसाब-किताब के पत्रकों के स्वरूप, संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा किसी राज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति आदि के लिए।[2] सातवें, राष्ट्रपति राज्य को अध्यक्ष की हैसियत से भारत के राजदूतों और प्रतिनिधियों को अपने प्रत्ययपत्र देकर बाहर के देशों में भेजता है और बाहर के देशों से भारत आये राजदूतों तथा प्रतिनिधियों के प्रत्ययपत्र स्वीकार करता है।

यह विवादास्पद है कि राष्ट्रपति युद्ध या शान्ति की घोषणा तथा विदेशी राष्ट्रों से संधि कर सकता है या नही। संविधान के आलोचकों में से कुछ का मत है कि यह शक्ति राष्ट्रपति को नही बल्कि अमेरिका और फ्रांस आदि की भाँति संसद (Parliament) को प्राप्त है।

इसके समर्थन में पहला तर्क यह है कि संविधान ने प्रत्यक्षतः ये शक्तियाँ राष्ट्रपति को नही दी है। दूसरा तर्क यह है कि शक्तियाँ सातवी अनुसूची की प्रथम तालिका मे लिखी हुई हैं जिसमे उन बातों का वर्णन है कि जिन पर केवल संघ संसद (Union Parliament) ही विधेयन कर सकती है। संविधान के अनुच्छेद ५६ (३) (क) के अनुसार राष्ट्रपति को कोई ऐसा कार्य करने का अधिकार है जो वर्तमान विधियों के अनुसार 'किसी अन्य प्राधिकारी' को दिये गये हैं। परराष्ट्र सम्बन्ध, जिनमें संधियाँ, युद्ध तथा शांति के विषय भी सम्मिलित हैं स्पष्टतः संघ संसद को दे दिये गये हैं। इसलिए उसके सम्बन्ध की शक्तियाँ राष्ट्रपति के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आतीं।

इस दृष्टिकोण के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं: पहला, यह है कि यद्यपि युद्ध, शान्ति और संधि के अधिकार स्पष्टतः राष्ट्रपति को नही दिये गये हैं लेकिन फिर भी वे संघ की कार्यपालिका शक्ति के अङ्ग हैं जो संविधान द्वारा राष्ट्रपति को दी गई है। दूसरे यह कहना गलत होगा कि उक्त शक्तियाँ संघ संसद को केवल इसलिए प्राप्त हैं कि उनका उल्लेख सातवी अनुसूची की प्रथम तालिका मे कर दिया गया है। हमे उक्त प्रथम तालिका की व्याख्या संविधान के २४६वे अनुच्छेद के अन्तर्गत करनी पड़ेगी क्योकि उसका सम्बन्ध उसी अनुच्छेद से है। उक्त अनुच्छेद के अनुसार संसद को प्रथम तालिका में उल्लिखित किसी भी विषय पर विधियाँ बनाने का विशिष्ट अधिकार प्राप्त है। इसका

[1] अनु० ११८ (३) और १४६ (१), १४८ (५), ३०६, ३१८, ३२० (३) की व्यवस्थाएँ, [2] अनु० १४५ (१) १५०, ३१५ (क) की व्यवस्थाएँ।

आशय यह है कि विदेशी मामलों, युद्ध, शान्ति या संधियों के सम्बन्ध में किसी भी विधि के बनाने का अधिकार राज्य विधान-मंडल को नही किन्तु केवल संघ संसद को है। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि इन शक्तियो के कार्यपालिकात्मक पक्ष (Executive aspect) अर्थात् युद्ध की घोषणा करने, शांति स्थापित करने या संधियाँ करने की शक्ति भी संसद ही को है और राष्ट्रपति को नही, जब कि संविधान राष्ट्रपति को ही समस्त कार्य-पालिका के अधिकार और शक्तियाँ स्पष्टतः दे देता है। अमेरिका मे अवश्य ही जो शक्तियाँ कांग्रेस (संघीय विधान मंडल) को प्राप्त हैं उनसे राष्ट्रपति वञ्चित है। लेकिन वहाँ ऐसा इसलिए है कि अमेरिकन संविधान में शक्ति विभाजन के सिद्धात का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत हमारे देश में संसदीय शासन है जिसमें कार्यपालिका और संसद में स्पष्ट अधिकार विभाजन नही किया जा सकता है। अतः उक्त विषयो का विधेयन पक्ष भले ही संसद के हाथ मे हो किंतु जहाँ तक कार्यपालिका पक्ष का प्रश्न है, वह स्पष्टतः राष्ट्रपति को प्राप्त है। परराष्ट्र सम्बन्ध की दैनिक बातें, संधि सम्बन्धी वार्ताएँ (इसमे संधियो को क्रियान्वित करने की शक्ति नही सम्मिलित है।) आदि ऐसी हैं जो स्वभावतः कार्यपालिका या राष्ट्रपति के क्षेत्र की हैं और संसद को यदि वे अधिकार दे भी दिये जायें तो वह शायद उन्हे बिल्कुल न सँभाल पायेगी। यही नही, कार्यपालिका विदेशी मामलों का वैधानिक संचालन इस प्रकार कर सकती है और अपने कार्यों द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकती है जिससे संसद को विवश हो कर युद्ध या शान्ति की घोषणा करनी ही पड़े या किसी संधि को मजबूर हो कर क्रियान्वित करना पड़े। हमें इस स्थल पर यह याद रखना चाहिये कि ब्रिटेन जैसे देशों में जहाँ यह शक्तियाँ कार्यपालिका को प्राप्त है वहाँ भी युद्ध या शान्ति की घोषणा करने मे अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण संधियो को क्रियान्वित करने मे ब्रिटिश संसद की सहमति ले ली जाती है।

अतः यह प्रश्न व्यावहारिक नही किन्तु वैधानिक या सैद्धांतिक है। यह संविधान के उन जटिल प्रश्नों मे से एक है जिनका स्पष्टीकरण भविष्य ही कर सकता है। अन्तिम बात यह कि राष्ट्रपति को राज्य 'सरकारों' के निर्देशन, नियंत्रण तथा सामंजस्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त है। वह राज्य सरकारो को संघ की विधियों का पालन कराने तथा संघ-कार्यपालिका शक्ति के अबाध संचालन के सम्बन्ध में निर्देश भेज सकता है। राष्ट्रपति राष्ट्रीय या सैनिक महत्व का सञ्चार साधनों के निर्माण या देख-भाल करने या अपने क्षेत्र में रेलपथों की रक्षा करने के लिए राज्यों को विशेष रूप से आदेश दे सकता है। वह राज्यों की सहमति प्राप्त करके राज्यों या उनके अधिकारियों को संघीय मामलों सम्बन्धी कार्यों को भी सौंप सकता है, किन्तु ऐसी अवस्था में जो भी अतिरिक्त व्यय होगा

वह केन्द्र देगा।[१] वह अन्तर्राज्य विवादो को निपटाने तथा विभिन्न राज्यों की नीतियों का सामंजस्य करने के सम्बन्ध मे सलाह प्राप्त करने के लिए अन्तर्राज्य परिषद की नियुक्त कर सकता है।[२]

संघीय भू-भागो का प्रशासन प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति के ही नियंत्रण में रहता है।

राष्ट्रपति की वित्तीय शक्तियाँ—राष्ट्रपति को वित्तीय क्षेत्र में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। प्रथम, बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के कोई धन विधेयक ससद मे प्रस्तुत नही हो सकता, विशेषतः ऐसा विधेयक जो फलस्वरूप कोई ऐसा कर या शुल्क लगाता या परिवर्तित करता हो जिसमें राज्यों का स्वार्थ या हित या सन्निहित हो अर्थात् जिसकी आमदनी का समय या कोई अंश राज्यों को मिलने वाला हो।[३] दूसरे राष्ट्रपति के अधिकार मे भारत की आकस्मिकता निधि रहती है। इस निधि मे से आकस्मात किसी आवश्यकता के आ पड़ने पर राष्ट्रपति अग्रदाय के रूप में शासन को धनराशि दे सकता है जिसकी ससद द्वारा बाद मे स्वीकृति ली जा सकती है।[४] तीसरे, राष्ट्रपति को यह भी निश्चित करने की शक्ति प्राप्त है कि आयकर का कितना भाग राज्यो मे वितरित किया जाय। राष्ट्रपति ही यह भी तय करेगा कि जूट निर्यात कर से प्राप्त होने वाली धनराशि का कितना अंश कुछ राज्यो को दिया जाय।[५] चौथे, वह समय-समय पर राज्यो और सघ के वित्तीय सम्बन्धो को निश्चित करने के लिए वित्त-आयोगो की नियुक्ति कर सकता है और उनकी सिफारिशो पर जैसी चाहे कार्यवाई कर सकता है।[६] पांचवें, वही यह तय करता है कि जो देशी रियासतें भारतीय सघ के राज्यो मे विलयित हो गई है; उनके नरेशो को दिये जाने वाली निजी व्यय की राशि मे सम्बन्धित राज्यों का कितना भाग रहेगा।[७]

राष्ट्रपति की न्याय-विषयक शक्तियाँ—राष्ट्रपति को किसी अपराध के लिए दण्डित व्यक्ति को क्षमा कर देने अथवा उसके दण्ड को कम कर देने या बदल देने की शक्ति प्राप्त है।[८] राष्ट्रपति इस अधिकार का प्रयोग तीन तरह के मामलो मे कर सकता है। वे मामले ये हैं—(१) जहाँ दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो (२) जहाँ अपराध किसी ऐसे मामलो मे हुआ हो जो सघ की कार्यपालिका शक्ति के क्षेत्रान्तर्गत आता हो और (३) जहां मृत्यु का दड दिया गया हो।

राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियाँ

संकटकाल की घोषणा—राष्ट्रपति तीन प्रकार की सकटकालीन घोषणाएँ

[१] अनु० २५६, २५७ और २५८; [२] अनु०२६३, [३] अनु० ११७ (१) और २४७, [४] अनु० २६७ (१), [५] अनु० २६७ (१), [६] अनु० २८०, [७] अनु० २९१ (२), [८] अनु० ७०,

करके देश की संवैधानिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर सकता है। ये घोषणाएँ या आदेश ये हैं; (१) बाह्य आक्रमण या आन्तरिक उत्पात की आशंका की अवस्था मे सकट या आपत्काल की घोषणा, (२) राज्यो में संवैधानिक व्यवस्था के विफल हो जाने की घोषणा और (३) वित्तीय आपत्काल की घोषणा।[1]

किन परिस्थितियों में ये घोषणाएँ की जा सकती हैं—राष्ट्रपति को यदि यह निश्चय हो जाता है कि भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा बाह्य आक्रमण या आन्तरिक उत्पात होने की आशका के कारण खतरे में है तो वह आपत्काल की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की घोषणा करने के लिए कही युद्ध छिड़ जाने या उत्पात आरम्भ हो जाने की प्रतीक्षा किये जाने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रपति यह घोषणा खतरे का आभास पाते ही तत्काल कर सकता है।[2] यदि किसी राज्य का शासन संविधान मे दी गई व्यवस्थाओ के अनुसार नही चल पा रहा हो तो वह सविधान की विफलता की घोषणा या तो स्वयं अपने आप कर सकता है या राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की रिपोर्ट के आने पर कर सकता है।[3] यदि किसी राज्य की सरकार सघ सरकार द्वारा किसी सघीय विषय मे दिये निर्देश का पालन करने मे असफल या असमर्थ सिद्ध होती है तो भी यह घोषणा की जा सकती है। वित्तीय आपत्काल की घोषणा राष्ट्रपति उस समय कर सकता है जब उसकी राय में भारत या उसके किसी भी भाग की वित्तीय स्थिरता या साख (credit) खतरे मे हो।

युद्ध या आन्तरिक अशान्ति के कारण की हुई आपत्कालीन घोषणा के काल में किसी भी समय राष्ट्रपति आदेश द्वारा मूल अधिकारो का क्रियान्वित स्थगित कर सकता है।

तीनों ही प्रकार की घोषणाओ का संसद के दोनों सदनों के समक्ष विचारार्थ उपस्थित किया जाना आवश्यक है और यदि संसद का प्रत्येक सदन दो-तिहाई बहुमत से उक्त घोषणा की पुष्टि नही कर देता तो आपत्काल की घोषणा स्वयमेव दो मास के उपरांत समाप्त अप्रवृत्त हो जायगी। यदि आपत्काल की घोषणा के समय या उसके दो मास के अन्दर लोकसभा विघटित हो गई हो तो लोकसभा की प्रथम बैठक के ३०दिन के बाद तक यह घोषणा जारी रह सकती है, यदि द्वितीय सदन अर्थात् राज्य परिषद ने दो मास के निश्चित समय के अन्दर घोषणा को अनुमोदित कर दिया हो। संवैधानिक विफलता की घोषणा संसद द्वारा अनुमोदित किये जाने पर भी अनुमोदन की तिथि के ६ मास बाद समाप्त हो जाती है पर यदि ससद चाहे तो वह ६ मास के बाद उक्त घोषणा की कालावधि छः छः महीने करके तीन वर्ष तक और बढ़ा सकती है, पर तीन वर्ष से अधिक

[1]अनु० ३५२ (१), ३५६ (१), ३६० (१) [2]अनु० ३५२ (३)

कदापि नहीं। किन्तु वित्तीय या बाह्य आक्रमणादि के भय से की गई दो अन्य प्रकार की आपत्कालीन घोषणाओं की कालावधि का कोई अधिकतम समय निश्चित नहीं किया गया है। राष्ट्रपति किसी भी आपत्घोषणा का किसी समय घोषणा द्वारा अन्त कर सकता है।

आपत्काल की घोषणाओं का प्रभाव—बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक उत्पातों की आशंकाओं के कारण जो आपत्काल की घोषणा की जायगी उसके पाँच प्रकार के प्रभाव होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) संघ संसद किसी भी विषय पर विधि बना सकती है चाहे वह संघीय सूची में हो या नहीं, अर्थात् वह राज्यों की विधायिनी शक्तियों को भी ग्रहण करके उनका प्रयोग कर सकती है।[१]

(२) संघ शासन किसी भी राज्य सरकार को यह निर्देश दे सकता है कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करे। संघ संसद किसी भी संघीय अधिकारी को वे शक्तियाँ देकर वे कार्य करा सकती है जो सामान्यतः राज्य के अधिकारी करते हैं।[२]

(३) संविधान के अनुच्छेद २६८ से २७६ तक राज्य और संघ के बीच राजस्व वितरण की जो व्यवस्थाएँ दी हुई हैं उनमें राष्ट्रपति जो परिवर्तन आवश्यक समझे, कर सकता है।[३]

(४) राज्य की विधायिनी शक्तियों पर नागरिकों के मूलाधिकारों की रक्षा की दृष्टि से १९वें अनुच्छेद के अन्तर्गत जो प्रतिबंध लगाये गये हैं वे हट जाते हैं। फलतः मूलाधिकारों के विरुद्ध भी विधियाँ बनाई जा सकती हैं और कार्यपालिका नागरिकों के मूलाधिकारों का उल्लंघन करते हुए भी कोई भी कार्रवाई करने का अस्थायी अधिकार पा जाती है।[४]

(५) राष्ट्रपति के आदेश से न्यायालयों द्वारा नागरिकों के मूलाधिकारों का क्रियान्वय निलम्बित (Suspend) किया जा सकता है और इस सम्बन्ध की जो कुछ कार्रवाई न्यायालयों में हो रही हो वह अस्थायी रूप से निलम्बित हो जाती है। इस प्रकार के आदेश संसद के समक्ष उपस्थित किये जाने आवश्यक हैं लेकिन उनको जारी रखने के लिए संसद के अनुमोदन या मंजूरी की आवश्यकता नहीं है। इन आदेशों की भी कालावधि घोषणा की कालावधि के बराबर या कम हो सकती है।[५]

संवैधानिक विफलता के कारण जो घोषणा की जाती है उसके, राज्य में निम्नलिखित प्रभाव होंगे।[६]

---

[१]अनु० ३५३ (ख), [२]अनु० ३५३ (क) और (ख), [३]अनु० ३५४, [४]अनु० ३५८, [५]अनु० ३५९, [६]विभाग ३५६;

(क) राष्ट्रपति किसी भी राज्य अधिकारी के कोई भी कार्यपालिकात्मक कृत्य स्वयं ग्रहण कर सकता है, और

(ख) राष्ट्रपति राज्य के विधान मंडल की शक्तियों को संघ संसद को हस्तान्तरित कर सकते हैं। वे राज्य के उच्च न्यायालय की शक्तियों के अपहरण को छोड़कर कोई भी ऐसी कार्रवाई कर सकते हैं जो उक्त घोषणा की वजह से की जानी आवश्यक हो गई। राज्य विधान मंडल की शक्तियों को राष्ट्रपति द्वारा समद को दे दिये जाने के पश्चात् संसद उन शक्तियों को राष्ट्रपति को इस अधिकार सहित पुनः हस्तान्तरित कर सकती है कि राष्ट्रपति उन्हें चाहे जिस अधिकारी को सौंप दे। यदि लोकसभा का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक व्ययों के करने की मंजूरी दे सकता।[1]

वित्तीय आपत्काल की घोषणा के निम्नांकित परिणाम होते हैं :—

(१) संघ-शासन राज्यों को वित्तीय मामलों में जो उचित और आवश्यक समझे, वे निर्देश दे सकता है।

(२) संघ और राज्यों के अधिकारियों की उच्चतम और राज्य न्यायालय के न्यायाधीशों के भी वेतनों को घटाये जाने का आदेश दिया जा सकता है।

(३) राज्य विधान मंडलों द्वारा पारित सभी धन विधेयकों को, राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखे जाने का आदेश दिया जा सकता है।

संक्षेप में इन आपत्कालीन शक्तियों के प्रयोग द्वारा राष्ट्रपति राज्य के संघीय स्वरूप को जिस सीमा तक आवश्यक समझे, बदल सकता है और संघ सरकार तथा संसद को नागरिकों के मूलाधिकारों का आदर करने के वचन तक से मुक्त कर सकता है।

यह बात भली-भाँति स्मरण रखनी चाहिये कि राष्ट्रपति के अन्य अधिकारों की भाँति ये आपत्कालीन शक्तियाँ भी राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमंडल के परामर्श या मंत्रणा पर ही प्रयुक्त की जा सकती हैं। अतएव यह कहना सर्वथा अर्थहीन होगा कि वे शक्तियाँ राष्ट्रपति को तानाशाह जैसा बना देती है, क्योंकि उन शक्तियों पर संसद का नियंत्रण बराबर बना रहता है। आपत्तिकालीन शक्तियों का प्रयोग संघीय संविधान को ऐकिक संविधान में बदल सकता है और अस्थायी रूप से राज्यों का स्वशासन और उनका संवैधानिक संगठन समाप्त कर सकता है लेकिन संविधान किसी भी परिस्थिति में संघ कार्यपालिका को यह अधिकार नहीं देता कि वह संसद को अलग या भंग करके सर्वथा स्वतंत्र रूप से शासन करने लगे।

---

[1] अनु० ३५७

आपत्कालीन शक्तियों का व्यवहार में प्रयोग—अभी तक राष्ट्रपति की आपत्कालीन शक्तियों का प्रयोग चार बार हुआ है—पहली बार जून सन् १९५१ में *जब पंजाब मे संवैधानिक व्यवस्था असफल होने की घोषणा की गई थी,* दूसरी बार सन् १९५३ में पेप्सू मे इसी सम्बन्ध में तीसरी बार १९५९ मे केरल में जहाँ कि जनता के आन्दोलन और आन्तरिक उपद्रवों के कारण राज्यों की साम्यवादी सरकार को पदच्युत करना पडा। चौथी बार फरवरी १९६१ मे उडीसा में जब कि कांग्रेस व गणतन्त्र परिषद् का संयुक्त मन्त्रि मंडल टूट गया। पजाब मे इस प्रकार की घोषणा करने की आवश्यकता इसलिए पड गई कि वहाँ बहुमत वाले कांग्रेस दल में आन्तरिक झगडे बहुत बढ गये थे तथा प्रशासन मे शिथिलता होने से भ्रष्टाचार की बहुत शिकायतें थी। कांग्रेस के केन्द्रीय बोर्ड ने पण्डित नेहरू के संकेत पर मुख्य मन्त्री डाक्टर गोपीचन्द भार्गव को यह आदेश दिया कि वे पदत्याग करें और कांग्रेस दल के अन्य नेताओं से कहा गया कि वे मन्त्रिमडल बनाने की चेष्टा न करें। कांग्रेसी दलों की अपनी अल्पसंख्या के कारण मन्त्रिमडल बनाने की सामर्थ्य ही न थी। फलतः ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी गई जिसके कारण पजाब के राज्यपाल को यह लिख भेजना पडा कि पजाब राज्य का शासन सविधान मे ही दी गई व्यवस्थाओं द्वारा नहीं हो सकता है। अतः राष्ट्रपति ने विधान सभा को विघटित कर दिया और शासन की शक्ति अपने हाथ मे ले ली। इसके बाद राष्ट्रपति ने शीघ्र ही कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल को देकर उसे अपने प्रतिनिधि के रूप मे शासन कार्य चलाने के लिए नियुक्त कर दिया। विधायक शक्तियाँ (Legislative Powers) ससद को दे दी गईं। ससद ने ये शक्तियाँ ग्रहण करने के बाद उन्हे राष्ट्रपति या राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त *किसी अधिकारी को विधियाँ* बनाने के लिये सौंप दिया, किन्तु इस प्रकार से निर्मित विधियों पर पुनर्विचार कर उसमें संशोधन, परिवर्तन या समाप्ति का अपना अधिकार बनाये रखा। यह घोषणा सन् १९५२ के निर्वाचनों तक बनी रही और निर्वाचनों के बाद पजाब मे उत्तरदायी शासन (Responsible government) की पुनः स्थापना हुई।

पेप्सू मे स्थिति भिन्न थी। वहाँ श्री राडेवाला के मुख्य मंत्रित्व मे गैर कांग्रेसी मन्त्रि मण्डल शासन संभाले था। इस मन्त्रि मण्डल को अत्यल्प बहुमत प्राप्त था और अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये इसे साम्यवादी दल के समर्थन पर निर्भर रहना पडता था। मुख्य मन्त्री के दल की स्थिति उस समय और भी बिगड़ गयी जब उसके दल के बहुत से सदस्यों का विधान सभा मे निर्वाचन चुनाव सम्बन्धी झगडों के फैसला द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया। राज्य का प्रशासन क्रमशः बिगड़ता जा रहा था। ऐसी परिस्थिति मे राज्य के सविधान के असफल होने की घोषणा कर दी गई जो आठ मास तक रही और इसके बाद जब राज्य मे पुनः चुनाव हुए और उसमे कांग्रेस को

, स्पष्ट बहुमत मिल गया तब संवैधानिक शासन की पुनः स्थापना हुई। पेप्सू की आपत्-कालीन व्यवस्था पंजाब की व्यवस्था में से दो बातों में भिन्न थी। पहली तो यह थी कि यहाँ राज्य का शासन राष्ट्रपति ने राजप्रमुख (पेप्सू भाग 'ख' का राज्य था) को नहीं सौंपा बल्कि श्री राऊ नाम के एक सिविल सर्विस के अधिकारी को दिया। उनके पद को 'प्रशासक' का नाम दिया गया। दूसरी यह भिन्नता थी कि संसद ने पेप्सू के लिए विधियाँ बनाने की शक्ति अपने ही हाथ में रखी।

आन्ध्र के सम्बन्ध में भी इस शक्ति के प्रयोग का प्रश्न उठा था। इसके बाद त्रिवांकुर-कोचीन के बारे में भी राष्ट्रपति द्वारा आपत्कालीन शक्तियों के प्रयोग की बात उठी। इस प्रकार की चर्चा का मुख्य कारण उक्त दोनों राज्यों की विवादास्पद दलगत स्थिति थी। लेकिन उक्त दोनों राज्यों में आपत्कालीन शक्तियों के वस्तुतः प्रयोग का मौका नहीं आया।

केरल में राष्ट्रपति की संकट कालीन शक्ति का उपयोग साम्यवादी मन्त्रि मंडल को, जिसमें श्री नम्बूदिरीपद मुख्य मंत्री थे, पदच्युत करने के लिये १९५९ में हुआ। इस राज्य में शिक्षा अधिनियम और सरकार के कुछ अन्य कार्यों को लेकर प्रबल जन-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। हिंसा और उपद्रव होने लगे। फलस्वरूप तत्कालीन साम्यवादी सरकार पदच्युत कर दी गई और राष्ट्रपति का शासन स्थापित हो गया। शासन राज्यपाल और दो सलाहकारों के हाथ से रक्खा गया।

उड़ीसा में संकट कालीन घोषणा २५ फरवरी १९६१ को की गई और राष्ट्रपति का शासन स्थापित हुआ। इस राज्य में किसी दल का बहुमत न होने के कारण दो वर्षों से कांग्रेस व गणतंत्र का संयुक्त मंत्रिमंडल शासन कर रहा था। पर इन दो दलों में नीति व सिद्धान्तों का बहुत बड़ा अन्तर होने के कारण बहुधा मत भेद बना रहता था। अन्त में प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने १९६१ के बजट सत्र के बाद संयुक्त दल का अन्त करने का निर्णय किया। इस पर गणतन्त्र परिषद् ने तुरन्त ही अलग हो जाने का निश्चय किया। अतः राष्ट्रपति को संविधान की विफलता घोषित कर के शासन अपने हाथ में लेना पड़ा। घोषणा के अनुसार शासन के अधिकार राष्ट्रपति की देख-रेख में राज्यपाल को दे दिये गये। यहाँ कोई सलाहकार नहीं नियुक्त हुये जैसा कि केरल में हुआ था क्योंकि राज्यपाल सिविल सर्विस के अनुभवी व्यक्ति थे। कानून-निर्माण का अधिकार केन्द्रीय संसद के हाथ में रक्खा गया, अथवा उस की देख-रेख में जिस किसी को वह यह अधिकार देना चाहे।

उक्त दृष्टान्तों से स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या संविधान के अनुच्छेद ३५६ द्वारा दी गयी राष्ट्रपति की इन शक्तियों का संविधान के सच्चे आशय के अनुसार प्रयोग किया गया है। यद्यपि राष्ट्रपति के कार्य की वैधानिकता असंदिग्ध है,

क्योकि किसी राज्य में संवैधानिक यंत्र असफल हुआ है या नही इसका निर्णायक अन्य कोई नही, स्वयं राष्ट्रपति हो है। फिर भी यह शङ्का किसी भी व्यक्ति के मस्तिष्क मे उत्पन्न हो सकती है कि किसी राज्य की दलगत स्थिति, या प्रशासन की अध्यक्षता या विरोधी दलों की मंत्रिमण्डल बनाने की अक्षमता को संवैधानिक असफलता माना जा सकता है। ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाने पर तत्काल ही सार्वजनिक निर्वाचन करा देने का जगतमान्य प्रजातान्त्रिक उपाय काम मे क्यो नही लाया गया ? संवैधानिक व्यवस्था की असफलता का अर्थ है, ऐसी स्थिति का उत्पन्न हो जाना जिसमें किसी उपाय से संविधान के अनुसार शासन चलाया ही न जा सके। लेकिन ऐसी स्थिति को मान लेने और उसका उग्रतम उपचार करने के पूर्व सङ्घीय अधिकारियो का जनता के प्रति यह कर्तव्य है कि वे जनता को अपने संप्रभुत्वपूर्ण प्रजातान्त्रिक अधिकारो का सार्वजनिक निर्वाचन द्वारा प्रयोग करने देकर उसे स्वयं राज्य के प्रबन्ध को सुव्यवस्थित कर लेने का मौका दें। यदि समस्या सार्वजनिक निर्वाचन से भी नही सुधरती है तो फिर सङ्घीय अधिकारों द्वारा आपत्कालीन शक्तियो के प्रयोग का औचित्य निर्विवाद हो जाता है। संविधान की आत्मा की यह मांग है कि सङ्घीय अधिकारी आपत्कालीन शक्तियो का प्रयोग करने तथा संविधान को असफल घोषित करने के पूर्व इस प्रकार का उपचार अवश्य काम मे ले आवें।

ऐसा न करने के कारण पेप्सू के मामले मे आपत्ति कालीन शक्तियो का प्रयोग करने पर तथा आंध्र तथा त्रिवांकुर-कोचीन मे उसकी बात उठने पर दबी आवाज में यह आलोचना सुनाई पड़ी कि भारत सरकार आपत्तिकालीन शक्तियो का प्रयोग उन राज्यो मे कांग्रेस दल की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए कर रही है जहां कि अन्य राजनीतिक दलो के मुकाबले मे वह कमजोर है। केरल के मामले पर बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ और बड़ा रोष प्रकट किया गया। यह कहा गया कि साम्यवादी मन्त्रिमंडल की विधान मंडल मे बहुमत प्राप्त था, चाहे वह कितना ही छोटा क्यो न हो। इस दशा मे उसे प्रत्यक्ष जन-आन्दोलन व उपद्रव के कारण पदच्युत करना उचित न था। राष्ट्रपति के इस कार्य की तीव्र आलोचना की गई व कहा गया कि नियमानुकूल सरकार को इस प्रकार निकाल बाहर करना प्रत्यक्ष जन-आन्दोलन व उपद्रव को प्रोत्साहन देना-सा है। यह जनतन्त्र के लिये एक बड़ा खतरनाक नमूना उपस्थित करता है। हमारे यहां प्रजातन्त्र विकास के लिए यह बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण होगा यदि इस तरह की शकाओं को विकसित होने का मौका दिया जाता रहा। इस बात की आवश्यकता है कि राष्ट्रपति के आपत्तिकालीन शक्तियो के प्रयोग के सम्बन्ध में स्वस्थ और उचित प्रथाएँ स्थापित की जायें।

राष्ट्रपति की अस्थायी शक्तियाँ

राष्ट्रपति की अस्थायी शक्तियाँ तीन वर्गो मे विभक्त की जा सकती हैं :

पहले वर्ग की शक्तियाँ क्या थी ? उनको समझने के लिए यह बाते जान लेनी आवश्यक हैं। संविधान के उद्घाटन के पूर्व भारत का शासन सन् १९३५ के भारत शासन अधिनियम द्वारा होता था। यह स्वाभाविक ही था कि उक्त अधिनियम के अनुसार जब शासन न हो कर नये संविधान के अनुसार होना प्रारम्भ हो तो शुरू में कठिनाइयां उपस्थित हो। ये कठिनाइयाँ अस्थायी होती हैं। पहले वर्ग के अन्तर्गत राष्ट्रपति को जो शक्तियाँ दी गई थी वे उन्ही संक्रमण कालीन कठिनाइयो का सामना करने तथा उन्हें दूर करने के लिए दी गई थी। इस वर्ग की शक्तियो के अन्तर्गत राष्ट्रपति संविधान के प्रारम्भ होने तक संघ के किसी भी एकक में परिवर्तन कर सकता था।[1] वह देश की विधियो मे उन्हे संविधान के अनुकूल बनाने के लिए प्रथम दो वर्षो में जो चाहे जो परिवर्तन कर सकता था।[2] प्रथम तीन वर्षो में वह निर्वाचन के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण भारत या उसके किसी भी भाग की जनसंख्या निश्चित कर सकता था।[3] वह संक्रमण-कालीन कठिनाइयो को दूर करने के लिए संविधान की व्यवस्थाओ मे जितनी अवधि के लिए उचित समझे, सुधार और रूपान्तर भी कर सकता था।[4] इस प्रकार सुधारों और संशोधनो के लिए जो कालावधि निश्चित की गई थी वह प्रथम सार्वजनिक निर्वाचनो के उपरान्त नयी संसद की पहली बैठक होने तक थी। इनमे से अधिकांश शक्तियो का प्रभावकाल समाप्त हो चुका है और अब वे निरर्थक हैं।

दूसरे वर्ग मे आनेवाली शक्तियो का उद्देश्य यह है कि राष्ट्रपति कुछ आवश्यक मामलों की उस समय तक के लिए अस्थायी व्यवस्था कर सके जब तक उनके लिए संसद कोई अन्य व्यवस्था नही कर देती है। इन शक्तियो के अन्तर्गत राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद २२ (७) के अनुसार निरोधात्मक नजरबन्दी के रूप में पकड़े गये व्यक्तियो के सम्बन्ध में आदेश दे सकता। संसद के दोनो सदनो के सचिवालयों के कर्मचारियो के भरती तथा भारत की संचित निधि की रक्षा के नियम बना सकता।[5] उच्चतम न्यायालय के निर्णय को कार्यान्वित करने की पद्धति निश्चित कर सकता[6] तथा यह तय कर सकता था कि आय कर से प्राप्त होने वाली धनराशि मे मे राज्यो को कितना अंश मिलेगा[7] और निश्चित उद्देश्यों के लिए निश्चित राज्यो को सङ्घ-राजस्व से कितना अनुदान दिया

---

[1]अनु० ३९१, [2]अनु० ३७२-२ और ३, [3]अनु० ३८७, [4]अनु० ३९१ [5]अनु० २८-३, और अनु० २८३ (२), [6] अनु० २५९, [7]अनु० २७०-४

जायगा।[1] राष्ट्रपति की अस्थायी शक्तियों की जो सूची दी गयी है दृष्टान्तात्मक है; सम्पूर्ण नही।

तीसरा और अन्तिम वर्ग उन शक्तियों का है जो राष्ट्रपति को केवल निश्चित काल के लिए दी गयी हैं। इन शक्तियो का सम्बन्ध संघ मे हिन्दी को राज-भाषा बनाने तथा कुछ अल्पसंख्यको के साथ किये जाने वाले विशेष व्यवहार से है। जहाँ तक राज भाषा का सम्बन्ध है, यद्यपि अंग्रेजी उक्त पद पर १५ वर्ष तक बनी रहेगी, तथापि राष्ट्रपति अंग्रेजी के अतिरिक्त शासन के कुछ विषयो मे जिनको उचित समझे अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी को भी सरकारी भाषा बना सकते हैं।[2] राष्ट्रपति को भाषा आयोग की नियुक्ति करके उसकी सिफारिशो के अनुसार यह निश्चय करने का अधिकार है कि राज-भाषा के पद पर हिन्दी की प्रतिष्ठा किस क्रम और वेग से होगी। १५ वर्षों के अन्तरिम काल में राष्ट्रपति की पूर्व मञ्जूरी बिना ऐसा कोई विधेयक ससद मे उपस्थित नही किया जा सकता जिसके पारित हो जाने से उच्चतम न्यायालय की कार्रवाइयो तथा विधान-मण्डलो के उच्च न्यायालय अधिनियमो, विधेयको, नियमों की भाषा अंग्रेजी न रह जाय।[3] जहाँ तक अल्पसख्यको का सम्बन्ध है, राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि लोकसभा मे एंग्लोइंडियनो का यदि समुचित प्रतिनिधित्व न हो तो वह उक्त समाज के दो प्रतिनिधि व्यक्तियों को लोकसभा का सदस्य नामांकित कर सकते है।[4]

राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति—राष्ट्रपति की शक्तियों की सूची पर्याप्त लम्बी और महत्वपूर्ण है और यदि राष्ट्रपति सचमुच उन शक्तियो का प्रयोग कर सके तो इसमे संदेह नही कि वह संसार का सबसे बडा निरंकुश शासक हो जायगा। किन्तु वास्तविकता यह है कि राष्ट्रपति प्रत्येक कार्य संसदीय व्यवस्था वाले अन्य राज्यो के अध्यक्षो की भाँति, मंत्रि परिषद् के परामर्शानुसार ही कर सकता है। मंत्रीपरिषद, संविधान के शब्दो मे, राष्ट्रपति को उन कृत्यो का सम्पादन करने मे सहायता और मंत्रणा देती है।[5] यह सच है कि संविधान मे यह कही नही कहा गया है कि राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की सलाह के विरुद्ध कार्य नही कर सकता, लेकिन मंत्रिमंडल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है और राष्ट्रपति नही है। इसलिए उत्तरदायित्व के साथ शक्ति का भी मंत्रिमंडल के ही हाथों मे रहना अनिवार्य है और राष्ट्रपति संवैधानिक मर्यादि नाममात्र के अध्यक्ष के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। भारत का राष्ट्रपति अपनी वास्तविक स्थिति मे अमेरिका के राष्ट्रपति की अपेक्षा इंगलैंड के सम्राट या फ्रांस के राष्ट्रपति के अधिक समान है। संसदीय व्यवस्था वाले शासन मे उसकी स्थिति अन्यथा

---

[1]अनु० २७३ और २७५, [2]अनु० ३४३-२ की व्यवस्था, [3]अनु० ३४८, [4]अनु० ३३१ और ३३४; [5]अनु० ७४ (१),

हो ही नही सकती । राष्ट्रपति का पद अत्यन्त सम्मान और गौरव का है लेकिन वास्तविक शक्ति का नही । राष्ट्रपति को जो शक्तियाँ औपचारिक रूप से दी गई है, वे शक्तियाँ वस्तुतः उसकी नही किन्तु संघीय सरकार अर्थात् मन्त्रिमंडल की हैं । कोई राष्ट्रपति यदि मन्त्रि-मंडल की इच्छा और मत्रणा के विरुद्ध कार्य करे तो उसमे तथा लोकसभा के बीच घोर संवैधानिक संघर्ष अवश्य छिड जायगा और उस राष्ट्रपति को शीघ्र ही त्यागपत्र दे कर हटना पडेगा । मन्त्रिमंडल और ससद से स्वतत्र हो कर कार्य करने की दशा मे राष्ट्रपति को पग-पग पर सविधान की व्यवस्थाओं का उल्लंघन करना होगा और सविधान का उल्लघन करते ही उस पर महाभियोग लगा कर उसे पदच्युत कर दिया जा सकता है ।

लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि राष्ट्रपति शून्य मात्र है । बेगाट ने इंगलैंड के सम्राट के तीन अधिकार बतलाये है, वे हैं—जानकारी अधिकार, उत्साहित करने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार और इसी लेखक के सुन्दर शब्दो मे एक बुद्धिमान सम्राट को इससे अधिक अधिकार की आवश्यकता भी नही है । ये शब्द राष्ट्रपति के सबन्ध मे भी ज्यो के त्यों लागू होते है । किसी बुद्धमान राष्ट्रपति को भी इससे अधिक अधिकार की कोई जरूरत नही । भारत सरकार के समस्त कार्यपालिका सबन्धी कृत्य और निर्णय राष्ट्रपति के नाम और उसके ही हस्ताक्षर से होते है । इस अवस्था मे हस्ताक्षर करने के पूर्व वह किसी भी कार्य या निर्णय पर आपत्ति कर सकता है, उसका स्पष्टीकरण माँग सकता है और मत्रिमंडल को उस पर पुनर्विचार करने के लिए कह सकता है । राष्ट्रपति को संविधान द्वारा स्पष्टतः यह शक्ति दी गयी है कि वह किसी एक मत्री के निर्णय को मन्त्रि-मडल के समक्ष विचारार्थ रखवा सके । राष्ट्रपति किसी सीमा तक इन बातो द्वारा शासन के निर्णयो को प्रभावित कर सकेगा यह बहुत कुछ उसकी अपनी योग्यता और अनुभव तथा उसके तथा प्रधानमत्री के व्यक्तित्व पर निर्भर है । किसी पद की वास्तविक शक्ति व प्रभाव का निर्धारण बहुधा उस पद पर प्रारंभ मे आसीन व्यक्तियो द्वारा ही सदा के लिए हो जाता है । उदाहरणार्थ वाशिंगटन जैसे व्यक्तियो ने अमेरिका के राष्ट्रपति के पद की शक्ति और गौरव को बहुत अधिक बढा दिया और इसके विपरीत मैक माहान और ग्रेवी जैसे लोगो ने अपनी हठधर्मी अथवा निर्बल नीतियो के कारण फ्रास के राष्ट्रपति के पद को नितान्त शक्तिहीन बना दिया । भारत के राष्ट्रपति पद के लिए यह सौभाग्य का विषय है कि उसके यहाँ प्रथम अधिष्ठाता डा० राजेन्द्र प्रसाद जैसे महान् व्यक्ति हुए ।

सविधान शास्त्रियो ने इस बात मे काफी दिमाग खपाया है कि सविधान के शब्दो मे राष्ट्रपति के लिए कुछ ऐसे अधिकार खोज निकाले जिनका प्रयोग राष्ट्रपति अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता हो । इनका कहना है कि राष्ट्रपति के पद को शपथ की पदावली के अनुसार वह यथाशक्ति संविधान की व्यवस्थाओ का रक्षण और प्रतिरक्षण करने को बाध्य है । वह ससद का अविभाज्य अंग है और कुछ मामलो में वह संसद ही की भाँति

अपने विवेकानुसार काम कर सकता है। कहा जाता है कि राष्ट्रपति जिस समय किसी विधेयक पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर देता है उस समय वह विधायक शक्ति के रूप मे कार्य करता है अर्थात उसकी स्थिति उस समय संसद-राष्ट्रपति (President in Parliament) की होती है। चूंकि मंत्रिपरिषद् संसद के दोनों सदनों में सम्मिलित है, इसलिए यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि राष्ट्रपति को किसी भी विधेयक पर मंत्रिपरिषद की मंत्रणानुसार हस्ताक्षर करने या न करने चाहिए। राष्ट्रपति का रबर की मुहर के रूप मे ही हस्ताक्षर करने का इरादा होता तो संविधान में "राष्ट्रपति विधेयकों पर हस्ताक्षर करेगा" शब्दों के बजाय "राष्ट्रपति विधेयकों को प्रमाणित करेगा" शब्दों का प्रयोग किया जाता। यदि हमारे राष्ट्रपति के पद की परंपराओं और प्रथाओं का विकास इन संवैधानिक पंडितों की बाल की खाल निकालने वाली राय के अनुसार हुआ, तो यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात होगी; क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति से संसदीय शासन का कार्य सुविधापूर्वक चल नहीं सकता। राष्ट्रपति को रबर की मोहर मात्र कोई भी नहीं बनाना चाहता। राष्ट्रपति परामर्श दे, चेतावनी दे, किसी भी प्रश्न पर बहस करे, अपने सुझाव दे और कभी कभी कठिनाइयां भी पैदा करे, लेकिन उसे यह अवश्य जानना चाहिए कि कहां रुक जाना चाहिये और मन्त्रिमंडल की बात मान लेनी चाहिये। जहां तक प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति के आग्रहों को मानने और उनके प्रभाव को स्वीकार करने को तैयार हों, राष्ट्रपति को वहीं तक जाना चाहिए लेकिन उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके आग्रह की वजह से कोई राजनीतिक सङ्कट न उत्पन्न होने पावे। राष्ट्रपति के कृत्य और शक्तियां वैधानिकता द्वारा नहीं बल्कि संसदीय संस्थाओं की राजनीतिक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होती हैं।

राष्ट्रपति के पास एक ऐसी शक्ति है, अर्थात् विधेयकों को संसद के पास पुनर्विचार के लिए लौटाने की, जिससे यह भ्रम हो सकता है कि इस विषय मे वह स्वविवेक से काम ले सकता है। यह कहा जा सकता है कि जो विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाते हैं उनको मन्त्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त ही होता है। इसलिए यदि राष्ट्रपति किसी ऐसे विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस कर देता है तो स्पष्ट है कि वह ऐसा मंत्रियों के परामर्श के आधार पर नहीं कर सकता क्योंकि मन्त्री एक मामले पर जो उनकी सम्मति से तै हो चुका है, फिर खटाई में डालने का परामर्श क्यों देंगे ? जब अस्थाई संसद की अवधि की समाप्ति के दिनों में हिन्दू कोड बिल उसके विचाराधीन था तो उस समय यह अफवाह उड़ी थी कि श्री राजेन्द्र प्रसाद उक्त विधेयक के पारित किये जाने के विरुद्ध थे और उन्होंने यह धमकी दी थी कि यदि उक्त विधेयक पारित किया गया तो वे उस पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे और उसे पुनर्विचार के लिए वापस कर देंगे। यह विधेयक अत्यन्त विवादास्द था और यह कहा जाता है कि राष्ट्रपति होने

के पूर्व डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने अपने कुछ भाषणों में उक्त विधेयक के विरुद्ध अपना मत सार्वजनिक रूप से प्रकट कर दिया था। इसलिए वह ऐसे विधेयक के पारित किये जाने में सहायक नहीं होना चाहते थे। इस अफवाह की सत्यता का निर्णय करने का कोई साधन नहीं है और सौभाग्यवश संसद के अन्तिम अधिवेशन में उस विधेयक को विचारार्थ उपस्थित नहीं किया गया। अतः इस प्रकार के विवाद के उत्पन्न होने का कोई अवसर नहीं आया, लेकिन यदि ऐसा हुआ होता और राष्ट्रपति ने अफवाह के अनुसार कार्य किया होता तो निस्सन्देह एक बहुत बड़ा राजनैतिक सङ्कट उठ खड़ा होता और हमारी संवैधानिक व्यवस्था पर ही अपने कुछ दाग छोड़ जाता। राष्ट्रपति की विधेयक वापस करने की उक्त शक्ति की सही व्याख्या दूसरी है। वह शक्ति राष्ट्रपति को इसलिए दी गई है जिससे यदि संसद द्वारा पारित किसी विधेयक में कोई गम्भीर गलती हो जाय या त्रुटि रह जाय या कोई नयी स्थिति उत्पन्न हो जाय तो इसके प्रयोग द्वारा आवश्यक संशोधन परिवर्तन किया जा सके। ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाने पर मंत्री निश्चित रूप से राष्ट्रपति को उक्त शक्ति के प्रयोग की सलाह प्रसन्नतापूर्वक देंगे।

सम्भवतः भारतीय राष्ट्रपति वैसी शान-शौकत और प्रभाव कभी न प्राप्त कर सकेंगे जो इंगलैण्ड के सम्राट् को राजत्व के रहस्यपूर्ण वातावरण, आनुवंशिक स्थिति, उच्चतम सामाजिक स्थान और साम्राज्य की एकता का प्रतीक होने के कारण प्राप्त है। ये सब बातें भारतीय राष्ट्रपति में कभी न आ सकेंगी। लेकिन उसे तृतीय गणतंत्र के फ्रांस के राष्ट्रपति की भांति निर्बल होने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। फ्रांसीसी राष्ट्रपति की तो यह दशा थी कि चेम्बर आफ डेपुटीज (प्रथम सदन) जब चाहती उसे त्यागपत्र देने को बाध्य कर सकती थी। भारतीय राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल द्वारा होता है। इस निर्वाचक मंडल में केवल केन्द्रीय संसद के ही नहीं अपितु राज्य विधानमंडलों के भी सदस्य रहते हैं। इससे राष्ट्रपति को राष्ट्रव्यापी आधार प्राप्त हो जाता है, भले ही वह अप्रत्यक्ष ही क्यों न हो। इस आधार पर राष्ट्रपति सारे देश के विधान मंडलों के निर्वाचित सदस्यों की ओर से बोलने का दावा कर सकता है। संघ-मंत्रिमंडल या संसद उसे यह कह कर नहीं धमका सकते कि तुम हमारे चुने खिलौने हो और हमारी इच्छानुसार रहो या निकलो।

यदि जर्मनी के वाइमर संविधान की भाँति राष्ट्रपति के सारे देश के मतदाता निर्वाचित करते तो उसके पद का गौरव तथा सम्मान और अधिक बढ़ जाता। लेकिन संसदीय गण में कई कारणों से राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष निर्वाचन वांछनीय नहीं है और संविधान निर्माताओं ने प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था को संविधान में स्थान न देकर अच्छा ही किया। इस सम्बन्ध में सबसे पहिली बात तो यह है कि जब राष्ट्रपति को कोई शक्ति ही नहीं देनी है तो फिर उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा निर्वाचन करने में लाभ ही क्या है?

यदि प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा उसे चुना जायगा तो इसका यह फल हो सकता है कि वह मन्त्रिमण्डल से शक्ति प्राप्त करने के लिए इस आधार पर प्रतिद्वन्द्विता करने लगे कि वह मन्त्रिमण्डल के समान ही (या सम्भवतः उससे भी अधिक) समस्त देश के प्रतिनिधि है। यह स्वयं एक बड़ा खतरा है। दूसरे, ३५ करोड़ व्यक्तियों द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव कराने में भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता और जैसा कि अमेरिका के अनुभव से प्रकट है कि राष्ट्रपति के चुनाव के समय महीनों के लिए देश में अनावश्यक रूप से उथल-पुथल मच जाती। वर्तमान पद्धति संक्षिप्त और सुविधाजनक है, और साथ ही राष्ट्रपति को राष्ट्र की एकता का प्रतीक भी बना देती है।

हालाँ कि प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के सदस्य हैं, लेकिन प्रयत्न यह किया गया था कि वे दलगत उम्मीदवार के रूप में न खड़े किये जायँ किन्तु एक अखिल राष्ट्र द्वारा सम्मान-प्राप्त राष्ट्रीय महापुरुष के रूप में राष्ट्रपति चुने जायँ। इस आशय की एक अपील भी प्रकाशित की गई थी कि अन्य दल उनके विरुद्ध कोई उम्मीदवार न खड़ा करें। दुर्भाग्यवश इस अपील का कुछ लोगों ने नहीं माना और डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के विरुद्ध चार उम्मीदवार खड़े हुए। लेकिन डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद को पेप्सू के अलावा सभी राज्यों में सबसे अधिक मत मिले। पेप्सू में प्रोफेसर क० टी० शाह और उनको समान मत मिले थे। इस मतदान से एक प्रकार से यह प्रकट हो गया कि राष्ट्रपति राष्ट्रीय सम्मानप्राप्त व्यक्ति होना चाहिए, किसी राजनीतिक दल का उम्मीदवार मात्र नहीं। समय-समय पर वर्तमान राष्ट्रपति ने यह संकेत भी किया है कि वे अपने पद को दलगत राजनीति से ऊपर समझते हैं। उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् निर्दलीय व्यक्ति हैं ही। यदि राष्ट्रपति पद के निर्दलीय होने का सिद्धान्त भारत में जड़ जमा ले तो बड़ा अच्छा होगा। यह बात दूसरी है कि राज्य के अध्यक्ष को बहुमत वाले दल में से चुनना पड़े, लेकिन कोई कारण नहीं है कि निर्वाचन के बाद वह व्यक्ति ब्रिटिश 'स्पीकर' की भाँति दलगत बन्धनों से ऊपर न उठ जाय। ऐसा करने से वह राष्ट्रपति देश भर के राजनीतिक दलों का विश्वास-पात्र बन सकेगा।

उपराष्ट्रपति

निर्वाचन और कार्यकाल—भारत का एक उपराष्ट्रपति भी होता है।[१] इसका निर्वाचन संसद के दोनों सदन एक संयुक्त बैठक में गुप्त मतदान द्वारा एकल हस्तांतरणीय मतदान द्वारा करते हैं।[२] इस पद की अर्हताएँ तथा कार्यकाल राष्ट्रपति की भाँति ही हैं। राष्ट्रपति की भाँति ही उपराष्ट्रपति भी संसद या किसी राज्य विधान-मण्डल का सदस्य

[१]अनु० ६३, [२]अनु० ६६ (१)

नहीं हो सकता और न किसी लाभ वाले अन्य सरकारी पद को ग्रहण कर सकता है। उपराष्ट्रपति अपनी पांच वर्षों की अवधि के समाप्त होने के पूर्व भी राज्य परिषद् के प्रस्ताव द्वारा जिससे लोकसभा भी सहमत हो, हटाया जा सकता है। उपराष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पदच्युत के कारण पद के रिक्त होने पर जो भी नया व्यक्ति निर्वाचित होगा वह पूरे पांच वर्ष तक उस पद पर रहेगा, पूर्ववर्ती उपराष्ट्रपति के कार्यकाल के अवशिष्ट समय मात्र के लिए ही नहीं। उपराष्ट्रपति राज्य परिषद का सभापति भी होता है और इसके नाते उसे वेतन मिलता है।[1]

कृत्य और कर्त्तव्य—उपराष्ट्रपति राज्यपरिषद् का पदेन सभापति है। अतः उसे सभापति के सभी सामान्य अधिकार प्राप्त हैं जिनमें मतदान के समय दोनों पक्षों में बराबर मत होने पर निर्णायक मत देने का अधिकार भी सम्मिलित है। उपराष्ट्रपति सदन का सामान्य सदस्य नहीं होता, अतएव वह हर सामान्य सदस्यों की भांति साधारणतया मत नहीं दे सकता।

जब राष्ट्रपति का पद किसी कारण से रिक्त हो जाता है, तो उसके लिए पुनः चुनाव होने तक, उपराष्ट्रपति स्थानापन्न रूप से राष्ट्रपति का कार्य करता है। राष्ट्रपति के रुग्ण हो जाने पर या किसी कारण से अनुपस्थित होने पर भी उपराष्ट्रपति ही उसका कार्य-भार संभालता है। उपराष्ट्रपति जिस समय राष्ट्र के स्थानापन्न के रूप में कार्य करता है, उसे संसद की विधि द्वारा निश्चित वेतन और भत्ता आदि मिलता है तथा उस समय वह राज्य परिषद् के सभापति का काम नहीं करता।[2]

---

[1] अनु० ६६ से ६८, [2] अनु० ६४ और ६५

अध्याय ६ | संघीय मंत्रिमण्डल
(Union Cabinet)

उनकी रचना—संघीय मन्त्रिमण्डल का औपचारिक नाम मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) है।[1] इसमें एक प्रधान मन्त्री तथा आवश्यकतानुसार अन्य मन्त्री होते हैं। संविधान ने मन्त्रियों की संख्या की कोई सीमा निर्धारित नहीं की है। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। संसद के अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति भी प्रधानमन्त्री की सलाह से राष्ट्रपति द्वारा ही होती है।[2] प्रत्येक मन्त्री के लिए यह अनिवार्य है कि वह सामान्यतः संसद (Parliament) के किसी एक सदन का सदस्य हो। संसद की सदस्यतारहित मन्त्री अपने पद पर छः महीने से अधिक नहीं बना रह सकता।[3] सभी मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते हैं।[4]

मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में संविधान की ये कुछ औपचारिक व्यवस्थाएँ हैं। इन औपचारिक व्यवस्थाओं से यह पता नहीं चलता कि मन्त्रिमण्डल की रचना वस्तुतः किस प्रकार होती है। इससे यह भी नहीं मालूम होता कि उनकी वास्तविक स्थिति क्या है। ये अनुच्छेद भी ठीक उसी तरह गोलमोल हैं जिस तरह राष्ट्रपति की शक्ति सम्बन्धी व्यवस्थाएं। दोनों में से किसी एक से भी यह पता नहीं चलता कि मन्त्रियों की या राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति क्या है। सच तो यह है कि मन्त्रिमण्डलीय या संसदीय शासन कुछ ऐसी संवैधानिक परम्पराओं या प्रथाओं (Conventions) पर आधारित होता है, जो सामान्यतः मान्यता प्राप्त होते हैं और जिनकी चर्चा संविधान में अनुच्छेदों के रूप में करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। इस लिए संविधान की मन्त्रिपरिषद् सम्बन्धी धाराओं या व्यवस्थाओं की अन्य संविधान देशों में प्रचलित प्रथाओं के आधार पर व्याख्या करनी पड़ी है, विशेष रूप से ब्रिटेन की प्रथाओं के अनुसार, जो संसदीय शासन का परम्परागत घर है।

उदाहरण के लिए यह कहने से कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री को नियुक्त करता है यह धारणा पैदा हो जाती है कि राष्ट्रपति ऐसा अपनी इच्छा या रुचि के अनुसार करता है लेकिन वास्तविकता इससे बिलकुल भिन्न है। व्यवहार में राष्ट्रपति का प्रधान-

[1]अनुच्छेद ७४ (१), [2]अनु० ७५ (१), [3]अनु० ७५ (५), [4]अनु० ७५ (२)

मन्त्री को नियुक्त करने का अधिकार यो सीमित है कि वह केवल उसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता है जो लोकसभा (House of People) के बहुमत वाले दल का नेता हो। जब लोकसभा में किसी दल का बहुमत नही होता तो दो या अधिक दल आपस मे मिल जाते हैं जिससे उन्हें सदन का बहुमत मिल जाय और वे अपना एक नेता चुन लेते हैं। राज्य के अध्यक्ष के लिए यह आवश्यक होता है कि वह उसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त करे। सक्षेप में लोकसभा की दलगत स्थिति से यह पता चल जाता है कि प्रधानमन्त्री होने योग्य व्यक्ति कौन है और राज्य का अध्यक्ष बिना राजनीतिक संकट खड़ा किये उसकी उपेक्षा नही कर सकता। ऐसी अवस्था बडी ही कठिनाई आती है जब लोकसभा में समान रूप से लोकप्रिय दो नेता पहुँच जायें और राष्ट्रपति उन दो मे से किसी एक व्यक्ति को अपनी इच्छा द्वारा प्रधानमन्त्री बना सके। यह बात कल्पनातीत है कि वर्तमान संसद मे नेहरू जी के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति प्रधानमन्त्री हो जाता। इस मामले में राष्ट्रपति की अपनी निजी रुचि या अरुचि का कोई महत्व नहीं है।

इसलिए, यथार्थ स्थिति यह है कि लोकसभा के बहुमत-वाले दल के नेता (जिसे लोकसभा के बहुसंख्यक सदस्य नेता मानते हों) को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाता है और वह मन्त्रिमण्डल के अपने सहयोगियों को चुनता है जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उसी की सिफारिश पर की जाती है। प्रधानमन्त्री को अपने सहयोगियों को चुनने की कुछ स्वतन्त्रता अवश्य रहती है लेकिन वह भी इस मामले मे पूर्णतः स्वतन्त्र नही रहता। वह अपने दल के प्रमुख सदस्यो की दल मे घोर असतोष या फूट पैदा किये बिना अवहेलना नही कर सकता। अतः प्रधानमन्त्री के कुछ सहयोगी तो दल मे अपनी स्थिति और प्रभाव के कारण पहले से ही ध्यान मे रहते हैं और उनका चुना जाना अनिवार्य-सा ही होता है। मन्त्रिमण्डलीय नियुक्तियों की सिफारिश करते समय प्रधानमन्त्री को कुछ अन्य बातों का भी ख्याल रखना पड़ता है। प्रधानमन्त्री को यह ध्यान रखना पड़ता है कि जहाँ तक सम्भव हो देश के अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण समुदायों और भौगोलिक भागों का मन्त्रिमण्डल मे प्रतिनिधित्व हो जाय। हमारे देश मे बिना मुसलमान, सिख या हरिजन प्रतिनिधि वाला मन्त्रिमण्डल शायद ही किसी को सन्तुष्ट कर सके। संविधान मे ऐसी कोई बात नही है जिसकी वजह से प्रधान, मन्त्री इन सब चीजो का ख्याल रखने के लिए मजबूर हो लेकिन परिस्थितियों की व्यावहारिक आवश्यकताओं को दृष्टि मे रखते हुए उसे ऐसा करना पड़ता है। मन्त्रिमण्डल को अधिक से अधिक व्यापक आधार पर सगठित करने का प्रयत्न किया जाता है। इन बातों के अलावा प्रधान मन्त्री अपने सहयोगियों का चयन करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। प्रधानमन्त्री यदि चाहे तो किसी ऐसे भी व्यक्ति को मन्त्रिमण्डल में ले सकता है

जो संसद-सदस्य न हो लेकिन फिर उस मन्त्री के लिए यह आवश्यक होगा कि वह छः महीने की कालावधि में संसद के किसी सदन का सदस्य निर्वाचित हो जाय।

पदों का वितरण—एक बार यह तय कर लेने पर कि कौन-कौन उसके सहयोगी रहेंगे प्रधानमन्त्री को यह निश्चय करना पड़ता है कि किस मन्त्री को कौन कौन से पद दिये जाएँ। संविधान में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति मन्त्रियों के बीच कार्य-वितरण करने के नियम बनायेंगे[१] लेकिन इसका आशय केवल इतना ही है कि शासन कार्य (Governmental business) को विभिन्न विभागों में किस प्रकार विभक्त किया जाय। किस मंत्री को क्या पद या विभाग दिया जाय—इसका निर्णय करना राष्ट्रपति का काम नहीं है। यह काम तो प्रधानमन्त्री का ही है कि वह प्रत्येक मन्त्री के बारे में निश्चय करे कि कौन किस विभाग को सँभालेगा। संसदीय व्यवस्था वाले अन्य देशों के अनुभवों से ज्ञात होता है कि इस मामले में भी प्रधानमन्त्री पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है। जिन मन्त्रियों को किसी पूर्व मन्त्रिमण्डल में कोई विभाग मिल गया होता है, यदि वे उसी विभाग को पुनः चाहते हैं तो यह एक प्रकार से उनका अधिकार समझा जाता है। कुछ मन्त्री कुछ विशेष विभागों को ही चाहते हैं। यदि इच्छुक मन्त्रियों की दल में अच्छी और मजबूत स्थिति है तो अपने इन महत्वपूर्ण सहयोगियों की इच्छाओं की प्रधानमन्त्री अवहेलना नहीं कर सकता। जब कोई दो महत्वपूर्ण सहयोगी किसी एक ही विभाग को चाहते हैं तो प्रधानमन्त्री को चिंतापूर्वक यह सोचना पड़ता है कि गुत्थी को किस प्रकार सुलझाया जाय।

वर्तमान मन्त्रिमंडल—आजकल (१९५७) के मन्त्रिमण्डल में प्रधान मन्त्री सहित तेरह मन्त्री हैं। मन्त्रियों में विभागों का वितरण इस प्रकार है: (१) विदेश विभाग (जिसमें राष्ट्रमण्डल सम्पर्क विभाग भी सम्मिलित है,)(२) गृह और राज्य, (३) प्रतिरक्षा, (४) खाद्य और कृषि, (५) निर्माण, आवास और पूर्ति (६) शिक्षा, (७) वित्त, (८) श्रम तथा नौकरी, (९) योजना, सिंचाई और विद्युत; (१०) वाणिज्य, (११) स्वास्थ्य, (१२) संचार और परिवहन, (१३) विधि, (१४) उत्पादन और (१५) रेलपथ।[२] प्रधानमन्त्री को छोड़ कर जो कि विदेश विभाग को भी सँभालते हैं अन्य मन्त्रियों को उनके विभागों के नाम से ही पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए गृह और राज्य विभागों के मन्त्री गृह और राज्य मन्त्री, प्रतिरक्षा विभाग के मन्त्री प्रतिरक्षा मन्त्री आदि कहलाते हैं।

प्रथम संघीय मन्त्रिमण्डल दलगत मन्त्रिमण्डल नहीं था। वह सर्वदलीय मन्त्रिमण्डल था—ऐसा जिसमें सभी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। कुछ ऐसे भी मन्त्री थे जो कांग्रेस

[१] अनु० ७७ (३), [२] राष्ट्रपति के १७ एप्रिल १९५७ के आदेशानुसार।

दल के नहीं थे, जिसका विधानमण्डल में बहुमत था। एक राजनीतिक पर्यवेक्षक के कथनानुसार प्रथम मन्त्रिमण्डल में राजनीतिक पद कांग्रेस दल वालों के हाथ में थे, आर्थिक पद निर्दलीय या अल्पसंख्यक दलों के व्यक्तियों के हाथ में थे। इसी राजनीतिक पर्यवेक्षक के अनुसार इसका फल यह हुआ कि प्रधानमन्त्री और उप-प्रधानमन्त्री का कार्य-भार बहुत अधिक बढ़ गया और उन्हें ऐसे व्यक्तियों के निर्णयों का बोझ भी उठाना पड़ा जिनके दराजनीतिक समर्थक तुलना में बहुत कम थे। फिर भी उस समय देश जिस कठिन और अन्तर्कालीन परिस्थितियों से गुजर रहा था उनके लिए यह समस्त प्रतिभाशाली व्यक्तियों का मन्त्रिमण्डल उपयुक्त था। लेकिन यह अस्थायी व्यवस्था सिद्ध हुई। शीघ्र निर्दलीय व्यक्तियों को हटना पड़ा और भारतीय मन्त्रिमण्डल भी अन्य देशों की भाँति एकदलीय मन्त्रिमण्डल हो गया।

मन्त्रिमण्डल (Cabinet) और मन्त्रि समुदाय (Ministry)—ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल तथा मन्त्रि-समुदाय में अन्तर माना जाता है। मन्त्रि-समुदाय (Ministry) की सदस्य संख्या मन्त्रिमण्डल (Cabinet) की अपेक्षा अधिक होती है। मन्त्रिमण्डल में लगभग २० व्यक्ति होते हैं किन्तु मन्त्रि-समुदाय में उप-मन्त्रियों तथा संसदीय सचिवों, सहकारी संसदीय सचिवों आदि को लेकर संख्या ८० तक पहुँच जाती है। इस प्रकार सब प्रकार के मन्त्रियों की संख्या जहाँ १०० तक होती है वहाँ मन्त्रिमण्डल की सदस्य समुदाय-संख्या २० २२ से अधिक नहीं बढ़ पाती। मन्त्रिमण्डल की बैठकों में केवल यही व्यक्ति भाग ले सकते हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का दर्जा अन्य मन्त्रियों से अधिक ऊँचा होता है।

भारत में भी इसी प्रकार का अन्तर किया गया है। हमारे यहाँ मन्त्रिदल में चार श्रेणियाँ हैं। सबसे पहली श्रेणी में वे मन्त्री आते हैं जो मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं। आजकल इनकी संख्या तेरह है। ये मन्त्री महत्वपूर्ण विभागों के अध्यक्ष होते हैं। इनको २२५० रुपये मासिक वेतन मिलता है। पांच सौ रुपये भत्ता मिलता है। सरकारी निवास-स्थान और एक कार मिलती है। इनका किराया या खर्च मन्त्रियों को नहीं उठाना पड़ता। इसके बाद राजकीय (Ministers of State) मन्त्री आते हैं जो प्रथम श्रेणी वाले मंत्रियों से नीचे की श्रेणी माने जाते हैं। इन मंत्रियों की संख्या चौदह है। ये प्रथम श्रेणी के मन्त्रियों की भाँति किसी विभाग या उपविभाग के तो अध्यक्ष होते हैं लेकिन मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग नहीं लेते। जब उनके विभाग से सम्बन्धित किसी विषय पर मन्त्रिमण्डल विचार करता है तो उन्हें विशेष रूप से निमन्त्रित कर लिया जाता है। वे मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों की ही भाँति संसदीय कार्य करते और उसके समक्ष उत्तरदायी होते हैं। वे मन्त्रिमण्डल के समक्ष अपने विभाग से सम्बन्ध रखने वाले कागज-पत्र रख सकते हैं और प्रधान मन्त्री की सम्मति से अपने विभाग से,

बाहर की बातों पर भी स्मरण-पत्र भी पेश कर सकते हैं। द्वितीय श्रेणी के मन्त्रियों को भी वेतन तो २२५० रुपये मासिक ही मिलता है लेकिन भत्ता नहीं मिलता। इनकी संख्या इस समय १४ है। तीसरी श्रेणी में उपमन्त्री आते हैं। इनको १७५० रुपये मासिक वेतन मिलता है। इनकी संख्या भी आजकल पन्द्रह है। इनका कार्य है अधिक कार्यभार वाले विभागों के मन्त्रियों का कुछ काम स्वयं लेकर उनके बोझ को हल्का करना। चौथी श्रेणी संसदीय सचिवों (Parliamentary Secretaries) की है जो किसी विभाग के अध्यक्ष नहीं होते। इनका कार्य केवल उस मन्त्री के प्रशासनिक और संसदीय कार्य में सहायता पहुँचाना होता है जिससे उन्हें सम्बद्ध कर दिया जाता है। संसदीय सचिवों का दर्जा उपमन्त्रियों से भी नीचा होता है। संसदीय सचिव कभी भी मन्त्रिमण्डल की बैठकों मे भाग नहीं लेते। औपचारिक रूप से संसदीय सचिव मन्त्री नहीं हैं और संविधान उन्हें कोई शक्तियाँ नहीं देता। यह उनसे सम्बद्ध मन्त्री पर निर्भर है कि वह उन्हें क्या कार्य और क्या अधिकार देगा।

संसदीय सचिव का निःसन्देह कार्य यह है कि वह ससद के उस सदन में जिसका वह स्वयं सदस्य है अपने मन्त्री का प्रतिनिधित्व करे। यदि दोनों एक ही सदन के सदस्य हों तो ससदीय सचिव अपने मन्त्री की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधित्व करता है। संसदीय सचिव का प्रशासनीय कार्य उसके मन्त्री की इच्छा पर निर्भर है। कुछ मन्त्री संसदीय सचिवों को कुछ भी प्रशासनीय कार्य नहीं देते। विभागों के सेक्रेटरी और उच्च अफसर भी संसदीय सचिवों के पास फाइलें भेजना नहीं पसन्द करते क्योंकि यदि वे उन पर विभागीय कर्मचारियों की राय के विरुद्ध नोट इत्यादि लिखें तो उन कर्मचारियों को उस मामले पर दुबारा उत्तर प्रत्युत्तर करना पड़ता है और उनका कार्य बढ़ जाता है।

श्री हर्बर्ट मॉरिसन ने अपनी पुस्तक "गवर्नमेंट ऐण्ड पार्लमेंट" मे लिखा है कि संसदीय सचिवों को प्रशासन कार्य से एकदम अलग रखना "निर्दयतापूर्ण, मूर्खतापूर्ण और अन्यायपूर्ण" है। उनकी राय में ससदीय सचिवों को निम्नलिखित कार्य दिया जाना चाहिए।

(क) कुछ गुप्त या नाजुक मामलों को छोड़कर शेष बातों की फाइलें और स्मरण-पत्र संसदीय सचिव के ही मार्फत मन्त्री के पास जाना चाहिये। संसदीय सचिव को उन्हें पढ़ना चाहिये और उन पर अपनी राय देना चाहिए।

(ख) अपेक्षाकृत कम महत्व के विषय निर्णय के लिए संसदीय सचिव को दिये जाने चाहिये। ससदीय सचिव जहाँ उचित समझे मन्त्री से आवश्यक परामर्श कर ले।

(ग) विभागीय दफ्तर में जो परामर्श और सभा-सम्मेलन आदि हो उनमें यथासम्भव संसदीय सचिवों को उपस्थित रखना चाहिये जिससे उन्नतर उत्तरदायित्व के

लिए वे प्रशिक्षित हो सकें। श्री मॉरिसन के मतानुसार ये शक्तियाँ संसदीय सचिवों के लिए अधिकार पत्र के रूप से मानी जानी चाहिये ताकि वे अपने को जैसा बहुधा होता है, नगण्य न समझें।

प्रथम मन्त्रिमण्डल में सरदार वल्लभभाई पटेल उपप्रधान मन्त्री थे। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद यह पद समाप्त हो गया। द्वितीय श्रेणी के मन्त्रियों को पहले राज्यमन्त्री (Ministers of State) कहा जाता था लेकिन अब इन्हें प्रथम सार्वजनिक निर्वाचको के बाद से मन्त्रिमण्डलीय कोटि के पदवाले मन्त्री (Min'sters of the Cabinet rank) कहा जाता है। राज्य मन्त्रियों की उपाधि समाप्त कर दी गई। १९५७ के ग्राम चुनाव के बाद राज्य मन्त्री तथा उप-प्रधानमन्त्री के पदो को पुनः स्थापित किया गया और मन्त्रिमण्डलीय कोटि के मन्त्रियो का पद समाप्त कर दिया गया। आजकल (मई १९५८) पं० गोविन्द वल्लभ पन्त उप-प्रधान मन्त्री हैं।

सविधान मे राज्य मन्त्रियो या मन्त्रिमण्डलीय कोटि के मन्त्रियों या उप-मन्त्रियो या संसदीय सचिवों के लिए कोई व्यवस्था नही दी गई है। इसलिए जब इनकी नियुक्तियाँ हुई तो सवैधानिक दृष्टि से उनका औचित्य सिद्ध करने का प्रश्न उठा। संविधान मे यह व्यवस्था है कि जब तक संसद अपनी विधि द्वारा विशेष व्यवस्था न कर दे तब तक संसद का कोई भी सदस्य शासन के अन्तर्गत ऐसा कोई पद नही सँभाल सकता जो उसकी आय का साधन हो।[1] चूंकि अन्य श्रेणियो के मन्त्री संसद की किसी विधि द्वारा उक्त प्रतिबन्ध से उन्मुक्त नही किये गये थे—अतः यह खतरा था कि अपने पदो के कारण तो उन्हे संसद की सदस्यता से हाथ धोना पड़ेगा। वे ससद सदस्य न रह जायेंगे। इस कठिनाई को आरम्भ मे तो राष्ट्रपति के एक अध्यादेश द्वारा दूर किया गया और अन्त मे सन् १९५० मे ससद ने एक विधेयक पारित करके एक अधिनियम बनाया जिसके जरिए राज्य मन्त्रियो, उपमन्त्रियो, ससदीय सचिवो आदि को उक्त बन्धन से मुक्त कर दिया गया। इस अधिनियम का नाम 'अयोग्यता निवारक अधिनियम १९' १९५० है।

मन्त्रिमंडल में विशेषज्ञ तत्व—संसदीय शासन के सम्बन्ध मे यह एक सर्वमान्य सिद्धांत है कि मन्त्रिमण्डल के सदस्य बहुत विशेषज्ञ न होकर सामान्य व्यक्ति होने चाहिए। उनकी नियुक्ति उनकी राजनीतिक स्थिति को ध्यान मे रख कर की जाती है न कि प्रशासन की योग्यता के अनुसार। लेकिन ज्यो-ज्यो शासनिक कार्य के विकास के साथ उसकी जटिलताएँ और तान्त्रिकताएँ (Technicalities) बढ़ती जाती है ज्यो-ज्यो यह आवश्यक होता जाता है कि मन्त्रिमण्डल में कुछ ऐसे भी लोगों को रखा जाय जिनको

[1] अनु० १०२ (१) और (२)

शासनकार्य का अनुभव हो। वे भले ही कभी राजनीतिज्ञ न रहे हों। इसलिए इंगलैंड में गत चालीस वर्षों में कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण विभाग ऐसे व्यक्तियों के हाथ में रहे हैं जो पहले वेतनिक सरकारी कर्मचारी रह चुके थे। ऐसे व्यक्तियो मे लार्ड चेरवेल, लॉर्ड इस्में, लॉर्ड वुल्टन और सर आर्थर साल्टर के नाम स्वभावतः ख्याल मे आ जाते हैं। ये प्रसिद्धि-प्राप्त प्रशासक मन्त्रिमण्डल मे राजनीतिक क्षेत्र से नही बल्कि सरकारी नौकरी के क्षेत्र से प्रविष्ट हुए।

भारत के मन्त्रिमण्डल मे भी कुछ व्यक्ति सरकारी नौकरी (Civil Service) के क्षेत्र से प्रविष्ट हुए हैं। ऐसे लोगो मे भारत के भूतपूर्व प्रतिरक्षा मन्त्री स्वर्गीय सर गोपाल स्वामी आयंगर तथा, भूतपूर्व वित्तमन्त्री श्री सी० डी० देशमुख का नाम लिया जा सकता है। इनके पूर्व भारत के अन्य दो भूतपूर्व वित्तमन्त्री, सर षण्मुखम् चेट्टी और सर जॉन मथाई भी प्रशासन के अनुभवी व्यक्ति थे और उन्हे इसी आधार पर नियुक्त किया गया था।

प्रधानमन्त्री और उसके सहयोगी—प्रधानमन्त्री तथा उसके सहयोगी अन्य मन्त्रियों के सम्बन्धो का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रधान मंत्री 'समान व्यक्तियो मे प्रथम' (First among equals) होता है। अन्य मन्त्री प्रधान मन्त्री के सहयोगी होते हैं उसके नीचे काम करने वाले नौकर नही। प्रधानमन्त्री को कितना महत्व मिलता है, यह बात इस पर निर्भर करती है कि प्रधानमन्त्री स्वय कितनी क्षमता रखता है, और दल मे उसका प्रभाव कितना है। लेकिन ब्रिटेन जैसे कुछ देशो मे कुछ परम्पराएँ (Conventions) गहरी जड़ पकड़ चुकी हैं। इनमे से पहली परम्परा यह है कि प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब के कुन्जीवाले पत्थर की भांति होता है। (The Prime minister is the Keystone of Cabinet-arch) उसके पदत्याग के फलस्वरूप संपूर्ण मन्त्रिमण्डल विघटित हो जाता है। यदि प्रधानमन्त्री से किसी अन्य मन्त्री का किसी प्रश्न पर मतभेद हो जाता है तो प्रधानमन्त्री को नही बल्कि उस मन्त्री को इस्तीफा देना पड़ता है। दूसरे, प्रधानमन्त्री मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष या सभापति होता है। मन्त्रि-परिषद् की बैठक का सभापतित्व वही करता है। उसकी उपस्थिति मे अन्य कोई मन्त्री सभापति नही हो सकता। तीसरे, प्रधान मन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह विभिन्न सहयोगियो के मतभेदो का निर्णय करे। यदि कोई अन्तर्विभागीय झगड़ा खड़ा हो जाता है तो वह सबसे पहले तय करने के लिए प्रधानमन्त्री के सामने ही लाया जाता है, चौथे, प्रधान मन्त्री को राज्य के सभी विभागो के कार्यों तथा नीतियो पर दृष्टि रखनी पड़ती है। आजकल शासन कार्य इतना अधिक बढ गया है कि कोई भी एक आदमी सभी विभागों के कार्यों की निगरानी नही कर सकता लेकिन हर विभाग के कार्य पर निगाह रखने का अधिकार प्रधानमन्त्री को है। इससे कोई इन्कार नही कर सकता। पांचवें, मन्त्रिपरिषद्

में जो भी निर्णय या निश्चय होते हैं, उनकी सूचना राज्य के अध्यक्ष को देना प्रधानमन्त्री का ही कार्य है। सहयोगियों के प्रति सद्भाव बनाये रखने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्रधानमन्त्री राज्य के अध्यक्ष को केवल मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों की ही सूचना दे। यह न बतलाये कि कौन-कौन से मन्त्री किस निर्णय के विपक्ष में थे और कौन से पक्ष में। लेकिन व्यवहार में इस नियम का पालन कर सकना कुछ कठिन है, विशेषकर जब राज्य के अध्यक्ष के साथ प्रधानमन्त्री की घनिष्ठता हो; जैसी कि डिसरेले या लार्ड सैलिसबरी की रानी विक्टोरिया से थी। यदि कोई मन्त्री राज्य के अध्यक्ष को या अन्य किसी व्यक्ति को यह बतला देता है कि मन्त्रिमण्डल की अमुक बैठक में किसने क्या कहा तो वह ऐसा करके मन्त्रिमण्डल के शिष्टाचार का उल्लंघन करता है। अन्त में, शासन के कुछ अत्युच्च पदों पर नियुक्तियाँ प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर ही होती हैं। वह इन नियुक्तियों के सम्बन्ध में यदि चाहे तो अपने सहयोगियों से मन्त्रणा कर सकता है। लेकिन यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके सम्बन्ध में किसी को शिकायत नहीं होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि प्रधानमन्त्री राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में किसी से परामर्श न करे तो इस बात की कोई शिकायत सहयोगी मन्त्रियों की तरफ से नहीं की जा सकती। प्रधानमन्त्री सामान्यतः किसी विभाग का दायित्व अपने ऊपर नहीं लेता लेकिन भारत के प्रधानमन्त्री ने राष्ट्रमण्डल के अन्य देशों के प्रधानमन्त्रियों की भांति विदेश विभाग का कार्य भार स्वयं सँभाल रखा है। इसके अतिरिक्त पत्रव्यवहार, मुलाकातों, सूचनाओं आदि के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री की सहायता के लिए एक अलग सचिवालय है जो प्रधानमन्त्री का सचिवालय (Prime-ministers Secretariat) कहलाता है और प्रधानमन्त्री को उसके कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों की पूर्ति में मदद करता है।

कुछ मामलों में, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, अलग-अलग देशों में अलग-अलग व्यवस्थाएँ होती हैं। जब तक कुछ समय न बीत जाय और राष्ट्रपतियों, प्रधान मंत्रियों तथा अन्य मंत्रियों की जीवन-कथाएँ प्रकाशित न हो जायें तब तक भारतीय संविधान का कोई भी लेखक निश्चित रूप से यह सङ्केत नहीं कर सकता कि राज्य के इन उच्च पदाधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों का वास्तविक स्वरूप क्या है। ऊपर जो कुछ कहा गया है वह ब्रिटेन की मन्त्रिमण्डल कार्य-पद्धति के आधार पर कहा गया है।

मन्त्रिमण्डल की बैठकें और कार्य—मन्त्रिमंडल की बैठक सप्ताह में आवश्यकतानुसार एक या एक से अधिक बार भी होती है। प्रधान मंत्री सभापतित्व या अध्यक्षता करता है। मन्त्रिमंडल की बैठकें साधारणतया अनौपचारिक ढङ्ग की होती हैं। बहुमत निर्णय मान्य होता है लेकिन जहाँ तक हो सकता है, यह प्रयत्न किया जाता है कि मतभेद रखने वाले अल्पमत के मंत्रियों को समझा-बुझा कर राजी कर लिया जाय। जितनी समस्याओं पर जितने ही अधिक सर्वसम्मत निर्णय हों उतना ही अच्छा

समझा जाता है। खुले प्रश्नो के रूप मे गम्भीर समस्याएँ कभी भी स्पष्टत: मन्त्रिमण्डल के सम्मुख नही रखी जाती हैं। प्रत्येक मन्त्रिमंडल मे शीघ्र ही प्रधान मंत्री तथा दो-एक महत्वपूर्ण मंत्रियो का एक अंतरङ्ग मन्त्रिमण्डल (inner cabinet) बन जाता है। इस अन्तरङ्ग मण्डल मे महत्वपूर्ण बातो के सम्बन्ध मे मन्त्रिमण्डल की बैठक के पूर्व ही विचार विनिमय हो जाता है और कुछ फैसला कर लिया जाता है। बडे लोग जो निर्णय पहले कर लेते हैं, मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य उन निर्णयों की पुष्टि भर कर देते हैं। किसी भी मन्त्रिमण्डल मे ऐसा तो कभी होता ही नही कि सभी मन्त्रियो का प्रभाव समान हो।

मन्त्रिमण्डल की बैठको तथा उसकी कार्यवाहियो की एक विशेषता उनकी गुप्तता है। किसी भी मन्त्री को यह अधिकार नही है कि वह किसी भी समय यह बतला दे कि अमुक मन्त्रिमण्डलीय बैठक मे क्या हुआ था। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक मन्त्री को पदभार सँभालने के पूर्व सविधान के प्रति भक्ति तथा राजकीय बातो को गुप्त रखने की शपथ लेनी पड़ती है। मन्त्रिमण्डल की बैठक के अन्त मे मन्त्रिमण्डल के निर्णयो के सम्बन्ध में एक सीधी-सादी विज्ञप्ति प्रकाशित कर दी जाती है। लेकिन इससे अधिक और कुछ नही होता। व्यवहार में पूर्ण गुप्तता बनाये रखना बडा कठिन होता है। कभी-कभी बहुत-सी महत्वपूर्ण बाते खुल भी जाती हैं लेकिन ऐसा अपवादात्मक रूप से ही होता है, साधारणतया नही।

मन्त्रिमण्डल के कार्य को समझने के लिए यह ध्यान में रखना जरूरी है कि मन्त्रिमण्डल सघ का कार्यपालक अङ्ग है। मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल (Legislature) का नेतृत्व भी करता है। प्रत्येक मन्त्री एक या एक से अधिक विभागो का अध्यक्ष होता है, और इस प्रकार मन्त्रिमंडल के सदस्य सामूहिक रूप से शासन का सञ्चालन करते हैं। प्रत्येक मन्त्री अपने-अपने विभाग के दैनिक कार्यो के सम्बन्ध मे स्वय ही फैसला करता है। लेकिन नीति सम्बन्धी या दूसरे विभागों से सम्बन्ध रखने वाले मामले मन्त्रिमडल के सामने विचारार्थ उपस्थित किये जाते हैं। बहुत-सी शक्तियाँ जो औपचारिक दृष्टि से राष्ट्रपति को दी गई है, उनका प्रयोग वस्तुतः मन्त्रिमडल द्वारा किया जाता है। देश का प्रशासन चलाने के अतिरिक्त मन्त्रिमंडल विधानमडल का कार्य-क्रम भी निश्चित करता है। मन्त्रिमडल ही यह तय करता है कि ससद के सदनो का सत्र कब प्रारम्भ होगा, वह कितने दिनो चलेगा और सत्र-काल मे क्या-क्या कार्य किये जायँगे। विधानमडलो मे जितने विधेयक उपस्थित किये जाते हैं उनमे से अधिकाशतः विधेयक मन्त्रिमंडल या शासन के होते हैं। उनका प्रारूप मन्त्रिमडल के निर्देशो के अन्तर्गत ही तैयार किया जाता है। आय-व्ययक (Budget) लोकसभा में उपस्थित किये जाने के पूर्व मन्त्रिमंडल को दिखलाया जाता है और उसकी सहमति प्राप्त की जाती है। विधानमंडल मे मन्त्रि-

मडल न केवल वित्तीय मामलों में ही नेतृत्व करता है बल्कि लोकसभा में अपने बहुमत के कारण वह ऐसी भी स्थिति मे होता है कि अपने प्रस्तावों को विधियों के रूप मे संसद से पारित करा ले। मन्त्रिमण्डल विधेयन कार्य स्वयं नहीं कर सकता लेकिन वह अपनी इच्छानुसार जो विधियाँ चाहता है, संसद से प्राप्त कर लेता है। अतएव यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि मन्त्रिमंडल के हाथों में शासन की कार्यपालिका और विधायिका दोनों ही शक्तियाँ रहती हैं। ब्रिटिश आदर्श के अनुसार, भारतीय मन्त्रिमंडल भी बहुत-सी उपसमितियों की सहायता से कार्य करता है। उदाहरण के लिए विधेयक, आय व्ययक आदि उपसमितियों का नाम लिया जा सकता है।

मन्त्रिमण्डल का सचिवालय—मन्त्रिमण्डल का अपना एक अलग सचिवालय होता है। इस सचिवालय मे एक सयुक्त सचिव, दो उपसचिव, दो सहकारी सचिव, एक सहायक सचिव, पाँच स्टाफ अधिकारी, चार अधीक्षक, तीन आर्थिक और आंकिक परामर्शदाता तथा अन्य आवश्यक निम्नवर्गीय कर्मचारी होते हैं। इस सचिवालय का कार्य प्रधान मंत्री के आदेशानुसार मन्त्रिमण्डल का कार्यक्रम तैयार करना, उसके निर्णयों का अभिलेख (Record) रखना, और ऐसी सूचनाएँ तथा अंक सग्रहीत करना होता है जिनकी समय पर आवश्यकता पड़ती है। अभी तक यह नहीं ज्ञात हो सका है कि अन्य मन्त्रियों के विभागीय सचिवों की भाँति यह सचिवालय भी कार्य के मामलों मे मन्त्रिमण्डल को परामर्श देता है या नहीं। यह कार्य मन्त्रिमण्डल सचिवालय को नहीं करना चाहिए। ऐसा होने मे यह खतरा पैदा होता है कि कहीं वह सर्वोच्च-सचिवालय न हो जाय और विभागीय सचिवों को भी महत्वपूर्ण मामलों मे निर्देश न देने लगे। इस सचिवालय के कुछ अधिकारियों की पदवी मत्रणादाता के रूप मे होना चिन्ता का विषय है।

मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व—सविधान मे कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।[1] इसका अर्थ यह है कि मन्त्रि-परिषद् तभी तक अपने पद पर बनी रह सकती है जब तक उसे सदन का विश्वास प्राप्त हो। जब तक मन्त्रिपरिषद् को लोक सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता रहे तब तक उसका कार्यकाल रहता है। मन्त्रिपरिषद् का उत्तरदायित्व सामूहिक है अर्थात् यदि उसके किसी एक मन्त्री के प्रति अविश्वास प्रकट किया गया है। हर एक मन्त्री को अपने प्रत्येक सहयोगी मन्त्री के कार्य के लिए उत्तरदायित्व वहन करने के लिए तैयार रहना पड़ता है।

लोकसभा मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध अविश्वास कई प्रकार से प्रकट कर सकती है। वह किसी मन्त्री का वेतन घटा कर या मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत किसी विधेयक

१ अनु० ७५ (३)

को अस्वीकार करके या किसी सदस्य का निजी विधेयक मन्त्रिमण्डल की इच्छाओं के विरुद्ध पारित करके या मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध सीधे अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके ऐसा कर सकती है। यदि इनमें से कोई भी बात हो जाती है तो मन्त्रिमण्डल को तत्काल त्यागपत्र देना चाहिए था फिर राष्ट्रपति से लोकसभा को विघटित करने का अनुरोध करना चाहिए। लोकसभा के विघटन की अवस्था में नया निर्वाचन होता है और इस प्रकार मन्त्रियों को निर्वाचकों से प्रत्यक्षतः अपील करने का मौका मिल जाता है।

मन्त्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से यह आवश्यक है कि यदि कोई भी मन्त्री कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय करने के पहले अपने साथियों से परामर्श कर ले अर्थात् महत्त्वपूर्ण निर्णय सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल द्वारा ही किये जाने चाहिए। इसका यह भी आशय है कि मन्त्रियों को केवल लोकसभा में ही नहीं बल्कि जनता के सामने भी संयुक्त मोर्चा ही खड़ा करना पड़ता है। कोई मन्त्री किसी मन्त्री के निर्णय से सहमत हो या न हो, यदि वह मन्त्रिमण्डल में बना रहता है तो उसका यह कर्तव्य है कि वह जब भी आवश्यक हो, अपने सहयोगी मन्त्री के निर्णय का पूर्ण समर्थन करे। यदि वह यह अनुभव करता है कि वह ऐसा करने में असमर्थ है तो उसके लिए सर्वाधिक सम्मानपूर्ण मार्ग यही है कि वह त्यागपत्र देकर अपने पद से अलग हो जाय। मन्त्री जब तक अपने पद पर है तब तक वह अपने ही शासन की नीतियों या कार्यों की आलोचना नहीं कर सकता। संविधान में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है कि कोई मन्त्री अपने विभाग के कार्यों के लिए पृथक् रूप से उत्तरदायी है और न किसी मन्त्री को औपचारिक तौर पर राष्ट्रपति के किसी कार्य के लिए ही उत्तरदायी ठहराये जाने की ही व्यवस्था है।

मन्त्रिमण्डल तथा लोकसभा के बीच वास्तविक संबंध—सवैधानिक दृष्टि से लोकसभा मन्त्रिमण्डल की स्वामिनी है और जब चाहे मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकती है। लेकिन राजनीतिक शक्तियों के व्यावहारिक घात प्रतिघात के फलस्वरूप वास्तविकता कुछ और ही है। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल तथा कामन्स सभा के सम्बन्धों के विषय में कहा जाता है कि कामन्स सभा ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल को नियंत्रित नहीं करती किन्तु मन्त्रिमण्डल ही ब्रिटिश कामन्स सभा को नियंत्रित करता है। ऐसी उल्टी स्थिति हो जाने का कारण दलगत व्यवस्था का एक विशेष रूप से संचालन किया जाना है। प्रथम सदन में मन्त्रिमण्डल को जो बहुमत प्राप्त होता है, वह बहुमत पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता। शासन को बहुमत का समर्थन दलगत भक्ति तथा अनुशासन के कारण प्राप्त होता है। बहुमत वाले दल के सदस्य उस दल के उम्मीदवारों के रूप में निर्वाचित होते हैं। जिस समय उन्हें दल का उम्मीदवार बनाया जाता है तभी यह आपस में समझ लिया जाता है या स्पष्ट रूप से कह-सुन लिया जाता है कि उम्मीदवार को निर्वाचित हो

जाने पर दल का अनुशासन मानना होगा। जो सदस्य अपने ही दल के मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध मतदान करता है उसे उक्त प्रतिज्ञा भंग करने का अपराधी समझा जाता है और वह यह आशा नहीं कर सकता कि अगले निर्वाचनों में उसे फिर उसी दल की ओर से उम्मीदवार बना कर खड़ा किया जायगा। निर्वाचकों की सख्या और निर्वाचनों का व्यय इतना अधिक बढ़ गया है कि अब किसी का स्वतन्त्र रूप से खड़ा होना सामान्यतः संभव नहीं रहा है। ऐसी परिस्थितियों में शासन या मन्त्रिमण्डल को लगभग इतना विश्वास बराबर बना रहता है कि उसे आवश्यकतानुकूल बहुमत सदन में अवश्य मिल जायगा। मन्त्रिमण्डल को इस बात की चिन्ता करने की जरूरत नहीं है कि कोई सदस्य व्यक्तिगत रूप से किसी मन्त्रिमण्डल के किसी कृत्य या उसकी किसी विशेष नीति के बारे में क्या सोचता है। अतः फल यह होता है कि शासनारूढ़ मन्त्रिमण्डल जो भी अधिनियम या विधियाँ चाहता है वह लोकसभा से प्राप्त कर लेता है। जिन कानूनों या विधियों को वह नहीं चाहता उन्हें परास्त कर देता है और विरोधी दल की ओर से जो भी आलोचनाएँ होती हैं उनके आघात का निवारण कर लेता है। आजकल मन्त्रिमण्डल सार्वजनिक निर्वाचनों में पराजित होते हैं, विधान-मण्डलों में सदस्यों के मतों से नहीं।

निस्संदेह, यह सब बातें उन देशों के सबंध में लागू होती हैं जहाँ दो सुदृढ़ दलों की सबल व्यवस्था होती है। जिस देश में छोटी-छोटी बहुत-सी पार्टियाँ होती हैं और विधान मडल में किसी दल का बहुमत नहीं होता वहाँ मन्त्रिमण्डलों को सयुक्त दलों पर निर्भर रहना पड़ता है। सयुक्त दलों पर उतनी कठोरता से अनुशासन नहीं लागू किया जा सकता है जितनी कठोरता से किसी एक दल पर। परिणाम यह होता है कि ऐसे मन्त्रिमण्डल कमजोर रहते हैं। फ्रांस जैसे देशों में यही होता है। वहाँ विधान मण्डल का नेतृत्व स्वतन्त्र सदस्य करते हैं और मन्त्रिमण्डल उनके समर्थन पर निर्भर करता है। भारत में अभी दलगत व्यवस्थाओं ने कोई निश्चित् स्वरूप धारण नहीं किया है, लेकिन यहाँ कांग्रेस ही मुख्य दल है जिसका केन्द्र तथा राज्यों के विधानमण्डलों में बहुमत है। कांग्रेस की दलगत परम्परा अत्यन्त कठोर अनुशासन और नियमण की है। इसलिये सघ के मन्त्रिमण्डल की उतनी ही सबल स्थिति है जितनी ब्रिटिश ससद में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की है। सघीय मन्त्रिमण्डल संसद से जो चाहता है, वह प्राप्त कर लेता है और ससद को मन्त्रिमण्डल का नेतृत्व मानना पड़ता है।

इसे बहुधा संसद पर मन्त्रिमण्डल की तानाशाही की संज्ञा भी दी जाती है लेकिन इस प्रकार का वक्तव्य पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि यह सच है कि शासन के पीछे जो बहुमत होता है वह उसका सामान्यतः समर्थन ही करता है और कोई भी सदस्य अपने दल के विरुद्ध अपनी स्थिति को संकट में डाले बिना नहीं जा सकता; फिर भी यह ठीक है कि मन्त्रिमण्डल संसद की भावनाओं और इच्छाओं का ख्याल किये

बिना मनमानी भी नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो दल में ही विद्रोह हो जायगा और फूट पड जायगी। मन्त्रिमण्डल को अपने अनुयायियों और पूरी संसद की नब्ज पर बराबर उँगलियां रखे रहना पड़ता है और इस बात की सावधानी रखनी पड़ती है कि कोई भी गम्भीर मतभेद न होने पाये। स्वाधीनता के बाद से अब तक के स्वल्प काल में ही मन्त्रिमण्डल को अनेक बातो के सम्बन्ध में संसद की इच्छाओ के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा है। हिन्दुस्तानी की जगह हिन्दी को शासन की भाषा स्वीकार करना पड़ा, 'जन गन मन' की भांति 'वन्देमातरम्' के राष्ट्रीय गान को भी समानता का स्थान देना पडा और हिन्दूकोड बिल के सम्बन्ध में समझौता करना पड़ा।

मंत्रिमण्डल का देश से अपील करने का अधिकार—हिन्दू कोड बिल के सम्बन्ध मे प्रधानमन्त्री ने यह घोषणा की थी कि इस बिल के पारित होने या न होने पर उनके मन्त्रिमण्डल का पदारूढ रहना या न रहना निर्भर करता है। इसका क्या अर्थ है? यह सदन को दी गयी एक धमकी थी जिसका आशय यह था कि यदि सदन उस विधेयक को पारित नहीं करता तो उसे विघटित होना पड़ेगा। हम इस घटना की चर्चा इसलिए विशेष रूप से कर रहे हैं क्योंकि यह प्रधानमन्त्री की सवैधानिक शक्तियो पर प्रकाश डालती है। इस प्रकार की धमकी दे कर प्रधानमन्त्री विद्रोही लोकसभा को तर्कसगत रीति से सोचने के लिए विवश कर सकते हैं।

प्रधानमन्त्री का यह अधिकार है कि वह जब भी चाहे राष्ट्रपति से लोकसभा को विघटित करने का अनुरोध कर सकता है और जैसी ससदीय परम्परायें हैं, उनके अनुसार राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री का यह अनुरोध स्वीकार करना पडेगा। संसद के असमय विघटित किये जाने से सभी सदस्य घबड़ाते है, चाहे वे सत्तारूढ दल के हों या विरोधी पक्ष के हों; क्योंकि विघटन का अर्थ निर्वाचन की कठिनाइयों का पुनः सामना करना होता है। निर्वाचन का व्यय-भार पुनः उठाना पडता है और इस पर भी यह खतरा रहता है कि कहीं हार न जायँ। इसलिए मन्त्रिमण्डल के सवैधानिक शस्त्रागार मे सदन को विघटित करा देने की शक्ति का शस्त्र ऐसा है जिससे अनावश्यक रूप से शासन की आलोचना करने वाले सदन को धमकाया जा सकता है और अवसर आ पड़ने पर दण्डित भी किया जा सकता है। लोकसभा को अपनी इच्छानुसार मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ कर देने का जो अधिकार है उसका मन्त्रिमण्डल को दी गयी उक्त शक्ति से प्रतिकारात्मक संतुलन स्थापित हो जाता है। यदि लोकसभा मन्त्रियों का कार्यकाल समाप्त कर सकती है तो मन्त्रिमण्डल भी सदन को विघटित कराके सदस्यों का कार्यकाल समाप्त कर सकता है। दोनो पक्षों को उक्त अधिकार मिल जाने के कारण दोनों ही पक्ष एक दूसरे के प्रति सम्मान का भाव रखते हैं और सहिष्णुता प्रदर्शित करते हैं।

मन्त्रि-परिषद् और राष्ट्रपति—गत अध्याय में हम राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति पर थोड़ा-सा प्रकाश डाल आये है। उसी प्रसंग में यह भी संकेत किया जा चुका है कि भारत में जैसी संसदीय सरकार की स्थापना की गयी है उसकी आवश्यकताएँ देखते हुए राष्ट्रपति के लिये ऐसे अवसर नहीं हैं जिनमें वह स्वतंत्ररीत्या अपने विवेक से सोच कर कुछ कार्य कर सके। आशय यह है कि वह कोई कार्य मन्त्रिमण्डल या मन्त्रि परिषद् से पृथक होकर नहीं कर सकता। लेकिन संविधान की शब्दावली ऐसी है जिससे सदेह होता है और पाठक के मन मे यह शंका पैदा होती है कि क्या राष्ट्रपति सचमुच कोई कार्य, अपनी मर्जी से नही कर सकता। इसलिए, यह आवश्यक है कि तत्सम्बधी अनुच्छेदो पर विचार कर लिया जाय। इससे हमे मन्त्रि परिषद और राष्ट्रपति के सम्बन्धो को समझने मे सहायता मिलेगी और साथ ही हम यह भी जान सकेगे कि यथार्थतः संविधान मे दी हुई व्यवस्थाएँ हैं क्या।

संविधान मे केवल दो अनुच्छेद हैं—७४ और ७५ जिनमें साफ-साफ मन्त्रि परिषद् और राष्ट्रपति के पारस्परिक सम्बन्धो की चर्चा की गई है। जैसा कि दुर्गादास बसु ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संविधान की टीका' मे लिखा है, "इन मे उन समस्त सिद्धान्तो को नही लिख दिया गया है जिन पर संसदीय शासन आधारित रहता है और कुछ मौलिक बातो के सम्बन्ध मे भी संविधान के रचयिताओ को बहुत-सी बातों को प्रथाओ और परम्पराओ तथा व्यक्तिगत तत्वों द्वारा निर्धारित होने के लिए छोड़ देना पड़ा है।"[१]

उक्त अनुच्छेदो तथा तत्सम्बन्धी अन्य धाराओ का विश्लेषण करने से राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद् के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे निम्नांकित तीन विवादास्पद बातें सामने आती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों को चुनने और उनकी नियुक्ति करने में राष्ट्रपति अपने विवेक से कोई कार्य करेगा या नही,

(२) क्या वह किन्ही परिस्थितियो मे प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियो को पदच्युत कर सकता है और,

(३) क्या वह मन्त्रिमण्डल द्वारा दिये गये परामर्शों के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है या किन्हीं परिस्थितियो मे अपने विवेक द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक भी कार्य कर सकता है ?

---

[१]All the principles upon which Cabinet Government rests have not been embodied herein, and even on some fundamental points, the framers of the constitution have been obliged to convention and usage and the personal factor. "Durga Das Basu's, *Commentary on the Constitution of India* p. 290."

इनमे से पहले प्रश्न का जहाँ तक सम्बन्ध है अर्थात् प्रधानमन्त्री और अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति में राष्ट्रपति अपने विवेक से कोई कार्य कर सकता है या नही, अनुच्छेद ७५ (१) कहता है, "प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा।" इस अनुच्छेद में ऐसी कोई बात नही है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि प्रधान मन्त्री का चयन करने में राष्ट्रपति का अधिकार किसी दृष्टि से सीमित है। लेकिन जैसा कि इस अध्याय के पूर्ववर्ती एक अनुध्याय में स्पष्ट कर दिया गया है, व्यवहार मे वह लोकसभा के बहुमतवाले दल के या संयुक्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करने के लिए बाध्य है। प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त करने के लिए निमन्त्रण देने के मामले मे राष्ट्रपति को अपना विवेक प्रयुक्त करने की आवश्यकता तभी पड़ेगी जब किसी भी दल के नेता को लोकसभा मे बहुमत प्राप्त न हो। ऐसी स्थिति उत्पन्न होना बड़ा कठिन है, अतएव राष्ट्रपति को अपने विवेक द्वारा कार्य करने का अवसर भी मुश्किल से ही आ पायेगा। अनिश्चित परिस्थियों में निर्णय की कुछ स्वतन्त्रता ब्रिटिश सम्राट् को भी प्राप्त है जो केवल नामधारी और संवैधानिक अध्यक्ष ही रह गया है। जहाँ तक अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति का प्रश्न है, सविधान मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से निर्देशित कर दिया गया है कि अन्य मन्त्रियो की नियुक्त राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर ही करेगा। इस विषय मे जो बात राष्ट्रपति को मनमानी करने से रोकती है, वह संवैधानिक नही है, बल्कि राजनीतिक है। यदि राष्ट्रपति सामान्य ससदीय परम्पराओं का अनुगमन नही करता तो उसके फलस्वरूप राजनीतिक संकट अवश्य उत्पन्न हो जायगा।

अब प्रश्न उठता है कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों को किसी भी दशा मे पदच्युत कर सकता है या नही। इस प्रश्न के उत्तर मे सबसे पहली चीज यह है कि राष्ट्रपति की शक्ति मन्त्रियों को पदच्युत करने के सम्बन्ध मे सर्वथा असंदिग्ध है। सविधान के अनुच्छेद ७५ (२) के अनुसार, 'राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त मन्त्री अपने पद धारण करेंगे।' फिर भी जब तक किसी प्रधान मन्त्री या मन्त्री को लोकसभा का विश्वास प्राप्त है तब तक राजनीतिक सकट से बचने के लिए राष्ट्रपति कभी उन्हे पदच्युत नही करेगा। इसी प्रकार वह किसी ऐसे मन्त्री को भी नही हटायेगा जिसे प्रधानमन्त्री का विश्वास प्राप्त होगा। इसमे सदेह नही कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर अवश्य ही किसी भी मन्त्री को हटा सकता है। किन्तु साधारणतः जिस मन्त्री का प्रधान-मन्त्री से मतभेद हो जाता है या जब कोई मन्त्री प्रधान मन्त्री की किसी नीति को स्वीकार नही कर पाता तो वह अपने आप ही त्याग पत्र दे देता है। और यदि विद्रोही मन्त्री त्यागपत्र न भी दे तो प्रधान मन्त्री स्वयं त्यागपत्र देकर पूरे मन्त्रिमण्डल को विघटित कर

सकता है और बाद में मन्त्रिमण्डल का पुनस्संघटन कर सकता है। पुनस्संघटन करते समय वह अवाछनीय मन्त्री को छोड़ सकता है। ऐसा करने से जिस मन्त्री से प्रधानमन्त्री का मतभेद होगा उसका साथ सम्मानपूर्ण ढग से अपने आप छूट जायगा। इसलिए इस बात की बहुत कम संभावना है कि राष्ट्रपति को मन्त्रियों को पदच्युत करने का अवसर कभी मिल पाये।

फिर भी, यह एक तथ्य है कि राष्ट्रपति एक प्रकार से सविधान का 'अभिभावक' (Guardiar) है। वह प्रतिज्ञाबद्ध है कि 'सविधान और विधि की रक्षा करेगा' अतएव यदि कोई राष्ट्रपति यह अनुभव करता है कि कोई प्रधान मन्त्री असंवैधानिक कार्य करने पर तुला हुआ है तो उसका यह अधिकार है कि वह उस प्रधान मन्त्री को हटा दे और ऐसी अवस्था मे प्रधानमन्त्री को पदच्युत करके वह सविधान की सीमाओं का अतिक्रमण करने का दोषी नही होगा। इस प्रकार की शक्ति के अधिकार का दावा ब्रिटिश सम्राट् भी करता है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि यह शक्ति सवैधानिकता की सीमा की वस्तु है और उसके प्रयोग का प्रश्न असाधारण परिस्थितियों में ही उत्पन्न हो सकता है।

अन्तिम और तीसरा यह है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणानुसार कार्य करने के लिए बाध्य है या नही। सविधान मे मन्त्रिपरिषद का कार्य केवल यही बतलाया गया है कि वह 'राष्ट्रपति को' अपने कृत्यों का सम्पादन करने मे सहायता और मन्त्रणा दे। वैधानिक दृष्टिकोण से इस अनुच्छेद में ऐसी कोई बात नही है जिसकी वजह से राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा स्वीकार कर तदनुसार कार्य करने के लिए बाध्य हो। लेकिन ससदीय शासन की व्यावहारिक आवश्यकताएँ ऐसी होती है जिनकी वजह से राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए लगभग बाध्य ही होता है। फिर भी राष्ट्रपति की कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जिनमे राष्ट्रपति से स्वाभावतः अपने विवेक द्वारा करने की आशा की जाती है। ऐसी शक्तियो मे सबसे पहली है राष्ट्रपति का दोनो सदनो द्वारा पारित किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस कर देने का अधिकार। इस प्रश्न पर हम राष्ट्रपति के सम्बन्ध मे विचार करते समय अपना मन्तव्य दे आये हैं। हमने समस्या पर पूरी तरह विचार करने के बाद यह परिणाम निकाला था कि इस शक्ति का प्रयोग भी राष्ट्रपति अन्त में मन्त्रिपरिषद की सलाह पर ही कर सकता है। दूसरे, यह कहा जाता है कि एक मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र दे देने के बाद और दूसरे मन्त्रिमण्डल के बनने तक के अन्तरिम काल में राष्ट्रपति कार्यपालिका की समस्त शक्ति का प्रयोग स्वयं कर सकता है क्योंकि संविधान मे यह किसी भी स्थल पर नही कहा गया है कि उत्तराधिकारी मन्त्रिमण्डल के आने तक पुराना मन्त्रिमण्डल ही कार्य करता रहेगा। लेकिन ब्रिटेन की ही भाँति भारत में भी यह परम्परा है कि यदि किसी मन्त्रि-

मण्डल के विरुद्ध विधान सभा में अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दिया जाता है तो वह तत्काल त्यागपत्र देकर पद छोड़ नहीं देता किन्तु कामचलाऊ मन्त्रिमण्डल के रूप में तब तक कार्य करता रहता है जब तक उत्तराधिकारी मन्त्रिमण्डल पद-भार संभालने के लिए तैयार हो कर नहीं आ जाता। अभी हाल ही में तिर्वाकुर कोचीन (Travancore-Cochin) में जब कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो गया और विधानसभा विघटित कर दी गई तो नये मन्त्रिमण्डल के आने तक पुराना कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ही कामचलाऊ मन्त्रिमण्डल' (Caretaker Government) के रूप में कार्य करता रहा। जो तिरवाकुर कोचीन में हुआ वही दृष्टान्त अन्य स्थानों में भी समान परिस्थितियाँ होने पर माना जायगा। तीसरी शंका विघटन के अधिकार के सम्बन्ध में उठायी जाती है। ब्रिटेन (सन् १९१० के लार्डसभा के सुधारों के सम्बन्ध में) और उपनिवेशों (कनाडा १९२३, और दक्षिण अफ्रीका १९३९ के दृष्टांतों के आधार पर कहा जाता है कि मन्त्रिमण्डल की सलाह पर राष्ट्रपति लोकसभा को विघटित करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता और यदि सम्भव हो तो वह दूसरी सरकार बनवाने के लिए प्रयत्न कर सकता है। लेकिन यह बड़ा ही विवादास्पद प्रश्न है। ब्रिटेन तक में जहाँ प्रधान मन्त्री के परामर्श के विरुद्ध संसद को विघटित न करने के अधिकार का प्रयोग सन् १८७४ के बाद से अभी तक नहीं किया गया है, यह कहा जाता है कि अभी यह अधिकार मृत नहीं है। फिर भी उस देश में प्रथा (Convention) यह बन गई है कि राजा को मंत्रिमण्डल द्वारा उचित रूप से दी गई संसद के विघटन की सलाह को न मानने का कोई अधिकार नहीं है। मान लीजिए कि यदि कोई लोकसभा सचमुच किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर सच्चे जनमत का प्रतिनिधित्व न करती हो तो मन्त्रिमण्डल के लिए यह उचित होगा कि वह राष्ट्रपति को प्रथम सदन को विघटित करने की मन्त्रणा दे और राष्ट्रपति को वह मन्त्रणा मानने से इन्कार नहीं करना चाहिए। लेकिन यदि कोई मन्त्रिमण्डल विघटन की मन्त्रणा देने के अधिकार का दुरुपयोग करता है तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह मन्त्रणा अस्वीकार कर दे।

उदाहरण के लिए, एक मंत्रिमण्डल किसी प्रस्ताव पर लोकसभा में पराजित कर दिया जाता है। वह त्यागपत्र देने के बजाय राष्ट्रपति को लोकसभा को विघटित करने की सलाह देता है। राष्ट्रपति उस सलाह को स्वीकार कर सदन विघटित कर देते हैं। नये सदन के आ जाने पर पुराने मन्त्रिमण्डल को उसी प्रस्ताव पर पुनः पराजित कर दिया जाता है। ऐसी अवस्था में यदि पुराना मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र न देकर नये सदन से पिण्ड छुड़ाने के लिए राष्ट्रपति से यह अनुरोध पुनः करता है कि नये सदन को फिर विघटित कर दिया जाय तो मन्त्रिमण्डल का यह परामर्श देना सरासर अनुचित होगा। ऐसी दशा में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह उस मन्त्रणा को अस्वीकार

कर दे। एक और भी ऐसी परिस्थिति हो सकती है जब कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की विघटन की माँग को न माने। वह यह है कि मन्त्रिमण्डल लोकसभा में केवल इसलिये पराजित हो गया हो कि उक्त सभा केवल प्रधान मन्त्री से किसी कारण असन्तुष्ट हो और पराजित मन्त्रिमण्डल के किसी अन्य सदस्य के प्रधानमन्त्रित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार हो। इस दशा में पूरे मन्त्रिमण्डल या सत्तारूढ़ दल के प्रति लोकसभा का अविश्वास न होकर केवल एक व्यक्ति (प्रधान मंत्री) के प्रति होता है, और उसे छोड़ दिया जाय, तो बिना विघटन किये ही पूर्ववत् काम चल सकता है। इस परिस्थिति में यदि वह पराजित प्रधानमन्त्री पद-लोलुपतावश राष्ट्रपति से विघटन की माँग करे, तो राष्ट्रपति उस अनुचित माग को निस्सन्देह अस्वीकार कर सकता है। यह बात अपनी जगह पर बिलकुल ठीक है लेकिन हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उक्त परिस्थितियों में ब्रिटेन तथा अन्य देशों में स्थापित प्रथाओं (Conventions) के अनुसार कोई भी प्रधानमन्त्री ऐसा अनुचित अनुरोध करेगा ही नहीं। अतः निष्कर्ष यह है कि राष्ट्रपति केवल उन्हीं परिस्थितियों में विघटन की मन्त्रणा को अस्वीकार कर सकता है जिन परिस्थितियों में ऐसी मन्त्रणा दी जाने की सम्भावना ही नहीं है।

अतः इन कुल बातों का परिणाम यह है—स्वविवेक की कुछ शक्तियाँ (जिन्हें ब्रिटेन के विशेषाधिकार (Prerogative) कहा जाता है) स्वभावतः हर देश के राज्य में अध्यक्ष को प्राप्त होती है। यही शक्तियाँ हमारे देश में राष्ट्रपति को भी प्राप्त हैं। लेकिन संसदीय शासन वाले देशों में ऐसी स्थिति नहीं रहती जिनमें उन शक्तियों का राज्य के अध्यक्ष द्वारा सामान्यतः प्रयोग किया जा सके। अतएव निर्णय यह है कि अद्भुत ही असाधारण (abnormal) परिस्थितियों को छोड़ कर, समान्यतः भारतीय राष्ट्रपति हर मामले में मन्त्रिपरिषद का परामर्श मानने के लिए बाध्य है। वे असाधारण परिस्थितियाँ सवैधानिकता की परिधि की सीमा पर ही उत्पन्न हो सकती हैं।

महान्यायवादी (Attorney-General)—महान्यायवादी भारत सरकार का मुख्य विधि अधिकारी (Chief Law Officer) होता है। उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा (व्यवहार में मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर) होती है और वह अपने पद पर राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त बना रहता है। महान्यायवादी के पद पर वही नियुक्त हो सकता है जिसमें उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश होने की योग्यता हो। राष्ट्रपति द्वारा रचित नियमों के अनुसार भारत के महान्यायवादी को चार सहस्र (४,००० रु०) मासिक वेतन और ३५० रुपया मासिक कार्यालय सम्बन्धी भत्ता मिलेगा।

उसके कर्त्तव्य हैं : (अ) भारत सरकार को ऐसे विधि सम्बन्धी विषयों पर मंत्रणा देना तथा विधि द्वारा नियत ऐसे दूसरे कर्त्तव्यों का पालन करना जो राष्ट्रपति उसे समय-

समय पर सौंपे। (आ) उच्चतम न्यायालय में भारत सरकार की ओर से सभी मामलों में उपस्थित हो कर पैरवी करना। (इ) संविधान के १४३वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति जिन कृत्यों के निर्वहन के लिए उससे कहे उनमें भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करना तथा (ई) उन कर्तव्यों का पालन करना जो संविधान या किसी सामयिक विधि के द्वारा उसे दिये जायें।

महान्यायवादी को निजी वकालत करते रहने से रोका नहीं गया है। लेकिन फिर भी उस पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगा दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं : (अ) उसे भारत सरकार के विरुद्ध लाये जाने वाले किसी मामले की मिसिलों पर अपनी राय नहीं देनी चाहिए, (आ) उसे ऐसा कोई मामला अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए और न उस पर राय देनी चाहिए जिसमें उसे भारत सरकार की ओर से पैरवी के लिए कहे जाने की सम्भावना हो; (इ) भारत सरकार की अनुमति बिना राज्य के विरुद्ध कृत्य करने वाले अपराधियों की रक्षा के लिए नहीं खड़ा होना चाहिए और (ई) किसी कम्पनी के संचालक (director) का पद बिना भारत सरकार की अनुमति के स्वीकार नहीं करना चाहिए।

भारत का महान्यायवादी सामान्यतः दिल्ली में रहता है। लेकिन उसे भारत सरकार की ओर से देश भर के किसी भी उच्च न्यायालय में पैरवी के लिए जाना पड़ सकता है। इसके अलावा अपने कृत्यों के निर्वहन के लिए भी उसे देश के किसी भाग की यात्रा करनी पड़ सकती है। सरकारी काम के लिए दिल्ली से बाहर जाने पर महान्यायवादी को विशेष फीस और निश्चित यात्रा-व्यय भी मिलता है।



संसद्
(The Parliament)

संसद की रचना—संघ के विधान मंडल को संसद (The Parliament) की संज्ञा दी गई है। संसद में राष्ट्रपति सहित दो सदन होते हैं—राज्य सभा और लोक-सभा। राष्ट्रपति किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता; तथापि वह संसद का अभिन्न अंग माना जाता है। राष्ट्रपति को संसद की कार्यवाई से सम्बन्धित कुछ निश्चित और महत्व-पूर्ण कृत्य करने पड़ते हैं।

राज्य-सभा (Council of State)

राज्य सभा की रचना—राज्य-सभा संसद का उच्च या द्वितीय सदन है। इसकी सदस्य-संख्या २५० से अधिक नहीं हो सकती। इनमें से १२ सदस्यों को राष्ट्र-पति नामांकित करता है। शेष सदस्यो का निर्वाचन राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य एकल संक्रमणीय मत (Single transferable Vote) द्वारा करते हैं। संघीय भू-भाग संसद द्वारा निर्दिष्ट विधि के अनुसार अपने प्रतिनिधि राज्य-सभा मे भेजते हैं।

राज्यो के राज्य-परिषद् में प्रतिनिधित्व की अधिकतम संख्या २३८ है लेकिन संविधान द्वारा इनमें से केवल २२१ प्रतिनिधियों का विभिन्न राज्यों और भू-भागों में वितरण किया गया है जो निम्नलिखित हैं—

राज्यों और संघीय भू-भागों के प्रतिनिधियों की संख्या

राज्यों और भू-भागों के नाम	राज्य-सभा में भेजे जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या
आंध्र	१८
आसाम	७
बिहार	२२
गुजरात	११
केरल	६
मध्य प्रदेश	१६

मद्रास	...	...	...	१७
महाराष्ट्र	...	...	...	१६
मैसूर	...	...	...	१२
उडीसा	...	...	...	१०
पंजाब	...	...	...	११
राजस्थान	...	...	...	१०
उत्तर प्रदेश	...	...	...	३४
पश्चिमी बंगाल	...	...	...	१६
जम्मू और काश्मीर	...	...	...	४
दिल्ली	...	...	...	३
हिमाचल प्रदेश	...	...	...	२
मणीपुर	...	...	...	१
त्रिपुरा	...	...	...	१
योग	...	...	...	२२३

१२ स्थानों की पूर्ति राष्ट्रपति के नामांकन (Nomination) द्वारा होती है। राष्ट्रपति साहित्य, विज्ञान, कला और समाजसेवा आदि क्षेत्रों के विशेषज्ञों तथा अनुभवी व्यक्तियों को नामांकित करता है।[1]

इस प्रकार राज्य-सभा मे इस समय २३२ सदस्य हैं; २२० राज्यों और भू भागों से निर्वाचित तथा १२ राष्ट्रपति द्वारा नामांकित।

राज्य सभा का कार्यकाल—राज्य सभा स्थायी सदन है। उसका विघटन नहीं हो सकता। तथापि उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार सदस्यों का कार्यकाल ६ वर्ष पड़ता है। पूरे सदन का किसी एक समय चुनाव नहीं होता। उसका आंशिक अभिनवीकरण (Renewal) परम्पराओं का सम्बन्ध बनाये रखता है। यह विशेषता प्रत्येक संघ राज्य के द्वितीय सदनों में बहुधा पाई जाती है।

राज्य-सभा के सदस्यों की योग्यताएँ—राज्य-सभा के सदस्यों को आवश्यक योग्यतायें हैं—

(क) सदस्यता का इच्छुक प्रत्येक उम्मीदवार, भारतीय नागरिक हो;

(ख) उसकी आयु ३० वर्ष से कम न हो; और

(ग) संसद अपनी विधि द्वारा जो भी अन्य योग्यतायें निश्चित करे, वे हों।

[1] अनु० ८० (३)

सन् १९५१ के जनप्रतिनिधित्व अधिनियम-संख्या ६३ के अनुसार राज्यों का (जम्मू और काश्मीर राज्य के अतिरिक्त) जो भी व्यक्ति राज्य-सभा की सदस्यता का आकांक्षी हो उसे अपने राज्य के किसी भी एक संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का मतदाता अवश्य होना चाहिए।

राज्य-सभा के सदस्यों के लिए निम्नलिखित अनर्हताओं (Disqualifications) से मुक्त होना आवश्यक है, अर्थात्

(क) उम्मीदवार को भारत सरकार या किसी राज्य के अन्तर्गत लाभ का पद ग्रहण किये न होना चाहिए पर मंत्रि-पद तथा संसदकी विधि द्वारा उन्मुक्त अन्य पदों के विषय में यह प्रतिबन्ध लागू नहीं होता,

(ख) उसे उन्माद या किसी अन्य प्रकार के मनोवैकल्य से पीड़ित न होना चाहिए,

(ग) वह अनुन्मुक्त दिवालिया (Undischarged Bankrupt) भी न हो;

(घ) विदेशी हो, न और

(ङ) संसद की किसी भी विधि द्वारा अयोग्य न ठहराया गया हो।

राज्य-सभा का सभापति (The Chairman of the Council of State)—भारत का उपराष्ट्रपति (The Vice President) राज्य-सभा का पदेन सभापति होता है। इसके अतिरिक्त राज्य सभा के सदस्यों में से ही एक उपसभापति (The Deputy Chairman) भी चुना जाता है।[1] उपसभापति को राज्य सभा सामान्य बहुमत से एक प्रस्ताव पारित कर पद से हटा सकती है। सभापति (उपराष्ट्रपति) को हटाने की प्रक्रिया का हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं।

सभापति (अर्थात् उपराष्ट्रपति) वैधानिक दृष्टि से राज्य सभा का सदस्य नहीं होता। उसे मत देने का अधिकार नहीं होता लेकिन यदि ग्रंथि (tie) पड़ जाय तो वह निर्णायक मत दे सकता है। सभापति उस अवस्था में निर्णायक मत भी नहीं दे सकता जब उसके अपदस्थ करने के प्रस्ताव पर ही ग्रंथि पड़ गयी हो।[2] सामान्यतः राज्य सभा की बैठकों का सभापतित्व वही करता है। लेकिन यदि उसके हटाने का प्रस्ताव सदन के विचाराधीन हो तो नहीं। यदि किसी कारण सभापति अनुपस्थित हो तो उपसभापति सदन की बैठक का सभापतित्व करता है लेकिन उपसभापति ऐसी अवस्था में सभापतित्व नहीं कर सकता, यदि उसी के हटाये जाने के प्रस्ताव पर विचार किया जा रहा हो। यदि सभापति और उपसभापति दोनों के पद रिक्त हों तो सभापति के कृत्य सदन का वह सदस्य सम्पादित करता है जिसे राष्ट्रपति इस कार्य के लिए नियुक्त कर दे।

---

[1] अनु० ८९, [2] अनु० १०० और ९२ (२)

यदि किसी आकस्मिक कारणवश सभापति और उपसभापति दोनों ही अनुपस्थित हों तो उस अवसर के लिए राज्य-सभा अपने सदस्यों में से ही किसी को सभापति चुन लेती है। यदि उपराष्ट्रपति को भारत के राष्ट्रपति का स्थानापन्न बनना पड़ता है तो वह राज्य-सभा का सभापतित्व नहीं कर सकता।

राज्य-सभा के सभापति और उपसभापति को वे समस्त अधिकार होते हैं जो विधान मण्डलों के अध्यक्षों को सामान्यतः प्राप्त रहते हैं; यथा—सदस्यों को भाषण देने की अनुमति देना, कार्य-प्रणाली सम्बन्धी प्रश्नों को तय करना, वाद-विवाद को सुसंगत बनाये रखने का दायित्व, विचाराधीन प्रश्न को मतदान के लिए रखना, उस पर मत लेना, और मतदान का फल घोषित करना इत्यादि। दोनों को ही संसद द्वारा निश्चित वेतन और भत्ता मिलता है।[1]

गणपूर्ति (The Quorum)—यदि राज्य-सभा के कुल सदस्यों के १/१० सदस्य बैठक में उपस्थित हों तो उसकी गणपूर्ति हो जाती है।

राज्य-सभा की शक्तियाँ

राज्य सभा की शक्तियों को हम पाँच वर्गों में बाँट सकते हैं अर्थात् (१) विधायिनी, (२) वित्तीय, (३) संवैधानिक, (४) प्रशासकीय और (५) विविध।

विधायिनी शक्तियाँ (The Legislative Powers)—जहाँ तक विधायिनी शक्तियों का सम्बन्ध है राज्य-सभा में धन विधेयक को छोड़कर अन्य कोई भी विधेयक उपस्थित किया जा सकता है। कोई विधेयक तभी विधि बन सकता है जब वह दोनों सदनों में पारित हो जाय।[2] यदि दोनों सदनो मे किसी विधेयक के सम्बन्ध मे किसी समय मतभेद उत्पन्न हो जाय तो राष्ट्रपति (The President) को अधिकार है कि वह उभय सदनो की संयुक्त बैठक बुला ले। इस संयुक्त बैठक में दोनों सदनो के सदस्यों के बहुमत से जो भी निर्णय हो जाय वही अंतिम निर्णय समझा जायगा।[3] इस प्रक्रिया (Procedure) मे इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि मतभेदवाला विधेयक किस सदन मे सर्वप्रथम उपस्थित किया गया था या मतभेद के लिए प्रथम सदन उत्तरदायी था या द्वितीय। अतः औपचारिक दृष्टि से इस मामले मे दोनो सदन समान स्तर पर हैं। लेकिन वस्तुतः दो दृष्टियो से राज्य सभा की स्थिति निर्बल है। पहली बात तो यह है कि उभय सदनो का संयुक्त अधिवेशन आयोजित करने की शक्ति केवल राष्ट्रपति को है। ऐसा हो सकता है कि कोई विधेयक राज्य-सभा द्वारा पारित और लोक सभा द्वारा अस्वीकृत हो जाय तो मन्त्रिमण्डल उक्त विधेयक के लिए संयुक्त अधिवेशन बुलाना ठीक न समझे और राष्ट्रपति को संयुक्त अधिवेशन, आयोजित करने की सलाह न दे। दूसरे,

---

[1]अनु० ९७ और दूसरी अनुसूची, [2]अनु० १२७ (१) और (२), [3]अनु० १०८

राज्य-सभा में २१६ सदस्य हैं और लोक-सभा में ४९९। अतः लोकसभा के सदस्यों की संख्या राज-सभा की सदस्य-संख्या से दुगनी है। ऐसी दशा में जब तक लोकसभा में ही तीव्र आंतरिक मतभेद न हो तब तक इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि राज्य-सभा लोकसभा का विरोध करके जीत सके। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से लोकसभा के लिए द्वितीय सदन के विरोधी को परास्त कर देना बड़ा ही आसान है। राज्य-सभा किसी विधेयक को पारित करने में अधिक से अधिक ६ मास विलम्ब कर सकती है। वह लोक-सभा द्वारा इच्छित विधेयक के पारित होने में स्थायी बाधा नहीं डाल सकती।

जब दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन होता है, तब लोकसभा का अध्यक्ष ही उस बैठक की अध्यक्षता करता है। संयुक्त अधिवेशन विधेयक के किसी भी एक सदन द्वारा पारित और दूसरे द्वारा अस्वीकृत होते ही बुलाया जा सकता है। यदि किसी एक सदन द्वारा पारित विधेयक पर दूसरा सदन छः मास तक कोई कार्रवाई नहीं करता तो ऐसी दशा में भी संयुक्त अधिवेशन बुलाया जा सकता है।

वित्तीय शक्तियाँ (The Financial Powers)—वित्तीय विषयों में राज्य-सभा लगभग बिल्कुल शक्तिहीन है। धन विधेयक केवल लोकसभा में ही उपस्थित किया जा सकता है। लोकसभा में पारित होने के बाद वह राज्य-सभा के पास भेजा जाता है जिससे वह उस विधेयक के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट कर सके। यह कार्य राज्य-सभा को १४ दिन के भीतर कर डालना पड़ता है। यदि राज्य-सभा ऐसा नहीं करती तो लोकसभा द्वारा पारित विधेयक ही विधि (Law) बन जाता है। यदि धन विधेयक के सम्बन्ध में राज्य-सभा लोकसभा से कुछ सिफारिशें करती है तो लोकसभा उन सिफारिशों को स्वीकार करने या अस्वीकार करने के मामले में भी बिल्कुल स्वतंत्र है। वह चाहे उन्हें माने, चाहे न माने।[1] अतएव, लोकसभा वित्तीय मामलों में सर्वोच्च है। राज्य सभा को केवल सूचना पाने और सुझाव देने का ही अधिकार है।

संविधान में संशोधन करने की शक्तियाँ—राज्य-सभा को संवैधानिक संशोधनों के क्षेत्र में लोकसभा की भाँति ही समान अधिकार प्राप्त हैं। संविधान में संशोधन तभी किया जा सकता है जब संशोधन-विधेयक प्रत्येक सदन की सदस्य-संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित हो जाय। संविधान में संशोधन करने वाला विधेयक पहले राज्य-सभा में भी उपस्थित किया जा सकता है तथापि यह स्पष्ट नहीं है कि यदि किसी संशोधन के सम्बन्ध में दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाय तो उसे दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन द्वारा दूर किया जा सकता है या नहीं। यदि ऐसा किया जा सकता है तो जिस प्रकार राज्य-सभा की विधा-

[1] अनु० १०९

विनी शक्तियाँ खोखली हैं उसी प्रकार उसकी संविधान में संशोधन करने की शक्तियाँ भी अशक्त सिद्ध होगी। परन्तु अब इस समस्या का प्रामाणिक निर्णय उच्चतम न्यायालय द्वारा शंकरी प्रसाद बनाम भारतीय संघ के मामले में निर्णय कर दिया गया है। इस निर्णय के अनुसार संविधान में संशोधन की प्रक्रिया (Procedure) विधायिनी प्रक्रिया (Legislative Procedure) ही है। इसलिए जहाँ तक सम्भव होगा संवैधानिक संशोधनों के मामले में भी विधिनिर्णय की प्रक्रिया के नियमों का ही पालन किया जायगा। इसे दृष्टि में रखते हुए यदि किसी संवैधानिक संशोधन के मामले में संसद के दोनों सदनों में मतभेद हो जाता है तो वह भी उसी प्रकार दूर किया जायगा जिस प्रकार सामान्य विधेयकों सम्बन्धी मतभेदों को दोनों सदनों की संयुक्त बैठक द्वारा दूर किया जाता है।

प्रशासकीय शक्तियाँ (Administrative Powers)—यद्यपि मन्त्रि-मंडल राज्य-सभा के प्रति उत्तरदायी न हो कर केवल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है फिर भी राज्य सभा प्रश्नों, काम रोकने के प्रस्तावों, वादविवादों आदि द्वारा लोकसभा की ही भाँति मन्त्रिमंडल पर अपना नियंत्रण रख सकती है। मन्त्रिमंडल के सदस्य तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपरिषद के सदस्यों में से भी हो सकती हैं। भूतपूर्व प्रतिरक्षा मन्त्री स्वर्गीय श्री गोपालस्वामी आयंगर इसी सदन के सदस्य थे और अब वर्तमान विधि मन्त्री तथा कुछ संसदीय सचिव इसी सदन के सदस्य हैं। राज्य-सभा से कितने मन्त्री सदस्य बनाये जायँगे इसकी कोई संख्या निश्चित नहीं है।

विविध शक्तियाँ—जहाँ तक विविध शक्तियों का सम्बन्ध है, इनमें सबसे पहली शक्ति तो यह है कि राज्य-सभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।[१] दूसरे, राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाने, उनकी जाँच करने तथा उनके सम्बन्ध में निर्णय करने का राज्य-सभा को भी उतना ही अधिकार है जितना लोकसभा को।[२] इस मामले में दोनों समान हैं। तीसरे, उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को तभी हटाया जा सकता है जब वैसा करने की प्रार्थना लोकसभा के साथ राज्य सभा द्वारा भी की जाय।[३] चौथे राज्य-सभा दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके संसद को राज्य सूची के किसी विषय पर विवेचन का अधिकार दे सकती है। किन्तु ऐसा करने का अधिकार (authority) एक बार में केवल एक वर्ष के लिए ही दिया जा सकता है।[४] राष्ट्रपति संविधान की आपत्कालीन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत जो भी उद्घोषणाएँ करता है उनका प्रथम सदन के साथ ही राज्य-सभा द्वारा अनुमोदन किया जाना आवश्यक है।[५]

[१] अनु० ५५, [२] अनु० ६१, [३] अनु० १२४ (क) और २१७, [४] अनु० २४९
[५] अनु० ३५२ और ३६०

राज्य-सभा की स्थिति का सिंहावलोकन—सामान्यतः संघीय व्यवस्था में द्वितीय सदन मे राज्यों या एककों (units) को समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व देने की परम्परा है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैंड आदि सभी देशों में प्रत्येक राज्य या कैण्टन को द्वितीय सदन या सिनेट मे समान प्रतिनिधित्व दिया गया है, चाहे उसकी जनसख्या या क्षेत्रफल छोटा हो या बड़ा। हमारे देश की राज्य-सभा में राज्यों के आधार पर तो प्रतिनिधि रखे गये हैं लेकिन समानता का सिद्धात नही माना गया है। जिस प्रकार प्रथम सदन मे जनसंख्या प्रतिनिधित्व का आधारभूत सिद्धात मानी गई है ठीक उसी प्रकार द्वितीय सदन मे प्रतिनिधित्व का आधार जनसख्या ही है। इस क्षेत्र मे भारतीय सविधान ने कनाडा के संविधान का अनुकरण किया है। निस्सन्देह, ऐसा करने के कुछ कारण भी थे। भारतीय सङ्घ के बहुत से एकक (units) छोटे है और यदि समान प्रतिनिधित्व का सिद्धात माना जाता तो छोटे एककों की कुल प्रतिनिधियों की सख्या मिलकर उचित से अधिक हो जाती। राज्य-सभा के सदस्य राष्ट्रपति का निर्वाचन भी करते हैं। इसलिए समान प्रतिनिधित्व का अर्थ होता है राष्ट्रपति के निर्वाचन के जनसंख्या-आधार का अस्तव्यस्त हो जाना। परन्तु चाहे जो ऐसा करने के कारण रहे हो, भारतीय राज्य सभा मे राज्यो के समान प्रतिनिधित्व न होने के कारण सङ्घीय व्यवस्था में राज्यो को मिलने वाला एक बहुमूल्य अधिकार छिन गया।

दूसरे, राज्य सभा का अप्रत्यक्ष निर्वाचन होता है। राज्य सभा के सदस्यो को राज्य-विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य और निर्वाचक मण्डल (Electoral colleges) चुनते हैं। इस निर्वाचन-पद्धति का यह फल होता है कि सङ्घ की राजनीति मे राज्य-विधान सभाये भी घसीट ली जाती हैं। फलतः बीच-बीच मे (जब भी वे राज्य-सभा के लिए सदस्य निर्वाचित करती हैं) उन्हे अपने सामान्य और दैनिक कर्तव्यो तथा कार्यों को छोड़कर इधर ध्यान देना पड़ता है। यही कारण है कि बाद मे सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इस पद्धति का परित्याग कर दिया गया और सीनेट के सदस्यो का निर्वाचन प्रत्यक्ष (direct) होने लगा। सन् १९४८-४९ मे उत्तर प्रदेश विधान सभा की कांग्रेस पार्टी मे अस्थायी संसद के सदस्यों के निर्वाचन को लेकर घोर विवाद उठ खड़ा हुआ था। यह घटना इस बात की ओर सकेत करती है कि राज्य विधान सभाओ द्वारा सङ्घीय प्राधिकारियो या ससद-सदनो का चुनाव कितनी बड़ी उलझनो को पैदा होने का मौका दे सकता है।

अंतिम और तीसरी बात यह है कि शक्तियो की दृष्टि से राज्य-सभा संसार का कदाचित निर्बलतम द्वितीय सदन है। वित्तीय मामलो में वह बिल्कुल शक्तिहीन है और सामान्य विधेयक में भी वह थोड़ा विलम्बमात्र कर सकती है। उसकी संविधान संशोधन शक्तियाँ भी इसी स्तर की हैं। राज्य-सभा कोई भी कार्यपालिका या न्याय-

पालिका सम्बन्धी महत्वपूर्ण कृत्य सम्पादित नहीं करती। उसे राज्यों का प्रतिनिधि भी कहना कठिन है और वह राज्यों के हितों की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ है। राज्य-सभा का यदि कोई महत्वपूर्ण दिखलाई पड़ने वाला कृत्य है तो वह एक है। जिस समय लोकसभा विघटित रहती है, उस समय वह राष्ट्रपति की आपद् संबंधी उद्घोषणाओं का अनुमोदन करके उसे प्रतीकात्मक लोक-सहमति प्रदान करती है। राज्य-सभा को यदि बिल्कुल हटा दिया जाय तो संविधान के अनुसार दैनिक कार्य के सम्पादन में कोई अन्तर न आयेगा।

सचाई यह है कि जिन द्वितीय सदनों को हमारे यहां की राज्य-सभा से अधिक शक्ति देकर संगठित किया गया, वे भी उन उद्देश्यों की पूर्ति न कर सके जिनके लिए उनकी रचना की गई थी। हमारे देश की राज्य-सभा द्विसदनात्मक संसद के आधुनिक फैशन की पूर्तिमात्र है। हमारे संविधान में द्वितीय सदन को इसलिए स्थान दिया गया है जिससे वह अन्य देशों के समान ही प्रतीत हो। हो सकता है कि राज्य-सभा हमारे संविधान का एक अलंकार मात्र बनी रह जाय। ऐसा हुआ तो किसी को आश्चर्य न होगा। इसका कारण भी है और वह है कि हमारे देश में द्वितीय सदन की बहुत अधिक प्रतिष्ठा कभी भी नहीं रही है।

राज्य-सभा की स्थापना हुए अभी थोड़ा ही काल व्यतीत हुआ है, लेकिन इस बीच में अभी तक ऐसा कोई अवसर ही नहीं आया जब उसने किसी विधेयक या विषय के सम्बन्ध में लोकसभा से अपना अन्तिम मतभेद प्रकट किया हो। तथापि राज्य-सभा ने अपनी प्रतिष्ठा तथा अधिकारों के प्रति सतर्कता दिखलायी है। सदन की प्रतिष्ठा के प्रश्न को लेकर राज्य-सभा दो बार लोकसभा से लगभग लड़ ही पड़ी। एक बार राज्य-सभा में कही गई एक बात के विषय में उत्पन्न गलतफहमी को स्पष्ट करने के लिए लोकसभा ने विधि मंत्री को अपने समक्ष उपस्थित होने के लिए कहा; किन्तु राज्य-सभा ने (वे राज्य-सभा के ही सदस्य थे) उन्हें लोकसभा के समक्ष उपस्थित होने से रोक दिया। दूसरा संघर्ष उस समय हुआ जब लोकसभा ने राज्य-सभा से यह अनुरोध किया कि वह लोक-लेखा समिति (Public Accounts Committee) के लिए अपने सात प्रतिनिधि निर्वाचित कर भेज दे। राज्य-सभा ने लोक-लेखा समिति में अपने सदस्य भेजने में इस कारण अनिच्छा प्रकट की कि वह समिति संसदीय समिति नहीं किन्तु एकमात्र लोकसभा की समिति है। अतः यह प्रतिष्ठानुकूल नहीं समझा गया कि राज्य-सभा अपने प्रतिनिधि उस समिति में भेजे। लेकिन प्रधान मन्त्री और राज्य-सभा के सभापति की मध्यस्थता के द्वारा ये मतभेद जल्दी ही दूर कर दिये गये। निर्बल व्यक्तियों की ही तरह हमारी राज्य परिषद् तुनक-मिजाज है।

लोकसभा

(The House of The People)

संगठन—लोकसभा में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गये अधिक-से-अधिक ५०० सदस्य हो सकते हैं। इनको राज्यों के निर्वाचक प्रत्यक्ष मतदान द्वारा निर्वाचित करते हैं। विभिन्न राज्यो से लोकसभा के सदस्य जनसंख्या के आधार पर निर्वाचित होते हैं। हर सदस्य अधिक-से-अधिक ५ लाख तक निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व करता है। उक्त आधार न केवल विभिन्न राज्यों किन्तु प्रत्येक राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में भी समान ही होना चाहिये। दूसरे शब्दों में गत जनगणना के अनुसार जनसंख्या के जिस अनुपात से किसी एक निर्वाचन क्षेत्र में सदस्य रहें वही अनुपात समस्त भारत के निर्वाचन क्षेत्रों में भी रहना चाहिये। अतएव संसद द्वारा नियुक्त एक प्राधिकारी प्रत्येक जनगणना के बाद निर्वाचन क्षेत्रों की सीमाओं मे आवश्यक परिवर्तन करता है।[1] पर ये परिवर्तन तत्कालीन लोकसभा के विघटन के बाद ही कार्यान्वित होते हैं।

लोकसभा में आसाम के आदिम जाति-क्षेत्रों की अनुसूचित आदिम जातियो को छोड़कर सभी अनुसूचित जातियो, अनुसूचित आदिम जातियों तथा आसाम के स्वायत्त-शासी जिलो की अनुसूचित आदिम जातियों के लिए जनसख्या के आधार पर स्थान सुरक्षित हैं। राष्ट्रपति यदि यह अनुभव करें कि लोकसभा में ऐंगलो-इण्डियन समाज का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही है तो वे उस समाज के अधिक-से-अधिक दो प्रतिनिधियों को नामांकित कर सकते हैं।[2] ये समस्त संरक्षण (आसाम के आदिम जाति क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्यत्र) संविधान के उद्घाटन की तिथि से दस वर्ष बाद स्वयमेव समाप्त हो जायँगे।[3]

यद्यपि लोकसभा के अधिकांश सदस्य निर्वाचित होते हैं लेकिन उनमें थोडे से नामांकित सदस्य भी हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त अधिक से अधिक २० प्रतिनिधि संघीय भू-भागों (Union Territories) और उत्तरी-पूर्वी सीमा क्षेत्र तथा नागा आदिम जाति क्षेत्र से आ सकते हैं। इनका चुनाव संसद द्वारा अधिनियमित विधि से होता है। सङ्घीय भू-भागों से प्रतिनिधित्व के लिए संसद ऐसी भी रीति निश्चित कर सकती है जो निर्वाचन से भिन्न हो। इसके अतिरिक्त संसद में ऐंगलो-इण्डियनों के भी नामांकित सदस्य हो सकते हैं।

राज्य पुनर्गठन के उपरात लोकसभा में राज्यों तथा सङ्घीय भू-भागो के प्रतिनिधित्व का निर्धारण इस प्रकार से किया गया है—[4]

---

[1] अनु० ८१, [2] अनु० ३३१, [3] अनु० ३३४, [4] राज्य पुनर्गठन कानून १९५६ धारा ४० तथा तीसरी अनुसूची।

राज्य—	लोकसभा में निर्धारित सदस्यों की संख्या
आन्ध्र प्रदेश	४३
आसाम	१२ (उत्तरी पूर्वी सीमा के जन-जाति क्षेत्र तथा नागा क्षेत्रों को छोड कर)
बिहार	५३
गुजरात	२२
केरल	१८
मध्य प्रदेश	३६
मद्रास	४१
महाराष्ट्र	४४
मैसूर	२६
उडीसा	२०
पंजाब	२२
राजस्थान	२२
उत्तर प्रदेश	८६
पश्चिमी बंगाल	३६
जम्मू और काश्मीर	६
राज्यों का योग	४८७
संघीय भू-भाग	
दिल्ली	५
हिमाचल प्रदेश	४
मनीपुर	२
त्रिपुरा	२
भू भागों का योग	१३
पूर्ण योग	५००
राष्ट्रपति द्वारा नामाङ्कित ऐंगलो इंडियन	२
आसाम के अनुसूचित क्षेत्रों व जातियाँ	१
अंडमान निकोबार	१
लकाद्वीप मिनीकाय	१
योग	५
लोकसभा के सदस्यों का पूर्णयोग =	५०५

१९५७ के आम चुनाव के उपरांत राज्यों और चार केन्द्रीय भू-भागों के प्रतिनिधियों को मिलाकर कुल ५०० सदस्य थे, और राष्ट्रपति द्वारा नामांकित ५। इस प्रकार लोक सभा के कुल सदस्यों की संख्या ५०५ थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है। लोकसभा की अधिकतम सदस्य-संख्या ५२० तक हो सकती है। इस समय राज्यों के सदस्यों की संख्या इस अधिकतम से १३ कम तथा संघीय भू-भागो की प्रतिनिधि संख्या उससे ४ कम है।

निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन (Delimitation)—प्रत्येक राज्य राष्ट्रपति के आदेशानुसार विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाता है। ये निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्यीय भी होते है और द्वि अथवा बहु सदस्यीय भी हैं। राज्यो के प्रतिनिधि इन्ही निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते हैं। अनुसूचित जातियों और आदिम जातियो के लिए प्रत्येक राज्य मे कितने स्थान सुरक्षित रहेंगे, इसका निर्णय भी राष्ट्रपति ही परिसीमन आदेश द्वारा करता है।[1] राष्ट्रपति के ये आदेश आयोग के प्रस्तावो पर आधारित होते हैं।

अधिकाश संसदीय निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्यीय (Single membered) ही हैं, किन्तु अनुसूचित और आदिम जातियो के प्रतिनिधियों के लिए स्थान सुरक्षित करने के लिए कुछ निर्वाचन क्षेत्रो को द्वि-सदस्यीय या बहु सदस्यीय भी बना दिया गया है।

हर जनगणना के बाद निर्वाचन क्षेत्रो का नया परिसीमन होता है क्योकि लोक-सभा के सदस्यो की संख्या तो निश्चित और स्थिर है, लेकिन जनसंख्या बराबर बढती जाती है। इसलिए हर जनगणना के बाद प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र मे परिवर्तन होने अवश्यम्भावी हैं। सन् १९५१ की जनगणना के बाद संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों मे आवश्यक परिवर्तन करने के लिए संसद ने सन् १९५२ में परिसीमन आयोग अधिनियम (संख्या ८१) पारित किया। यह अधिनियम भी राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ की ४० से ४८ धाराओं द्वारा तिरोहित हो गया। अब निर्वाचन क्षेत्रो का परिसीमन राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ की उक्त धाराओं द्वारा ही नियमित होता है। इसके अनुसार तीन सदस्यों के एक आयोग की नियुक्ति हुई जिनमे दो केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त उच्चतम या उच्च न्यायालयों के अवकाशप्राप्त न्यायाधीश होने आवश्यक तथा तीसरा सदस्य है निर्वाचन आयुक्त (Election Commissioner) जो पदेन होता है। यह आयोग प्रत्येक राज्य के ऐसे व्यक्ति अपने सदस्य बनाता है जो या तो संसद में उसके प्रतिनिधि हो या उस राज्य की विधान सभा के सदस्य और जो केन्द्रीय सरकार द्वारा इस कार्य के

[1] वही विभाग ६

लिए निर्दिष्ट किये जायें। प्रत्येक राज्य के संसदीय प्रतिनिधियों को इस आयोग के लिए लोकसभा का अध्यक्ष चुनता है, और विधान सभा के सदस्य-प्रतिनिधि विधान सभा का अध्यक्ष। इस आयोग का यह कर्तव्य है कि वह विभिन्न राज्यों के संसदीय और विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्रों में आवश्यक परिवर्तन करे।

इस व्यवस्था के फलस्वरूप, प्रत्येक जनगणना के बाद प्रत्येक राज्य के संसद् सदस्यों की संख्या उस राज्य की जनसंख्या के समस्त देश की जनसंख्या के अनुपातानुसार बदलती रहेगी।

मताधिकार तथा लोकसभा के सदस्यों की योग्यताएँ (Qualifications)—लोकसभा के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन होते हैं। ऐसा कोई भी नागरिक जिसकी आयु २१ वर्ष से कम नहीं है, मतदाता बन सकता है। यदि वह अन्य अयोग्यताओं (disqualifications) से मुक्त हो और जिस निर्वाचन क्षेत्र से उसे मतदाता बनना हो उसमें कम से कम पिछले १८० दिनों तक साधारणतया रह चुका हो। विदेशी होना, पागल होना, अपराधी होना, चुनाव सम्बन्धी भ्रष्टाचार या किसी विधि-विरुद्ध कार्य का दोषी होना तथा मतदाता बनने के लिए आवश्यक निवास सम्बन्धी शर्तें पूरी न करना आदि बातें अनर्हतायें (disqualifications) हैं। विधान मंडल इन अनर्हताओं का और भी विनियमन कर सकते हैं। राज्य विधानमंडलों और लोकसभा दोनों के लिए ही निर्वाचक सूची होती है। किसी भी व्यक्ति को धर्म, जाति, वर्ण या लिंग के आधार पर मताधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।[१] स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति ही मतदाता मानी जाती हैं। अनुमान है कि गत १६५१-५२ के निर्वाचन में कुल १७ करोड़ ६० लाख निर्वाचक थे। इनमें से लगभग आधे पुरुष थे और आधी स्त्रियाँ। १६५२ ई० के उपरान्त प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की निर्वाचक सूची प्रति वर्ष संशोधित की जायगी, चाहे निर्वाचन होना हो या नहीं।

लोकसभा की सदस्यता के उम्मीदवार भारत के नागरिक होने चाहिए। उनकी आयु २५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए और उनमें वे अन्य योग्यतायें (Qualifications) भी होनी चाहिए जो संसद ने अपनी किसी विधि द्वारा निश्चित की हों।[२] कोई भी व्यक्ति संसद के दोनों सदनों अथवा संसद के किसी सदन और किसी राज्य विधान मंडल का एक साथ सदस्य नहीं हो सकता।[३] लोक सभा की सदस्यता के लिए खड़े होनेवाले उम्मीदवार के लिए निम्नलिखित अनर्हतायें (*disqualifications*) हैं—[४]

---

[१]अनु० ३२५ और ३२६; [२]अनु० ८४, [३]अनु० १०१ (१) और (२), [४]अनु० १०२

(क) मन्त्रिपरिषद तथा संसद की किसी विधि द्वारा मुक्त अन्य पदों को छोड़ कर भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत किसी लाभ के पद पर आसीन होना[1], या

(ख) किसी भी अधिकारपूर्ण न्यायालय द्वारा पागल घोषित किया जाना; या

(ग) अनुन्मुक्त दिवालिया होना, या

(घ) विदेशी होना, या

(ङ) संसद-निर्मित किसी विधि के अनुसार अयोग्य होना (disqualified)।

निर्वाचन (The Elections) :—यद्यपि अनुसूचित और आदिम जातियों को लोक सभा में १० वर्षों तक प्रतिनिधित्व का संरक्षण प्राप्त है, तथापि लोकसभा के निर्वाचन संयुक्त निर्वाचन पद्धति (Joint Electorate) द्वारा ही होते हैं।[2] निर्वाचन का आधार समय पर संशोधित सन् १९५१ का जन प्रतिनिधित्व अधिनियम है।

निर्वाचन आयोग (The Election Commission)—संसद द्वारा निर्मित विधि की व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक निर्वाचन आयोग में निर्वाचन सम्बन्धी समस्त कार्यों का अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण करता है। इस आयोग में एक मुख्य आयुक्त (Chief Commissioned) और राष्ट्रपति द्वारा निश्चित संख्या में अन्य आयुक्त भी हो सकते हैं। मुख्य आयुक्त को उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों ही की भाँति उसके पद से तब तक नहीं हटाया जा सकता जब तक संसद के दोनों सदन संयुक्त रूप से एक प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति से इस आशय का अनुरोध न करें। अन्य आयुक्तों को भी तभी हटाया जा सकता है जब मुख्य आयुक्त राष्ट्रपति से उन्हें हटाने का अनुरोध करे। इस प्रकार निर्वाचन आयोग लगभग बिलकुल स्वतन्त्र (Independent body) है। इस आयोग के सुपुर्द न केवल संसदीय निर्वाचनों की देखभाल की गई है, अपितु उसको राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और राज्य-विधान सभाओं के निर्वाचनों के सम्पन्न कराने का भार भी सौंपा गया है। निर्वाचन आयोग को कर्तव्य-पालन में सहायता देने के लिए राष्ट्रपति पर्याप्त संख्या में क्षेत्रीय आयुक्तक (Regional Commissioners) भी नियुक्त कर सकता है। यह आयोग राष्ट्रपति या राज्यपालों से अपने लिए आवश्यक कर्मचारियों की माँग कर सकता है।[3] अभी तक निर्वाचन-आयोग में केवल एक ही सदस्य है और वह है मुख्य आयुक्त।

निर्वाचन आयोग के कार्य—निर्वाचन आयोग (Election Commission) के कार्य चार प्रकार के हैं। उसका पहला काम यह है कि वह संसदीय और

[1]अब उपमंत्रियों के संसदीय सचिवों और राज्य मन्त्रियों के पद भी मुक्त हो गये हैं। [2]अनु० ३२७, [3]अनु० ३२४ (१)

राज्य-विधानमण्डलीय निर्वाचकों की सूची तैयार कराये। यह सूची संविधान और इस सम्बन्ध में संसद द्वारा निर्मित विधियों की व्यवस्थाओं के अनुसार बनाई जाती है। दूसरे, संविधान और निर्वाचन सम्बन्धी विधियों के अनुसार संसद, राज्य विधानमंडलों, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बन्धी समस्त मामलों का अधीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण निर्वाचन आयोग का ही कर्तव्य है। तीसरे, निर्वाचन आयोग का यह भी कार्य है कि वह निर्वाचन से सम्बन्धित संदिग्ध और विवादास्पद मामलों का निर्णय करने के लिए निर्वाचन न्यायाधिकरणों (Election Tribunals) की नियुक्तियाँ करे। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बन्धी विवादों का निर्णय इन न्यायाधिकरणों द्वारा नहीं, किन्तु उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाता है। आयोग का चौथा और अन्तिम कृत्य यह है कि वह राष्ट्रपति, राज्यपालों और राज्यप्रमुखों को (जैसी भी स्थिति हो) संसद या विधान मंडलों के सदस्यों की अनर्हताओं के सम्बन्ध में संविधान के १०३ (२) और १९२ (२) अनुच्छेदों के अनुसार परामर्श देता है। उक्त अनुच्छेद इन विभिन्न शासनाध्यक्षों को संसद या राज्य विधान मंडलों के सदस्यों की अनर्हताओं (disqualifications) के सम्बन्ध में उत्पन्न किसी भी संदेह या विवाद के बारे में अंतिम निर्णय का अधिकार देते हैं।

निर्वाचन विवाद (The Election Disputes)—लोकसभा (तथा राज्य-विधान मंडलों के भी) निर्वाचन संबंधी विवादों का निपटारा निर्वाचन आयोग द्वारा नियुक्त न्यायाधिकरणों द्वारा होता है।[1] इन न्यायाधिकरणों के निर्णय अंतिम होते हैं। इन निर्णयों की अपील उच्चतम न्यायालय के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं की जा सकती और उच्चतम न्यायालय में भी उसकी विशेष अनुमति (Special leave) द्वारा ही ऐसी अपील सम्भव है। अनुच्छेद १३६ (१) के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति है कि वह भारत स्थित किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण के निर्णय या आदेश की अपने समक्ष अपील करने की विशेष अनुमति दे सकता है। अनुमति देना या न देना उच्चतम न्यायालय के अपने विवेक पर निर्भर करता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत निर्वाचन न्यायाधिकरण भी आ जाते हैं। इस अपवाद के अतिरिक्त निर्वाचनों के मामलों में न्यायालयों का हस्तक्षेप निषिद्ध है।

सन् १९५० के जनप्रतिनिधित्व अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुसार, निर्वाचन आयोग को प्रत्येक निर्वाचन विवाद सम्बन्धी प्रार्थनापत्र के लिए अलग अलग न्यायाधिकरणों की नियुक्ति करनी पड़ती है, यद्यपि परस्पर सम्बन्धित कई विवादों के प्रार्थनापत्रों को निर्णय हेतु एक ही न्यायाधिकरण को भी सौंपा जा सकता है। प्रत्येक निर्वाचन न्यायाधिकरण में सभापति और दो अन्य सदस्य होते हैं। इन तीनों की नियुक्ति

[1] अनु० ३२४ (१)

निर्वाचन प्रायोग करता है। लेकिन निर्वाचन-प्रायोग चाहे जिस व्यक्ति को नियुक्ति नहीं कर सकता। सम्बन्धित राज्य का उच्च न्यायालय (High Court) ऐसे व्यक्तियों की जो या तो राज्य में पहले जिला जज रह चुके होते हैं या अब हों अथवा जो कम से कम दस वर्षों तक ऐडवोकेट रह चुके हों, एक नामावली स्वीकृत करके भेजता है और न्यायाधिकरण के सदस्य इसी सूची में से नियुक्ति किये जाते हैं। न्यायाधिकरण का सभापति या तो उच्च न्यायालय का कोई भूतपूर्व या वर्तमान न्यायाधीश या कोई भूतपूर्व अथवा वर्तमान जिला जज ही हो सकता है।

किसी भी निर्वाचन के विषय में, निश्चित पद्धति से विधि और नियमों के अनुसार प्रार्थनापत्र देने के प्रतिरिक्त अन्य किसी रीति से कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। निर्वाचन में खड़ा कोई भी उम्मीदवार या कोई निर्वाचक इस प्रकार का प्रार्थनापत्र दे सकता है। प्रार्थी को अपने प्रार्थनापत्र में स्पष्टतः उन महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करना चाहिए जिन पर वह अपने अभियोगों की सिद्धि के लिए निर्भर है और यदि भ्रष्टाचार या विधिविरुद्ध कार्यों के होने का अभियोग लगाया गया हो, तो उन तथाकथित भ्रष्ट तथा अवैधानिक कार्यों की तालिका भी प्रार्थनापत्र में होनी चाहिए। यह भी आवश्यक है कि सम्बन्धित पक्षों या व्यक्तियों के नाम भी, जिन पर आरोप लगाये गये हों, दे दिये जायें। प्रार्थी अपने प्रार्थनापत्र द्वारा निम्नलिखित दावे कर सकता है अर्थात् (१) कि विजयी उम्मीदवार का निर्वाचन शून्य या निष्फल घोषित हो, या (२) कि विजयी उम्मीदवार का निर्वाचन शून्य (void) है और प्रार्थी या अन्य किसी उम्मीदवार को उसकी जगह विजयी घोषित किया जाय, या सम्पूर्ण निर्वाचन ही शून्य (void) घोषित किया जाय, प्रार्थी को अपने प्रार्थनापत्र के साथ १००० रु० भी सरकारी खजाने में जमा कराके उसकी रसीद या चालान को नत्थी करके भेजना आवश्यक है।

लोकसभा का कार्यकाल—लोकसभा का कार्यकाल ५ वर्ष का है। यह पाँच वर्ष निर्वाचित लोकसभा के प्रथम सत्र के आरंभ होने की तिथि से गिने जाते हैं। जिस तारीख को पाँच वर्ष पूर्ण हो जायें उसी दिन लोकसभा स्वयमेव विघटित हो जाती है। परन्तु, राष्ट्रपति यदि चाहे तो लोकसभा को और जल्दी भी विघटित कर सकता है। आपत्-काल की उद्घोषणा के काल में संसद की विधि द्वारा लोकसभा की अवधि एक बार में एक-एक वर्ष करके चाहे जितनी बार बढ़ाई जा सकती है, परन्तु आपात् उद्घोषणा की समाप्ति के ६ मास के अन्दर वह अवश्य विघटित हो जानी चाहिए।[1]

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—लोकसभा का अधिष्ठाता (The Presiding Officer) अध्यक्ष (The Speaker) कहलाता है। अध्यक्ष का निर्वाचन लोक-

[1] अनु० ८३ (२)

सभा अपने ही सदस्यों में से करती है। प्रत्येक लोकसभा को अपना अध्यक्ष निर्वाचित करने का अधिकार है। पूर्ववर्ती अध्यक्ष का कार्यकाल नई लोकसभा की बैठक के ठीक पहले ही समाप्त हो जाता है। लोकसभा किसी भी समय अध्यक्ष को उसके पद से अपने बहुमत पारित प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है, परन्तु इस प्रकार का प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए १४ दिन की पूर्व सूचना दी जानी आवश्यक है। अध्यक्ष का वेतन निर्वाचन व भत्ता संसद समय-समय पर विधि द्वारा निश्चित करती है। उपाध्यक्ष के निर्वाचन और हटाये जाने की रीति भी वही है जो अध्यक्ष के निर्वाचन और हटाये जाने की है। उसे भी वेतन मिलता है उपाध्यक्ष अध्यक्ष की किसी कारणवश अनुपस्थिति के समय सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है। अध्यक्ष या उपाध्यक्ष में से कोई भी अपने ही हटाये जाने के प्रस्ताव पर विचार करने वाली बैठक की अध्यक्षता नहीं कर सकता। यदि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों ही के पद रिक्त हो तो राष्ट्रपति लोकसभा के किसी सदस्य को अस्थायी रूप से सदन की अध्यक्षता करने के लिए नियुक्त कर देता है।[1]

यदि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के पद रिक्त न हो किन्तु वे दोनों अनुपस्थित हों तो अध्यक्षीय नामों की नामावली में से कोई सदस्य अध्यक्षता कर सकता है। सन् १६५० की संसदीय प्रक्रिया एवं कार्य संचालन नियम संहिता के सातवें नियम के अनुसार "संसद के आरम्भ में अथवा समय-समय पर, जब जैसी आवश्यकता हो, अध्यक्ष संसद के सदस्यों में से ६ अध्यक्षीय नामों की एक नामावली तैयार करता है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों की अनुपस्थिति में इस नामावली का कोई भी व्यक्ति, अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष के आदेशानुसार लोकसभा की बैठक की अध्यक्षता कर सकता है।" यदि उक्त नामावली में से भी कोई व्यक्ति संसद की अध्यक्षता करने के लिए उपलब्ध न हो तो सदन स्वयं अपने किसी भी सदस्य को उस बैठक की अध्यक्षता करने के लिए चुन सकता है।

अध्यक्ष की स्थिति और अधिकार—अध्यक्ष या अध्यक्ष के स्थानापन्न व्यक्ति को केवल निर्णायक मत (casting vote) देने का ही अधिकार होता है, सो भी उस समय जब किसी प्रश्न पर हुए मतदान में ग्रंथि (tie) पड़ गई हो। वह सामान्यतः किसी मामले में मत नहीं देता, किन्तु जिस समय उसे हटाने के प्रस्ताव पर वाद-विवाद हो रहा हो उस समय होने वाले मतदान में वह अपना साधारण मत दे सकता है। लेकिन उस दशा में वह निर्णायक मत के प्रयोग करने का अधिकारी नहीं होता। अभी हम यह नहीं कह सकते कि लोकसभा की अध्यक्षता ब्रिटेन के आदर्शों का अनुकरण करते हुए विकसित होगी या नहीं। ब्रिटेन में यह परम्परा है कि संसद का कोई सदस्य जैसे ही अध्यक्ष

[1]अनु० ८३ (२) [2]अनु० ६३ से ६७ तक

पद के लिए निर्वाचित हुआ कि वह फिर किसी दल का व्यक्ति नही रह जाता। हर नई संसद उसी को अध्यक्ष निर्वाचित करती जाती है जब तक कि वह कामन्स सभा का सदस्य बना रहे और अध्यक्ष पद का भार सँभालने के लिए इच्छुक रहे। अध्यक्ष के निर्वाचन के सम्बन्ध मे कामन्स सभा की दलगत स्थिति का कोई प्रभाव नही पड़ता। सार्वजनिक निर्वाचनो के समय भी अध्यक्ष के निर्वाचन क्षेत्र से अन्य कोई उम्मीदवार नहीं खड़ा होता और वह निर्विरोध रूप से कामन्स सभा का सदस्य हो जाता है। अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद उसे पेन्शन और लार्ड की पदवी दी जाती है। लेकिन कामन्स सभा की अध्यक्षता की परम्पराओ का अभी तक अन्य कोई देश पूर्णत: अनुकरण नही कर सका है, यहाँ तक कि स्वराज्यप्राप्त ब्रिटिश उपनिवेश भी नही। भारत मे भी इस मामले मे ब्रिटिश आदर्शों का अनुकरण नही किया जा रहा है। भारतीय व्यवस्थापिका सभा (Indian Legislative Assembly) के प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष श्री वी० जी० पटेल की मृत्यु के बाद श्री षण्मुखम चेट्टी अध्यक्ष हो गये थे, किन्तु अगले निर्वाचनो मे कांग्रेस ने श्री चेट्टी के विरुद्ध अपना उम्मीदवार खड़ा कर उन्हे पराजित कर दिया और श्री चेट्टी की जगह अपने उम्मीदवार को अध्यक्ष बनाया। यह दृष्टान्त इस बात की ओर सङ्केत करता है कि भावी प्रगति किस दिशा मे होगी। परन्तु संविधान मे कुछ ऐसे अनुच्छेद हैं जो संसद के अध्यक्ष की स्वतन्त्र स्थिति की दिशा मे इङ्गित करते हैं। इनमे पहली बात तो यह है कि अध्यक्ष का वेतन और उसका भत्ता आदि भारत की सञ्चित निधि (Consolidated Funds) से दिया जाता है और उसके लिए संसद की प्रतिवर्ष स्वीकृति की आवश्यकता नही। दूसरे, अध्यक्ष को साधारण मतदान का कोई अधिकार नही है। वह केवल निर्णायक मत ही दे सकता है।

7 अध्यक्ष की शक्तियाँ सामान्यतः वही हैं जो अन्य संसदीय अध्यक्षो की हुआ करती हैं। वह सदन की बैठको की अध्यक्षता करता है, सदस्यों को भाषण देने की अनुमति प्रदान करता है; वाद विवादो को सम्बद्ध बनाये रखने का प्रयत्न करता है, सदन की सुव्यवस्था या शिष्टाचार भङ्ग करने वाले सदस्य को दंड देने का अधिकार रखता है, प्रश्न पूछता है; मतदान करता है और मतदान के परिणामो की घोषणा करता है। उसकी एक महत्वपूर्ण शक्ति यह है कि वह प्रमाणित करता है कि कोई विधेयक, धन-विधेयक है या नही।[1] दोनो सदनों की संयुक्त बैठकों की अध्यक्षता भी वही करता है।[2]

संसद के अध्यक्ष की इन शक्तियों का विस्तृत विवरण सन् १९५० की संसदीय, प्रक्रिया और कार्य सञ्चालन नियम संहिता मे १९ शीर्षकों के अन्तर्गत दिया हुआ है जो इस प्रकार है :

---

[1] अनु० ११० (३) [2] अनु० ११८ (४)

(१) अध्यक्ष सदन के नेता से परामर्श करके उन विषयों के सम्बन्ध में विवाद का समय निश्चित करता है जिनका उल्लेख राष्ट्रपति के (उद्घाटन) भाषण में किया गया होता है। अध्यक्ष ही यह निश्चित करता है कि भाषण के उत्तर के 'प्रस्ताव में उपस्थित किये जाने वाले संशोधनों का रूप क्या होगा। वही इस अवसर के भाषणों की काल-सीमा भी निर्धारित करता है।

(२) वह सदन के नेता से परामर्श करके सदन का कार्य-क्रम निश्चित करता है।

(३) अध्यक्ष ही निर्णय करता है कि प्रश्नों को स्वीकार किया जाय या न किया जाय, वह नियम-विरुद्ध किये गये प्रश्नों को अस्वीकार कर सकता है।

(४) "किसी भी सार्वजनिक महत्व के आवश्यक मामले पर विवाद करने के लिए" काम को रोकने के प्रस्ताव के लिए उसकी अनुमति प्राप्त होनी आवश्यक है। इस प्रकार के प्रस्तावों के सम्बन्ध में दिये जाने वाले भाषणों की काल-सीमा भी वह निर्धारित करता है।

(५) यदि अध्यक्ष की आज्ञा से कोई विधेयक गजट में प्रकाशित हो जाता है। तो फिर उसे उपस्थित करने के लिए किसी प्रस्ताव की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(६) प्रवर समितियों (Select committees) के सभापतियों की नियुक्ति वही करता है।

(७) किसी भी विधेयक पर वाद-विवाद स्थगित करने का प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए उसकी अनुमति आवश्यक है।

(८) किसी भी प्रस्ताव के ग्राह्य अथवा अग्राह्य होने का निर्णय वही करता है।

(९) वह बजट (Budget) सम्बन्धी भाषणों की कालसीमा निर्धारित कर सकता है और ऐसी प्रत्येक कार्रवाई कर सकता है जिससे वित्त सम्बन्धी कार्य निश्चित समय के अंदर समाप्त हो जायें।

(१०) संसद और राष्ट्रपति के बीच का समस्त पत्र-व्यवहार अध्यक्ष द्वारा ही होता है।

(११) संसद के सदस्यों को भाषण करने की अनुमति वही देता है। वही यह भी तय करता है कि भाषणों का क्रम क्या रहेगा। भाषण करते समय सदस्य अध्यक्ष को ही सम्बोधित करते हैं; एक दूसरे को नहीं। किसी भी सदस्य से कोई प्रश्न अध्यक्ष ही की मध्यस्थता से पूछा जा सकता है।

(१२) वह प्रक्रिया सम्बन्धी विवादास्पद प्रश्नों (Points of order) का निर्णय करता है और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय अंतिम होता है।

(१३) वह सदन में शांति व सुव्यवस्था रखता है। इसके लिए उसे आवश्यक शक्तियाँ प्राप्त हैं।

(१४) वह विभिन्न विषयों पर मतदान कराता है और उनके परिणाम घोषित करता है।

(१५) यदि कोई सदस्य ऐसा आचरण करता है जिससे अव्यवस्था उत्पन्न होती है तो अध्यक्ष उससे बाहर चले जाने के लिए कह सकता है। यदि कोई सदस्य अध्यक्ष की आज्ञाओं का पालन नहीं करता और सदन के कार्य में निरंतर बाधाएँ डालता चला जाता है तो वह उसकी सदस्यता भी निलम्बित (Suspend) कर सकता है।

(१६) यदि सदन में गम्भीर अव्यवस्था तथा अशांति उत्पन्न हो जाती है तो वह उसका कार्य स्थगित या निलम्बित कर सकता है।

(१७) वह दर्शकों के प्रवेश का नियंत्रण कर सकता है और उनसे किसी भी समय चले जाने के लिए कह सकता है।

(१८) वह संसद की कार्रवाई से ऐसे किसी भी शब्द या किन्हीं भी शब्दों को हटाये जाने का आदेश दे सकता है, जो उसकी समझ से मानहानिकारी, अशिष्ट, असंसदीय अथवा अनुचित हो।

(१९) जिस समय अध्यक्ष कुछ कहने के लिए खड़ा होता है उस समय अन्य समस्त सदस्यों को बैठ जाना आवश्यक है। जब तक वह बोलता है तब तक कोई भी सदस्य सभा-भवन से बाहर नहीं जा सकता।

गणपूर्ति (The Quorum)—सदन की कुल सदस्य संख्या का दशमांश लोकसभा की बैठकों की गणपूर्ति है।

लोकसभा के कृत्य और शक्तियाँ—हम लोकसभा और राज्यसभा के पारस्परिक सम्बन्धों पर इस अध्याय के पूर्व भाग में विचार कर चुके हैं। इसी सिलसिले में हम यह बतला चुके हैं कि लोकसभा की शक्तियाँ राज्य-सभा से अधिक हैं और वित्त के क्षेत्र में लोकसभा ही की स्थिति सर्वोच्च है। वित्त नियंत्रण का सारा कार्य वही करती है। यहाँ यह और बतलाना है कि मन्त्रिमण्डल केवल लोकसभा के प्रति ही उत्तरदायी होता है। अतः लोकसभा कम से कम सैद्धांतिक दृष्टिकोण से मन्त्रिमण्डल को बना-बिगाड़ सकती है। अपनी इस शक्ति तथा व्यय-स्वीकृति की शक्ति के द्वारा लोकसभा संघ के समग्र प्रशासन का नियंत्रण कर सकती है। लोकसभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से जनता करती है। अतः लोकसभा को जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधि माना जाता है और जनता के नाम पर जितने अधिकार से वह कोई बात कह सकती है, उतना शासन का अन्य कोई अंग नहीं। यदि संसद राज्य का सर्वोच्च अंग है तो लोकसभा संसद का सर्वोच्च अंग है। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टिकोण से लोकसभा ही संसद है। लोकसभा द्वारा जो भी इच्छा एक बार स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी जाती है उसका सम्मान और पालन प्रत्येक अधिकारी को अन्ततः करना ही पड़ता है।

अध्याय ८ | संसद् की कार्यवाही
(Parliament at Work)

संसद के सत्र (Session)—राष्ट्रपति जब और जहाँ चाहे संसद के अधिवेशन बुला सकता है, पर दो सत्रो के बीच का अंतर्काल ६ मास से कम ही होना चाहिए। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए राष्ट्रपति संसद के दोनो सदनो के अधिवेशन जब चाहे बुला और विसर्जित कर सकता है।[1] दोनो सदन अपनी बैठकें जब चाहे तब स्थगित (adjourn) कर सकते है और अगली बैठक की तिथि निश्चित कर सकते हैं। सत्रावसान (prorogation) और स्थगन (adjournment) में यह अन्तर है कि सत्रावसान सदैव सत्र (Session) के अंत मे राष्ट्रपति के आदेश से होता है और स्थगन सदन ही के निर्णयानुसार प्रत्येक बैठक के अत मे होता है। विघटन (Dissolution) का अर्थ यह होता है कि एक संसद (अर्थात् लोकसभा) की कालावधि समाप्त हो गई और उसकी जगह अब दूसरी ससद निर्वाचित होगी।

ससद के दो अधिवेशन बहुधा वसंत और शरत्काल मे होते हैं। प्रथम अधिवेशन जनवरी या फरवरी मे आरम्भ होता है और प्रायः अप्रैल के अन्त तक चलता है और दूसरा अगस्त या सितम्बर मे आरम्भ होता है; जो दिसम्बर तक चलता है। आवश्यकता पडने पर जुलाई और अगस्त मे ग्रीष्माधिवेशन भी बुलाया जा सकता है।

नयी संसद अपना कार्यारम्भ किस प्रकार करती है—मान लीजिये नई ससद अपना कार्यारम्भ करने वाली है। निश्चित तारीख और दिन को सभी सदस्य सभाभवन मे एकत्रित होंगे। एकत्रित होने के बाद वे पहला कार्य यह करेंगे कि राष्ट्रपति या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त, किसी व्यक्ति के सामने अपने पद की शपथ या प्रतिज्ञा ग्रहण करेंगे।[2] जब तक यह कार्य सम्पन्न न हो जाय वे औपचारिक रीति से अपने पद नहीं ग्रहण कर सकते। इसके बाद दूसरा काम होता है अध्यक्ष (Speaker) का निर्वाचन। अध्यक्ष के निर्वाचन के उपरात सदन कार्य आरम्भ करने के लिए

---

[1] अनु० ८५, संविधान (प्रथम) संशोधन अधिनियम १९५१ के अनुसार,
[2] अनु० ९९।

तैयार हो जाता है। राज्यसभा को अपने सभापति (Chairman) को निर्वाचित नही करना पड़ता क्योंकि उपराष्ट्रपति ही उसका पदेन सभापति होता है।

इन प्रारम्भिक कार्यों के पश्चात् दोनों सदनो के संयुक्त अधिवेशन के समक्ष राष्ट्रपति का भाषण होता है। सन् १९५१ के संवैधानिक संशोधन पारित हो जाने के बाद से सार्वजनिक निर्वाचनो के उपरात नई संसद के प्रथम सत्र और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र मे ही राष्ट्रपति का भाषण होता है। हर सत्र के आरम्भ मे अब उनका भाषण नही होता, जैसे पहले हुआ करता था। राष्ट्रपति जुलूस के साथ ससद के समक्ष भाषण देने के लिए आते हैं। भारतीय गणतंत्र की प्रथम संसद के उद्घाटन के अवसर का यह शब्दचित्र है—"राष्ट्रपति के राजभवन से ससद भवन में आगमन के बहुत पूर्व से ही सदन खचाखच भर गया था। गैलरियो मे भी इतनी भीड़ थी कि लोग एक दूसरे पर गिरे पड रहे थे। वहाँ तिल रखने को भी जगह न थी। ठीक ११ बजे राष्ट्रपति ने जुलूस सहित सदन मे प्रवेश किया। उनका अंगरक्षक औपचारिक परिधान मे जुलूस के आगे-आगे चल रहा था। उसके पीछे संसद के सचिव और अध्यक्ष थे। इनके बाद राष्ट्रपति थे। वे काली अचकन और सफेद टोपी पहिने थे। उनके पीछे उनके अग रक्षक, निजी और सैनिक सचिवो की पंक्ति थी। राष्ट्रपति ने सदन में प्रवेश करते ही सदस्यो की ओर झुक कर हाथ जोड़े। सदस्यो ने भी तत्काल हर्षध्वनि करके उसका उत्तर दिया।

"जुलूस के आगे चलनेवाले सदस्य ने सदन मे प्रवेश करते ही जरा रुक कर और तन कर खडे होने के बाद घोषणा की, 'संसद के सदस्यो ! राष्ट्रपति आ गये।' तत्काल ही संसद के समस्त सदस्य तथा गैलरी के दर्शक मौनपूर्वक सम्मान प्रकट करते हुए उठ कर खडे हो गये। इस बीच जुलूस शनैः-शनैः मंच की ओर बढ गया। आगे चलने वाला अग रक्षक दाहिनी ओर मुड गया और अध्यक्ष राष्ट्रपति को उनकी कुर्सी पर बैठाने ले गये। ससद के अध्यक्ष स्वय राष्ट्रपति की दाहिनी ओर बैठे। राष्ट्रपति जैसे ही अपना भाषण देने को खडे हुए, सदन ने बडे जोर से हर्ष ध्वनि कर उनका अभिनंदन किया।"[1]

राष्ट्रपति का भाषण—राष्ट्रपति अपने भाषण मे देश की सामान्य स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए सरकारी नीति की ओर सकेत करते हैं और उन विषयको के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डालते हैं जो संसद के सामने उस सत्र मे उपस्थित किये जानेवाले होते हैं। राष्ट्रपति का भाषण प्रधान मन्त्री लिखता है और उसकी जिम्मेदारी भी प्रधानमन्त्री और उस मन्त्रिमण्डल की होती है। भाषण समाप्त होने के बाद राष्ट्रपति

[1]हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित सारांश

जिस प्रकार जुलूस सहित आये थे उसी प्रकार वापस चले जाते हैं। इसके बाद उस दिन अन्य कोई कार्य नही होता और सदस्यो की दिन भर छुट्टी रहती है।

राष्ट्रपति के भाषण का उत्तर—दूसरी बैठक मे राष्ट्रपति के भाषण के उत्तर या धन्यवाद के प्रस्ताव के रूप मे एक प्रस्ताव सदन मे उपस्थित किया जाता है। इस प्रस्ताव द्वारा सदन भाषण मे घोषित नीति और कार्यक्रम के प्रति अपनी सहमति प्रकट करता है। विरोधी दल यदि मन्त्रिमण्डल से अपने बल को आरम्भ मे ही आजमाना चाहे तो इस प्रस्ताव मे कोई संशोधन का प्रस्ताव रख कर वैसा कर सकता हैं। यदि यह संशोधन पारित हो जाता है तो इसका यह अर्थ है कि सदन को मन्त्रिमंडल मे विश्वास नही है और मन्त्रिमंडल को पदत्याग करना पड़ता है। यदि विरोधी दल के सदस्य ऐसा न करना चाहे तो उत्तर के प्रस्ताव के उपस्थित किये जाने के बाद जो वाद विवाद होता है उसमें अपना असन्तोष प्रकट कर सकते हैं और कुछ बातो के सम्बन्ध मे अपनी असहमति भी प्रकट कर सकते है। यह वाद-विवाद कई दिन और कई बैठको मे चलता है। वाद-विवाद के समाप्त होने के पूर्व विभिन्न आपत्तियो तथा आलोचनाओ का कई मन्त्रियो तथा प्रधान मन्त्री द्वारा उत्तर दिया जाता है। भाषण के उत्तर का प्रस्ताव पारित हो जाने के बाद सदन अपना दैनिक कार्य करना आरंभ कर देते हैं।

घोषित कार्यक्रम से संसद की स्वतंत्रता—संसद विधेयन के घोषित कार्यक्रम से किसी भी प्रकार बाध्य नही होती। वह किसी अन्य विधेयक पर भी विचार कर सकती है। ब्रिटिश संसद तो अपने इस अधिकार को जताने के लिए सबसे पहले एक छद्म विधेयक (जिसे 'डमी बिल' कहते हैं) पारित करती है। इसके बाद ही सरकारी विधेयको पर विवाद किया जाता है। लेकिन संसद की स्वतंत्रता प्रकट करने वाला वह प्रतीकात्मक कार्य हमारे यहा की संसद मे अनावश्यक समझ कर नही किया जाता।

प्रार्थना—अस्थायी संसद का प्रथम अधिवेशन मौन प्रार्थना मे आरंभ हुआ था। सब सदस्य प्रार्थना-काल मे दो मिनट के लिए चुपचाप मौन होकर खड़े रहे थे। ब्रिटिश संसद की तो प्रत्येक बैठक औपचारिक प्रार्थना सहित आरंभ होती है।

दैनिक बैठको का कार्यक्रम—सामान्य संसदीय परिपाटी के अनुसार प्रतिदिन आरंभ का एक घंटा प्रश्नो के लिए होता है। प्रश्न काल के बाद किसी सार्वजनिक महत्व के मामले पर विचार करने के लिए कार्य स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion) उपस्थित किया जा सकता है। यदि वह नियमानुकूल होता है तथा उसका समर्थन पर्याप्त सदस्य करते हैं तो उस प्रस्ताव पर उसी दिन बैठक समाप्त होने के पूर्व वादविवाद का समय दिया जाता है। इसके बाद सदन विचाराधीन विधेयको पर विचार करना आरम्भ कर देता है। अधिकांश दिनों और बैठको मे सदन विधेयको पर विचार

करने और उन्हें पारित करने में ही लगा रहता है। तथापि कभी-कभी विधेयकों को पारित करने के काम को छोड़कर सदन और भी कुछ आवश्यक कार्य करने लगता है। उदाहरण के लिए, कुछ दिन की बैठकें सरकार किसी महत्वपूर्ण नीति पर विचार करने के लिए निश्चित कर देती है। प्रत्येक सत्र में कुछ दिन गैर सरकारी विधेयकों पर भी विचार करने के लिए रखे जाते हैं।

सरकारी और गैर सरकारी काम—संसद का अधिकांश समय तो सरकारी काम और विधेयकों को निपटाने में निकल जाता है। शासन को ठीक रीति से चलाने का उत्तरदायित्व मन्त्रियों का होता है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि विभिन्न विभागों की विधेयन सम्बन्धी आवश्यकता का सर्वाधिक और सर्वोत्तम ज्ञान उन्हीं को हो और वे ही संसद से यह माँग करें कि अमुक-अमुक विधियाँ बनाई जायें। इसीलिये सदनों के समय का स्वामी मन्त्रिमंडल होता है और संसद का अधिकांश समय सरकारी विधेयकों पर विचार करने में ही व्यतीत होता है। संसद जितने विधेयकों पर विचार करती और पारित करती है, उनमें से ९० प्रतिशत विधेयक सरकारी होते हैं। लेकिन प्रत्येक सप्ताह में एक दिन सदस्यों के निजी कार्यों के लिए भी संसद में रखा जाता है; अर्थात् उस दिन कोई भी साधारण सदस्य, जो विधेयक या प्रस्ताव उचित समझे, संसद के समक्ष विचारार्थ उपस्थित कर सकता है। उस दिन ऐसे ही कार्यों को प्राथमिकता दी जाती है। इन कार्यों के लिए जितने दिन नियत होते हैं उनसे निजी प्रस्तावों तथा विधेयकों की संख्या कहीं अधिक होती है। अतः निजी विधेयकों और प्रस्तावों में किस को प्राथमिकता दी जायगी, यह चिट्ठियाँ डाल कर तय कर लिया जाता है। जिस सदस्य का नाम पहले आ जाता है, उसी सदस्य के विधेयक या प्रस्ताव पर पहले विचार किया जाता है। गैर सरकारी दिनों में यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है।

संसद तथा संसद-सदस्यों की उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार—संसद के कार्य का उचित ढंग से संचालन होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्य निर्भयता तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकें। अतएव संसद के सदस्यों को भाषण की स्वतंत्रता है। इसका अर्थ यह है कि संसद भवन में या संसद की किसी समिति में कोई भी सदस्य जो कुछ उचित समझे, कह सकता है। इस प्रकार अपना मत प्रकट करने के लिए उस पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। संसद के सदनों को प्रकाशन की स्वतंत्रता का भी अधिकार है; अर्थात् किसी व्यक्ति पर किसी भी सदन की कार्रवाई का प्रतिवेदन प्रकाशित करने के लिए मामला नहीं चलाया जा सकता। इसके अतिरिक्त संसद विधि द्वारा अपने और भी विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों को निश्चित कर सकती है। जब तक वह ऐसा नहीं करती तब तक उसकी उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार वही रहेंगे जो

संविधान के उद्घाटन के समय ब्रिटेन की कामन्स सभा (House of Commons) के थे।[1]

हमारे संविधान में संसद में भाषण और प्रकाशन के जो विशेषाधिकार स्पष्ट रूप से दिये गये हैं उनके अतिरिक्त ब्रिटेन की कामन्स सभा (House of Commons) को निम्नलिखित विशेषाधिकार और प्राप्त हैं :—

(१) कामन्स (ब्रिटिश) किसी भी समय दर्शकों को हटा सकती है। यह अधिकार भारतीय लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को भी कार्य संचालन की पद्धति के १७८ वे नियम के अन्तर्गत दिया गया है।

(२) उसे अपने आंतरिक मामलो का नियमन (Regulation) और संसद के अन्दर उत्पन्न होनेवाले मामलो को तय करने का अधिकार है। इस अधिकार द्वारा पार्लमेण्ट का प्रत्येक सदन अपनी कार्रवाई को नियन्त्रित करता और अपनी चहारदीवारी के भीतर होने वाले सभी मामलो को न्यायालयो के हस्तक्षेप के बिना ही तय कर सकता है। यह भी कहा जाता है कि कामन्स सभा को यह भी निर्णय करने का अधिकार है कि उसकी सीमा मे होनेवाले किसी मामले मे कौन विधि लागू होगी और कौन नही। लेकिन अपनी सीमा के भीतर किए हुए अपराधो का निर्णय करने का कामन्स सभा को अधिकार नही है। उसका निर्णय न्यायालयो मे ही होता है।

(३) कामन्स सभा को परपरा के विरुद्ध कदाचार के दोषी व्यक्ति को दड देने का अधिकार है। इसमे अनुचित शब्दो तथा अनुचित आचरण दोनो ही को रोकने का अधिकार सम्मिलित है। यदि कोई ऐसा कार्य करता है जिससे अशान्ति तथा अव्यवस्था उत्पन्न होती है तो कामन्स सभा उसे इसके आचरण के लिए दण्ड दे सकती है। सदस्यों के लिए इस प्रकार के कई दण्ड है जैसे उनको नाम द्वारा सबोधित कर देना (Naming), कुछ काल के लिए बैठको मे भाग लेने से रोक देना, सदन से सत्र के शेषकाल के लिए निकाल देना इत्यादि।

(४) ब्रिटिश कामन्स सभा को अपने सदस्यो और बाहर वालो को, अपने विशेषाधिकारो का उल्लंघन करने पर, दडित करने का अधिकार है। यह अधिकार ठीक उसी प्रकार का है जैसा न्यायालयो को अपनी मान हानि करने वाले को दडित करने का होता है। जिन बातो से लोकसभा के विशेषाधिकारो का उल्लघन होता है, उनकी पूरी तालिका देना तो यहां सम्भव नही है लेकिन दृष्टात के रूप में उनमे की कुछ बाते ये हैं :—(क) सदन की कार्रवाई या सदन के अधिकारियो के कर्तव्य-पालन मे जान बूझ कर बाधा देना, जैसे सभा भवन के सामने भीड़ लगाकर या शोर मचा कर या उपद्रव करके सदस्यों को

[1] अनु० १०५

भयभीत करना, या सदन के सार्जेंट अथवा अन्य कर्मचारियों को उनके कर्तव्य के पालन करने से रोकना। (ख) जिन नियमों द्वारा सदन का कार्य सञ्चालन होता है उनकी अवज्ञा करना यथा, सदन की कार्रवाई की दुर्भावनापूर्ण रिपोर्ट छापना, प्रवर समिति के सामने की गई गवाहियों को उनके सदन के सम्मुख उपस्थित किये जाने के पूर्व ही प्रकाशित कर देना, भवन के बाहर निकल जाने का आदेश पा जाने पर भी न हटना, प्रश्नों के उत्तर न देना या आज्ञा पाने पर प्रमाण के कागज-पत्रों या साक्षियों को न उपस्थित करना आदि (ग) सदन या उसके सदस्यों के चरित्र, आचरण और कार्रवाई के सम्बन्ध में अपमानजनक बातें कहना या छापना, सदन के सदस्यों के साथ सदन में किये हुए किसी विशेष कार्य के लिए दुर्व्यवहार करना, किसी सदस्य द्वारा रिश्वत लिया जाना या उसे रिश्वत देना आदि, (घ) अध्यक्ष के आचरण की टीका-टिप्पणी करना या उस पर पक्षपात का अभियोग लगाना, आदि-आदि।

कामन्स सभा अपने विशेषाधिकारों के उल्लंघन किये जाने पर तीन प्रकार के दंड दे सकती है, अर्थात् डाँट-फटकार, भर्त्सना और कारागार भेज देना। डाँट-फटकार (admonition) का पारिभाषिक अर्थ यह है कि अध्यक्ष अपराधी को अपने सामने बुलाकर डाँट देता है। भर्त्सना (Reprimand) में अपराधी को बलपूर्वक पकड़कर सदन के सामने लाया जाता है और तब डाँटा-फटकारा जाता है। कारागार का दंड यदि सत्रावसान से पहले ही समाप्त नहीं हो जाता, तो सत्र समाप्त होते ही स्वयमेव समाप्त हो जाता है।

सदन के सामूहिक विशेषाधिकारों के अतिरिक्त सदस्यों के व्यक्तिगत रूप से भी कुछ विशेषाधिकार होते हैं। ये विशेषाधिकार चार हैं, अर्थात् भाषण की स्वतन्त्रता, गिरफ्तारी से स्वतन्त्रता, जूरी के कर्तव्यों से मुक्ति और साक्षी के रूप में उपस्थित होने के प्रतिबन्ध से स्वतन्त्रता।

भाषण की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि किसी भी सदस्य पर किसी भी न्यायालय में कामन्स सभा के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किये गये विषय के सम्बन्ध में कही गई बात के लिए कोई मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। इसमें मानहानि, अपमानजनक लेख, राजद्रोह के मामले भी सम्मिलित हैं। सदन को यह शक्ति है कि अपने सदस्यों को इन अधिकारों का दुरुपयोग करने से रोक सके। अतः असंसदीय भाषा का प्रयोग, अध्यक्ष या सदन के लिए मानहानिकारी शब्दों का प्रयोग, अन्य सदस्यों पर व्यक्तिगत रूप से आक्षेप, किसी सदस्य का नाम लेकर उस पर आरोप लगाना तथा राजा के नाम का उपयोग करके सदन को प्रभावित करने की चेष्टा करना आदि वर्जित हैं। भारतीय संसद ने भी अपनी कार्यसंचालन पद्धति के नियमों में इन बातों को वर्जित कर दिया है।

गिरफ्तारी से स्वतन्त्रता का आशय यह है कि संसद के किसी भी सदस्य को किसी दीवानी (Civil) मामले के सम्बन्ध में संसद के अधिवेशन काल में या अधिवेशन के ४० दिन के पूर्व अथवा ४० दिन बाद तक गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। भारतीय विधि के अन्तर्गत (विधानमण्डल सदस्य उन्मुक्ति अधिनियम, १९२५ के अनुसार) यह छूट केवल १४ दिन की ही दी गई थी; किन्तु अब ब्रिटिश कामन्स सभा की भाँति भारतीय संसद के सदस्यों को भी ४० दिन की छूट मिल गयी है। लेकिन यह स्वतन्त्रता केवल दीवानी मामलों के सम्बन्ध में ही है। दंडविधि के अंतर्गत चलने वाले किसी मामले या अभियोग से रक्षा के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। इस स्वतन्त्रता का उपयोग निवारक नजरबन्दी से बचने के लिए भी नहीं किया जा सकता।

जूरी बनने के भार से मुक्ति और न्यायालय के सम्मुख गवाही देने के कर्तव्य से मुक्ति ऐसी स्वतन्त्रताएँ हैं जिनके लिए किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहना आवश्यक है कि सदस्य गवाही न देने के अधिकार को स्वेच्छा से ही त्याग देते हैं, और सदन उन्हें गवाही देने की आज्ञा दे दिया करता है।

भारतीय संसद की कार्य-सञ्चालन पद्धति के नियमों के अन्तर्गत विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए स्थायी समिति (Committee on Privileges) की नियुक्ति कर दी गई है। विशेषाधिकार सम्बन्धी किसी भी विवाद को अध्यक्ष निर्णयार्थ उक्त समिति को सौंप सकता है या किसी सदस्य के प्रस्ताव पर सदन ही सौंप सकता है। यह समिति सदन या अध्यक्ष को बतलाती है कि किसी मामले में सदन या सदस्यों के विशेषाधिकार का उल्लंघन हुआ है या नहीं; और यदि हाँ तो क्या कार्रवाई की जानी चाहिए।

सदस्यों का वेतन और भत्ता आदि—संसद के सदस्य को संसद द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ते आदि मिलते हैं।[१] अभी हाल में ही (मई सन् १९५४) में संसद ने एक विधेयक पारित किया है जिसके अनुसार संसद के सदस्यों का ४००) रु० मासिक वेतन, और संसदीय कार्य के लिये वे जितने दिन दिल्ली रहें, २१) रु० प्रति दिन के हिसाब से भत्ता निश्चित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को देश भर में कहीं भी जाने के लिए सेकेन्ड क्लास का एक नि:शुल्क पास दिया जाता है। यह पास महस्तान्तरणीय है। अपने परिवार तथा नौकरों को दिल्ली लाने के लिए प्रत्येक सदस्य को एक सेकेन्ड तथा एक थर्ड क्लास का किराया अलग से मिलता है।

---

[१] अनु० १०६

भारतीय संसद सदस्यों के वेतन तथा भत्तों की ब्रिटेन के संसद सदस्यों के वेतन तथा भत्तों से तुलना करना शिक्षाप्रद होगा। ब्रिटिश संसद के सदस्यों को १००० पौंड वार्षिक वेतन मिलता है। अभी हाल ही में यह प्रस्ताव रखा गया था कि यह वेतन बढ़ाकर १५०० पौंड वार्षिक कर दिया जाय लेकिन वह विफल हो गया; तथापि ब्रिटिश सरकार ने यह सुझाव रखा है कि सदस्यों को १०० से ५०० पौंड वार्षिक तक करमुक्त भत्ता दिया जा सकता है जिससे वे अपना वास्तविक व्यय पूरा कर सकें, या वैकल्पिक रूप से जो सदस्य लन्दन से बाहर रहते हैं, उनको दो पौंड प्रतिदिन के हिसाब से भत्ता दिया जाय।

सदनों के नियम—संविधान की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत संसद का प्रत्येक सदन अपनी कार्रवाई के नियम बना सकता है। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक संसद का कार्य उन्हीं नियमों के अनुसार चलेगा जो संविधान के उद्‌घाटन के पूर्व भारतीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा काम में लाये जाते थे। इन नियमों में अध्यक्ष आवश्यकतानुसार सुधार और संशोधन कर सकता है। संसद की कार्रवाई से सम्बंधित ये नियम अध्यक्ष द्वारा संशोधित हो चुके हैं और इनको एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित भी कर दिया गया है जिसका नाम है 'संसद की कार्यवाही और कार्य संचालन के नियम' (The Rules Of Procedure and Conduct Of Business in Parliament) संसद के उभय सदनों के संयुक्त अधिवेशन का कार्यसंचालन राष्ट्रपति द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार होता है। राष्ट्रपति इन नियमों को दोनों सदनों के अध्यक्षों के परामर्श से बनाता है।[1] वित्तीय कार्य-संचालन सम्बन्धी नियमों को भी संसद विधि द्वारा बना सकती है।[2]

संसद तथा न्यायालय—संसद उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के किसी सरकारी कार्य के सम्बन्ध में कोई वाद-विवाद नहीं कर सकती। वह केवल एक ही दशा में ऐसा कर सकती है अर्थात् जब वह किसी न्यायाधीश को हटाने के लिए राष्ट्रपति से प्रार्थना करे। जिस प्रकार संसद किसी न्यायाधीश की टीका-टिप्पणी नहीं कर सकती, ठीक उसी प्रकार न्यायाधीशों के लिए भी संसद की किसी कार्रवाई की वैधता पर उसकी अनियमितता के आधार पर आपत्ति करना वर्जित है। न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से उन अधिकारियों को अलग रखा गया है जो संसद के सदनों की कार्यवाही-नियमों का नियंत्रण करते हैं अथवा उसकी बैठकों में व्यवस्था रखने के लिए उत्तरदायी हैं।[3]

संसद की भाषा—संसद का कार्य प्रथम १५ वर्षों तक हिन्दी या अंग्रेजी माध्यम

[1] अनु० ११८, [2] अनु० ११६, [3] अनु० १२१ और १२२

द्वारा सम्पन्न होगा पर इसके बाद केवल हिन्दी द्वारा। पर संसद विधि द्वारा अंग्रेजी के प्रयोगकाल की अवधि और आगे भी बढा सकती है। संसद के किसी सदन का अध्यक्ष यदि यह समझे कि कोई सदस्य अंग्रेजी या हिन्दी में अपने आशय को प्रकट करने में असमर्थ है तो वह उसे अपनी मातृभाषा में भी बोलने की अनुमति दे सकता है।[1] विधेयकों, अधिनियमों, नियमों, विनियमों आदि की भाषा तब तक अंग्रेजी ही रहेगी जब तक संसद किसी विधि द्वारा अन्यथा निश्चय न करे।[2]

संसद के कार्य और उसकी शक्तियाँ—संसद के कार्यों तथा उसकी शक्तियों को स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में तो संसद की विधायिनी शक्तियाँ आती हैं। दूसरे वर्ग में उनकी वित्तीय अर्थात् सरकारी व्यय की स्वीकृति देने तथा कर लगाने की शक्तियाँ सम्मिलित हैं। तीसरे वर्ग में उसकी वे शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा वह प्रशासन की निगरानी और नियंत्रण करती है जैसे प्रश्न पूछने, प्रस्ताव पारित करने, वाद विवाद करने और अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने की शक्तियाँ। अंतिम वर्ग की शक्तियों द्वारा संसद मंत्रिमण्डल को त्यागपत्र देने अथवा नये निर्वाचन द्वारा मतदाताओं द्वारा मतदाताओं से अपील करने को भी विवश कर सकती है।

संसद की विधायिनी शक्तियाँ—संसद संघीय और समवर्ती सूची के समस्त विषयों पर भी विधियाँ बना सकती है। वह विशेष परिस्थितियों में राज्यसूची के विषयों पर भी विधियाँ बनाने की अधिकारिणी है।[3] संविधान द्वारा निर्दिष्ट मूलाधिकारों का उल्लंघन करते हुए वह कोई विधि उस समय तक पारित नहीं कर सकती जब तक राष्ट्रपति आपत्काल की घोषणा न कर दे। संसद अतिदेशीय (extra territorial) प्रभाव वाले विधेयक भी पारित कर सकती है।

यहाँ यह बात बड़ी सावधानी के साथ समझ लेनी चाहिए कि भारतीय संसद ब्रिटिश पार्लमेंट की भाँति संप्रभुत्व सम्पन्न विधान मण्डल नहीं है। भारतीय संसद की विधायिका शक्ति सीमित है। वह संसद यदि कोई ऐसी विधि बनाती है जो संविधान के प्रतिकूल हो तो वह विधि न्यायालयों (उच्चतम और उच्च न्यायालयों) द्वारा शून्य (void) घोषित की जा सकती है। हमारी संसद का संप्रभुत्वविहीन रूप हमारे संविधान के संघीय होने तथा उसमें मूलाधिकारों का उल्लेख होने के कारण है।

विधेयकों का प्रस्तुत किया जाना—कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयक किसी भी सदन में बिना राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के उपस्थित नहीं किये जा सकते, जैसे भाग 'क' या 'ख' राज्य के क्षेत्र के पुनर्वितरण के सम्बन्धी विधेयक या विधेयकों, अधिनियमों,

---

[1]अनु० १२०, [2]अनु० ३४८ (१) (ख), [3]देखिए अध्याय ४

और उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों की कार्रवाई की भाषा (अंग्रेज़ी) में प्रथम १५ वर्षों के अन्दर परिवर्तन करनेवाला कोई विधेयक इत्यादि।

प्रथम वाचन—वित्त-विधेयकों के अतिरिक्त कोई भी विधेयक किसी भी सदन में उपस्थित किया जा सकता है। यदि कोई सदस्य किसी विधेयक को उपस्थित करना चाहता है तो उसे ऐसा करने के पहले सदन की अनुमति प्राप्त करनी होती है। सामान्यतः यह अनुमति मिल जाती है, लेकिन कभी कभी नहीं भी मिलती। अनुमति प्राप्त कर लेने के बाद विधेयक उपस्थित करनेवाला सदस्य उस विधेयक का नाम या शीर्षक पढ़ देता है और यदि विधेयक महत्वपूर्ण हुआ तो उसकी मुख्य मुख्य बातों के सम्बन्ध में एक भाषण भी दे सकता है। यह विधेयक का प्रथम वाचन (First Reading) कहलाता है। इसके बाद विधेयक भारत सरकार के गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

द्वितीय वाचन (The Second Reading)—इसके उपरान्त एक निश्चित दिन विधेयक का द्वितीय वाचन होता है। उस दिन विधेयक का प्रस्तावक यह प्रस्ताव रखता है कि विधेयक प्रवर समिति (Select Committee) को विचारार्थ सौंप दिया जाय, या उस पर जनमत जानने के लिये उसे प्रसारित किया जाय, या उस पर तत्काल ही विचार किया जाय।

सिवाय परमावश्यक सरकारी विधेयकों अथवा विवादरहित विधेयकों के, अन्यों पर तत्काल विचार साधारणतया नहीं होता। सामाजिक विधेयक बहुधा लोकमत के प्रकाशन के लिए प्रसारित कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई विधेयक विवादास्पद हो या किसी नये विषय से सम्बन्धित हो तो उसे भी जनमत-प्रकाशन के लिए भेज दिया जाता है। अन्य सभी विधेयक बहुधा प्रवर समिति (Select Committee) के सुपुर्द कर दिये जाते हैं।

इनमें से कोई प्रस्ताव उपस्थित होने के उपरान्त सदन विधेयक के मूल सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करता है। यह विधेयक का द्वितीय वाचन कहलाता है। इस वाचन में विस्तार की बातों पर विचार नहीं होता और न कोई संशोधन उपस्थित किया जा सकता है। द्वितीय वाचन में पारित हो जाने पर विधेयक तीसरी अवस्था में प्रवेश करता है जिसे समिति सोपान (Committee Stage) कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि विधेयक प्रवर समिति के पास तभी भेजा जाता है जब उस पर तत्काल विचार किये जाने, या उसे जनमत-प्रकाशन के लिए प्रसारित करने का निश्चय न कर दिया गया हो।

समिति सोपान की प्रक्रिया—प्रवर समिति में विधेयक का प्रस्तावक तथा सदन के कुछ अन्य सदस्य होते हैं। प्रवर समिति विधेयक की प्रत्येक धारा पर अत्यन्त

सूक्ष्म रूप से विचार करती है। और जहाँ जहाँ आवश्यक होता है, संशोधन के सुझाव भी देती जाती है। इसके बाद वह अपनी रिपोर्ट (Report) सदन के समक्ष उपस्थित करती है।

रिपोर्ट सोपन—निश्चित दिन विधेयक का प्रस्ताव सदन के समक्ष प्रवर समिति की रिपोर्ट (Report) पर विचार किये जाने का प्रस्ताव उपस्थिति करता है। तब सदन प्रवरसमिति द्वारा संशोधित विधेयक की एक-एक धारा और खण्ड पर विस्तारपूर्वक विचार करना प्रारम्भ करता है। इस समय किसी भी विचाराधीन अनुच्छेद, धारा या खण्ड मे कोई भी सदस्य संशोधन उपस्थित कर सकता है। प्रत्येक संशोधन पर बहस की जाती है और उस पर मत लिये जाते हैं। अन्त में जो संशोधन स्वीकार कर लिये जाते हैं, उनके सहित विधेयक के विचाराधीन अनुच्छेद पर मत लिया जाता है। इस प्रकार एक-एक करके विधेयक के सभी अनुच्छेद निपटा दिये जाते हैं और जब अन्तिम अनुच्छेद तथा विधेयक की प्रस्तावना (Preamble) भी पारित हो जाती है तो विधेयक का रिपोर्ट सोपान (Report Stage) पूरा हो जाता है।

तृतीय वाचन—अन्त में विधेयक सदन के कार्यक्रम मे किसी एक दिन और तृतीय वाचन के लिये रखा जाता है। तृतीय वाचन मुख्यतया औपचारिक होता है। इसमे विधेयक में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही किया जा सकता। तथापि विधेयक मे यदि कोई अस्पष्ट शब्द या वाक्य हो तो उन्हे स्पष्ट किया जा सकता है। इस वाचन के बाद विधेयक सदन द्वारा पारित समझा जाता है। अब उस सदन का अध्यक्ष विधेयक के पारित हो जाने को प्रमाणित करके उसे दूसरे सदन में पारित होने के लिए भेज देता है। वहाँ भी वह इसी प्रक्रिया (Procedure) से पारित किया जाता है। दूसरे सदन मे भी विधेयक उसी के रूप में जिसमें वह पहले सदन से आया था, पारित हो जाने के बाद उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। इस स्वीकृति के मिल जाने के उपरान्त वह विधेयक विधि या कानून बन जाता है।

सदनों में मतभेद—ऊपर, विधि बनाने की सामान्य प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। किसी भी विधेयक को विधि बनने के लिए इन सब सोपानो को पार करना पड़ता है। परन्तु कभी-कभी बीच मे कुछ जटिलताएँ या कठिनाइयाँ भी उपस्थित हो सकती हैं जिनके कारण प्रक्रिया कुछ और लम्बी हो जाती है। उदाहरणार्थ कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि कोई विधेयक जिस रूप मे एक सदन मे पारित हुआ है, दूसरे सदन मे उस रूप मे पारित न हो सके या बिल्कुल ही अस्वीकृत कर दिया जाय। ऐसी दशा मे या तो दोनों सदनों की संयुक्त समिति की सहायता से मतभेदो को दूर करने का यत्न किया जाता है या विधेयक को एक सदन से दूसरे सदन मे बार-बार तब तक भेजा जाता है जब तक सभी मतभेद दूर न हो जायँ। इस प्रकार भी यदि मतभेद नहीं दूर होते तो राष्ट्रपति

के आदेश से दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आयोजित किया जाता है और उसमें विधेयक के विषय में अन्तिम निर्णय कर लिया जाता है। इसके बारे में हम गत अध्याय में विचार कर आये हैं।

राष्ट्रपति की स्वीकृति—दोनों सदनों द्वारा विधेयक पारित कर दिये जाने के बाद भी राष्ट्रपति किसी विधेयक पर सम्मति देने से इनकार कर सकता है अथवा कह सकता है कि संसद विधेयक पर पुनर्विचार करे। इस द्वितीय दशा में यदि संसद संशोधन सहित अथवा बिना संशोधन के विधेयक को पुनः पारित कर दे तो राष्ट्रपति को अपनी स्वीकृति देनी पड़ती है।[1]

विचाराधीन विधेयकों पर विघटन का प्रभाव—लोकसभा के विघटन से भी जटिलताएँ उत्पन्न हो सकती हैं। यदि लोकसभा विघटित कर दी जाती है तो उसके विचाराधीन समस्त विधेयक स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं। वे विधेयक भी समाप्त हो जाते हैं जो लोकसभा में तो पारित हो चुके होते हैं परन्तु राज्य सभा के विचाराधीन हैं। पर वे विधेयक समाप्त नहीं होते हैं जिनके सम्बन्ध में लोकसभा के विघटन के आदेश की तिथि के पूर्व ही दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन बुलाये जाने की विज्ञप्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रकाशित की जा चुकी हो। कोई विधेयक जो राज्य-सभा द्वारा पारित हो चुका हो लेकिन लोकसभा में पारित न हुआ हो, लोकसभा के विघटित हो जाने से समाप्त नहीं होत' सत्रावसान (Prorogation) से कोई विधेयक किसी सदन में समाप्त नहीं होता।[2]

गैर सरकारी विधेयक—गैरसरकारी, अर्थात् मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य साधारण सदस्यों द्वारा प्रस्तुत विधेयकों के पारित होने के लिए भी वही प्रक्रिया है जो सरकारी विधेयकों के लिए। लेकिन गैरसरकारी विधेयकों पर उनके लिए नियत समय के अन्तर्गत ही विचार किया जा सकता है। इसलिए उनकी प्रगति अपेक्षाकृत मन्द होती है। यदि किसी गैर सरकारी विधेयक का सरकार विरोध करे तो उसके पारित होने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। इसलिए सदस्यों के अपने निजी विधेयकों को पारित कराने के लिए जहाँ तक सम्भव हो या तो सरकार का समर्थन या कम से कम उसकी तटस्थता प्राप्त कर लेनी आवश्यक है।

ब्रिटेन की भाँति हमारे यहाँ व्यक्तिगत (Private) विधेयकों के लिए कोई अलग प्रक्रिया (Procedure) नहीं है।

वित्तीय प्रक्रिया (The Financial Procedure)

धन विधेयक—वित्तीय या धन विधेयकों की प्रक्रिया साधारण विधेयकों से भिन्न है।

[1]अनु० १११, [2]अनु० १०७ (३), (४) और (५) तथा अनु० १२८ (५)

धन विधेयक वे विधेयक हैं जिनका सम्बन्ध केवल निम्नलिखित विषयों में से किसी से हो—[1]

(क) किसी कर का लगाना, परिवर्तन या समाप्ति आदि,

(ख) ऋण या भारत सरकार पर आर्थिक भार डालने वाली अन्य कोई बात,

(ग) भारत की संचित या आकस्मिकता निधि को सुरक्षित रूप से रखने (Custody) या उसमे से धन निकालने की व्यवस्था,

(घ) भारतीय संचित निधि (Consolidated Funds) पर किसी व्यय का भार रखना, या उसमे से किसी व्यय के लिए धन देने की स्वीकृति,

(ङ) सरकारी हिसाब मे धन जमा करना या उसमे से खर्च और सरकारी हिसाब की जाँच (Audit) आदि,

(च) इससे सम्बन्धित कोई विषय।

संक्षेप मे धन विधेयक वह विधेयक है जिसका सम्बन्ध संघ की आय, व्यय, निधियों, हिसाब किताब और उसकी जाँच आदि मात्र से हो। 'केवल' या 'मात्र' शब्द का प्रयोग इस सम्बन्ध मे इसलिए किया गया है जिससे धन विधेयकों में अन्य विषयों से सम्बन्धित कोई धाराएँ न जोड़ी जा सके, और साधारण वाले धन विधेयकों की-सी अपेक्षाकृत सुगम प्रक्रिया से कानून का रूप न प्राप्त कर सके। कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, इसका निर्णय लोकसभा का अध्यक्ष करता है और उसका निर्णय इस सम्बन्ध मे अंतिम होता है।[2]

आयव्ययक (The Budget)—यद्यपि छोटे-मोटे धन विधेयक समय-समय पर प्रस्तुत होते रह सकते हैं, तथापि इनमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण और व्यापक वार्षिक आयव्ययक या बजट (The Annual Budget) होता है जिसमे संघ के आगामी वर्ष की आय तथा व्यय के अनुमान या अन्दाजे (Estimates) दिये रहते हैं। आय-व्ययक एक धन विधेयक न होकर एक प्रकार से उनका सामंजस्यपूर्ण समूह सा होता है। हमारे देश मे आयव्ययक को दो भागो मे तैयार करने की परिपाटी है। इनमे पहला भाग तो रेलवे आयव्ययक (Railway Budget) होता है और दूसरा साधारण आयव्ययक (General Budget)। रेलवे आयव्ययक मे केवल रेलो की आय और व्यय राशियाँ होती हैं। रेलो का प्रबन्ध स्वतन्त्र व्यावसायिक आधार पर हो सके, इसीलिए उनका आयव्ययक अलग कर दिया गया है। साधारण आयव्ययक रेलों को छोड़ कर अन्य विभागो के अनुमानों से सम्बन्धित होता है। परन्तु दोनों आयव्ययकों को पारित करने की प्रक्रिया समान ही है। इनमे एकमात्र अन्तर यही है कि रेलवे

[1] अनु० ११०, [2] अनु ११० (३)

आयव्ययक रेल मन्त्री द्वारा और साधारण आयव्ययक वित्तमन्त्री द्वारा उपस्थित किया जाता है।

आयव्ययक भाषण (The Budget Speech)—आयव्ययक या संविधान के शब्दों मे 'वार्षिक वित्तीय विवरण' लोक सभा मे वित्तमन्त्री द्वारा उपस्थित किया जाता है। इसे उपस्थित करते समय वित्तमन्त्री एक भाषण देते हैं। इस भाषण की सामान्यतः सब लोगो और विशेषकर व्यावसायिक और वित्तीय क्षेत्रो मे बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है क्योंकि इससे आगामी वर्ष मे लगाये जाने वाले सरकारी करो के प्रस्तावों की प्रथम सूचना मिलती है। इन प्रस्तावो द्वारा न केवल यही ज्ञात होता है कि कौन-कौन से नये कर लगेंगे और जनता पर कर-भार कितना रहेगा अपितु यह भी ज्ञात होता है कि आयात-निर्यात कर की प्रवृत्तियाँ क्या रहेंगी तथा देश के भिन्न-भिन्न उद्योगों को संरक्षण आदि मिलेगा। आयव्ययक भाषण काफी लम्बा होता है। अतः उसकी मुद्रित प्रतियाँ सदस्यों मे वितरित कर दी जाती हैं।

आयव्ययक या वार्षिक वित्तीय विवरण राज्य सभा के समक्ष भी उपस्थित किया जाता है। राज्य-सभा मे इस पर केवल विचार या वाद-विवाद ही हो सकता है। इस सदन को उस पर स्वीकृति या अस्वीकृति देने का कोई अधिकार नहीं है।

संसद द्वारा आयव्ययक पर विचार—संसद को अपनी वित्तीय प्रक्रिया को नियमित करने का अधिकार है और उसके ऐसा करने तक लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा संशोधित पुरानी प्रक्रियानुसार ही काम चलाने की व्यवस्था है।[1] गणतन्त्र की स्थापना के उपरान्त कुछ संशोधनो की घोषणा की गई थी जिनके फलस्वरूप भारतीय संसद की वित्तीय प्रक्रिया बहुत कुछ ब्रिटिश कामन्स सभा की वित्तीय प्रक्रिया की-सी हो गई है।

पारित होने के लिए आयव्ययक को पाँच सोपानो पर होकर जाना पड़ता है। वे ये हैं: (१) आयव्ययक का लोकसभा के समक्ष उपस्थित किया जाना, (२) सामान्य वाद-विवाद, (३) माँगों की स्वीकृति, (४) व्यय स्वीकृति विधेयक (Appropriation Bill) पर विचार तथा उसका पारण और (५) कर-प्रस्तावो अर्थात् वित्त विधेयक पर विचार तथा उनका पारण।

सामान्य वाद-विवाद (General Discussion)—हम आयव्ययक के उपस्थित किये जाने का पहले ही वर्णन कर आये हैं। उपस्थित किये जाने के कुछ समय बाद आयव्ययक पर सामान्य वाद-विवाद आरम्भ होता है। इस वाद-विवाद के लिए दो-तीन दिन दिये जाते हैं। वाद-विवाद आयव्ययक के मूल सिद्धान्तों या नीति ही पर होता

[1] अनु० ११८ (२) और ११९

है। इस समय विस्तार की बातों पर विचार नहीं किया जाता और न कोई कटौती का प्रस्ताव ही उपस्थित किया जा सकता है। आयव्ययक पर यह सामान्य वाद-विवाद दोनों सदनों में होता है।

वाद-विवाद की यह प्रथा पहले की उस परम्परा का अवशेषांश है जब भारतीय विधानमंडल को आयव्ययक की स्वीकृति का अधिकार न होकर उस पर विचार और वाद-विवाद मात्र का अधिकार था। इस प्रथा को वर्तमान संविधान में भी बनाये रखा गया है क्योंकि इससे कुछ लाभ हैं जैसे इस वाद-विवाद द्वारा सदस्यों को आय सम्बन्धी अनुमानों तथा सरकार के धन-प्राप्ति के उपायों और साधनों के कार्यक्रम पर विचार का अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त सदस्य इसके द्वारा संचित निधि में से होने वाले व्यय (Charged expenditure) पर भी जो लोक सभा की स्वीकृति के लिए उसके समक्ष नहीं लाये जाते, अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

माँगों पर मतदान—सामान्य वाद-विवाद के उपरान्त लोकसभा विभिन्न माँगों पर स्वीकृति देने का काम प्रारम्भ करती है। इसका अर्थ यह है कि आयव्ययक के व्यय पर ही पहिले विचार और मतदान होता है। यह बात सावधानी से समझ लेनी चाहिए कि सरकारी व्यय की मंजूरी की शक्ति केवल लोकसभा को ही है। राज्य-सभा इस संबंध में कुछ भी नहीं कर सकती। आयव्ययक पर मतदान करते समय लोकसभा सभा ही के रूप में बैठती है। कामन्स सभा (House of Commons) की भाँति सम्पूर्ण सदन की समिति (The Committee of the Whole House) के रूप में नहीं। वास्तव में हमारे देश में सम्पूर्ण सदन समिति की प्रक्रिया का किसी भी संसदीय कार्य में प्रयोग नहीं होता।

माँगों पर मतदान के लिए ब्रिटेन में २६ दिन दिये जाते हैं परन्तु भारत में यह कार्य ८ से १२ दिन के अन्दर ही सम्पन्न करा लिया जाता है। अरबों रुपयों के व्यय के सम्बन्ध में इतने ही थोड़े समय में लोक सभा को अपनी स्वीकृति दे देनी पड़ती है। इसका यह अर्थ है कि बहुत-सी माँगों पर बिना वाद-विवाद के ही स्वीकृति दे दी जाती है। होता यह है कि लोक सभा के अध्यक्ष सदन के नेता अर्थात् प्रधान मन्त्री के परामर्श से प्रत्येक माँग या माँगों के समूहों के पारित करने के लिए समय निर्धारित कर देते हैं। वाद-विवाद पूर्ण हुआ या न हुआ हो, निर्धारित काल के समाप्त होते ही वह समाप्त कर दिया जाता है और उक्त माँग या माँगों पर मत ले लिया जाता है। इसी प्रकार नियत अवधि के अंतिम दिन संध्या के ५ बजे जितनी भी माँगें शेष रह जाती हैं, एक साथ सब पर मत ले लिए जाते हैं चाहे उन पर विचार हुआ हो या नहीं, और कार्य समाप्त कर दिया जाता है। माँगों की मञ्जूरी के सम्बंध मे एक मुख्य बात यह है कि बिना राष्ट्रपति के सिफारिश के, धन की कोई माँग लोकसभा के

सामने नहीं की जा सकती। इसका व्यावहारिक तात्पर्य यह है कि सदन के सदस्य आयव्ययक में प्रस्तावित व्यय की किसी माँग को न तो बढ़ा सकते हैं और न कोई नई माँग प्रस्तुत कर सकते हैं क्योंकि वैधानिक दृष्टि से सभी माँगें सदन के समक्ष राष्ट्रपति की सिफारिश से ही आ सकती हैं। सदस्य किसी माँग को केवल अस्वीकार कर सकते है या उसे घटा सकते हैं। वास्तव में जब तक मंत्रिमण्डल किसी व्ययराशि या शीर्षक के सम्बन्ध मे कटौती का प्रस्ताव स्वीकार न कर ले तब तक लोकसभा माँगो की राशि को घटा भी नहीं सकती, क्योंकि वैसा करना मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास का द्योतक है। यथार्थता यह है—माँगो पर वाद-विवाद के समय आयव्ययक की मदों और व्यय-राशियों के सम्बन्ध में वित्तीय दृष्टि से विचार ही नहीं किया जाता किन्तु जिस विभाग की माँग विचाराधीन होती है उसके प्रशासन के विरुद्ध असतोष प्रकट किया जाता है तथा आलोचना की जाती है। आयव्ययक के किसी मद के व्यय के अनुमान को ज्यों ही विचार के लिए उपस्थित किया जाता है त्यों ही कोई सदस्य उठकर उसमें एक रुपये या सौ रुपये की कटौती का प्रस्ताव रखता है और उस प्रस्ताव पर बोलते हुए ही वह सम्बन्धित विभाग के प्रशासन की आलोचना कर डालता है। अन्त में जब सारे आलोचनात्मक भाषण समाप्त हो जाते हैं तो विभाग का अध्यक्ष मन्त्री उन आलोचनाओं का उत्तर देता है। इस उत्तर मे वह या तो आलोचना में उठाई गई बातों को निस्सार सिद्ध करने का प्रयत्न करता है या यह आश्वासन देता है कि शिकायतों को दूर कर दिया जायगा। इसके बाद साधारणतया कटौती का प्रस्ताव वापस ले लिया जाता है। यदि कटौती का प्रस्ताव वापस नहीं लिया जाता तो मन्त्रिमण्डल के पीछे लोकसभा का जो बहुमत होता है वह मतदान मे उस प्रस्ताव को पराजित कर देता है। सदस्य भी इस बात को जानते हैं; इसलिए उनकी कटौती का प्रस्ताव भी केवल सांकेतिक होता है। उस प्रस्ताव का उद्देश्य मितव्ययता नहीं होता किन्तु केवल वाद-विवाद छेड़ना होता है। सामान्यतः व्यय सम्बन्धी अनुमान जिस रूप मे वित्तमन्त्री द्वारा उपस्थित किये जाते हैं, उसी रूप में पारित कर दिये जाते हैं।

संचित निधि वाले व्यय (Consolidated Fund Charges)—व्यय के अनुमानों का एक वर्ग ऐसा भी होता है जिस पर लोकसभा की वार्षिक स्वीकृति नहीं ली जाती। उस पर केवल वाद-विवाद हो सकता है।[1] यह वर्ग संचित निधिवाले व्ययों का वर्ग कहलाता है। इस वर्ग में राष्ट्रपति का वेतन तथा उसका अन्य व्यय, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन, उभय सदनों के सभापति और अध्यक्ष (और उप सभापति तथा उपाध्यक्ष) तथा भारत के महालेखा नियन्त्रक और परीक्षक के वेतनादि, भारत के सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी व्यय (जैसे ब्याज आदि); कुछ विशिष्ट पेन्शनें;

[1]अनु० ११३ (१)

किसी भी मध्यस्थ न्यायाधिकरण या न्यायालय की आदेशों की पूर्ति में व्यय होने वाली राशियां या ऐसा कोई व्यय जिसे संसद विधि द्वारा संचित निधि वाला व्यय घोषित कर दे इत्यादि सम्मिलित हैं।[1] इन व्ययराशियों को लोकसभा की वार्षिक स्वीकृति से इसलिए मुक्त रखा गया है, कि ये अनिवार्य और अपरिवर्तन-शील-सी हैं। उनमे साधारणतया कोई घट-बढ नही हो सकती। शेष व्यय संबंधी अनुमानों पर सदन का मत व उसकी स्वीकृति ली जाती है।

व्यय विधेयक (Appropriation Bill)— समस्त मांगों के संबन्ध मे लोकसभा मे जब मतदान का कार्य समाप्त हो जाता है तब उन मांगो को संचित निधिवाले व्ययो के सहित एक विधेयक के रूप मे सदन के समक्ष उपस्थित किया जाता है। यह विधेयक व्यय-विधेयक (The Appropriation Bill) कहलाता है। यह भी अन्य विधेयकों की भांति ही पारित किया जाता है। इसमे और अन्य विधेयकों की प्रक्रिया मे केवल यही अन्तर रहता है कि इसमे सम्मिलित मांगे तथा संचित निधिवाले व्यय लोकसभा की पहले ही स्वीकृति प्राप्त कर चुके होते है। अतः उनमे संशोधन या कटौती का कोई प्रस्ताव उपस्थित नही किया जा सकता।[2] इस विधेयक के पारित होने के बाद लोकसभा का अध्यक्ष प्रमाणित कर देता है कि यह धन विधेयक है और तब वह राज्य-सभा मे भेज दिया जाता है। राज्य-सभा को धन विधेयकों को संशोधित या अस्वीकृत करने की शक्ति नही है। द्वितीय सदन केवल उन पर विवाद कर सकता है तथा १४ दिन के भीतर उन पर अपनी सिफारिशें लोकसभा के पास भेज सकता है। लोकसभा चाहे तो उन सिफारिशो को माने और न चाहे तो अस्वीकार कर दे। कुछ भी हो, लोकसभा द्वारा पारित धन विधेयक १४ दिन बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए उनके पास भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति धन-विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस नही कर सकते। उन्हे अपनी अनुमति देनी ही पड़ती है।[3] व्यय विधेयक को पारित करने का उद्देश्य सदन द्वारा स्वीकृत व्ययराशियो या मांगो को कानून का रूप देना होता है जिससे महालेखा परीक्षक और नियन्त्रक का कार्य आसान हो जाय।

करो की स्वीकृति और आय विधेयक (Finance Bill)—व्यय विधेयक के पारित होने और उसके कानून बन जाने के पश्चात् आयव्ययक के व्यय पक्ष का कार्य समाप्त हो जाता है। लेकिन व्यय के लिए रुपया भी चाहिए। यह रुपया कहां से आवे ? इसके लिए कर लगाये जाते हैं। प्रत्येक कर को प्रतिवर्ष नही लगाना पड़ता। कुछ कर स्थायी होते हैं। जिन कानूनो द्वारा वे लगाये गये हैं उन्ही की व्यवस्था के अनुसार इनकी दरो मे थोड़ा-बहुत अन्तर समय-समय पर कार्यपालिका द्वारा किया जा सकता है। अन्य करों

[1]अनु० ११२ (३), [2]अनु० ११४, [3]अनु० १११

की दर विधानमंडल द्वारा प्रतिवर्ष तय की जाती है जैसे आय कर, आयात-निर्यात कर, आदि। आगामी वर्ष के लिये सरकार के करो सम्बन्धी समस्त प्रस्ताव एक विधेयक के रूप में विधानमडल के समक्ष उपस्थित किये जाते है। इस विधेयक को आय विधेयक (Finance Bill) कहते हैं। आय विधेयक के पारित होने की वही प्रक्रिया है जो अन्य धन-विधेयकों के लिए निर्धारित है। व्ययविधेयक की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे हम ऊपर उसका वर्णन कर आये हैं, लेकिन व्यय विधेयक और आयविधेयक की प्रक्रिया में थोडा अन्तर है जो समझ लिया जाना चाहिए। व्यय विधेयक में, जैसा कहा जा चुका है, कोई संशोधन किसी भी सदन मे उपस्थित ही नही किया जा सकता लेकिन आयविधेयक मे सम्मिलित किसी भी कर को अस्वीकृत करने या घटाने का संशोधन उपस्थित किया जा सकता है, और इन संशोधनो को कभी-कभी सरकार स्वीकार भी कर लेती है। परन्तु कोई सदस्य बिना राष्ट्रपति की अनुमति के किसी कर को लगाने या उसकी दर में वृद्धि करने का प्रस्ताव नही रख सकता। इस अन्तर को छोड़कर आयविधेयक भी अन्य धन विधेयको की ही भाँति पारित होता है। सामान्यतः आयविधेयक प्रवर-समिति (Select Committee) को भी सौंपा जाता है।

पूर्वानुदान (Votes on Account)—गणतंत्र के उद्घाटन के पूर्व यह आवश्यक था कि पहली अप्रैल के पूर्व विधानमण्डल आयव्ययक पारित कर दे, क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो नया वर्ष बिना किसी वित्त व्यवस्था के ही प्रारंभ होता। लेकिन अब संसद इस काल सीमा से बाध्य नही है। वह आयव्ययक को पारित करने में इच्छानुसार समय ले सकती है और नया वित्तीय वर्ष आरम्भ हो जाने के उपरांत भी वाद-विवाद चलता रहता है। ऐसा 'पूर्वानुदान' (Votes on Account) की पद्धति के कारण यह सम्भव हो सका है। पूर्वानुदान का अर्थ है उतने धन-राशि की पेशगी मंज़ूरी जो नये वित्तीय वर्ष के आरम्भ अर्थात् एक अप्रैल से आयव्ययक के पारित होने के समय तक के सरकारी व्ययों की पूर्ति के लिए आवश्यक हो।[1]

प्रत्यानुदान और विशेष अनुदान (Votes on Credit and Special Grants)—लोकसभा ऐसे व्ययो के लिए जिनकी धन-राशि का पूर्व अनुमान बनाना संभव नहीं है, प्रत्ययानुदान भी दे सकती है। ऐसे अनुदानों की आवश्यकता युद्ध की आशंका होने आदि जैसे अवसरो पर पडती है। विशेष अनुदान (Special grants) वह हैं जो किसी वर्ष मे चालू किसी योजना के व्यय का भाग नही होता।[2] यदि कोई ऐसी आवश्यकता सहसा उत्पन्न हो जाय जो अभी तक बतलाये गये किसी प्रकार के अनुदान से पूरी न की जा सके तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह आकस्मिकता निधि (Con-

[1] अनु० ११६ (१) (क), [2] अनु० ११६ (१) (ख) और (ग)

tingency Fund) से आवश्यक धन निकाल कर उस आवश्यकता की पूर्ति कर दे। यह धन एक पेशगी के रूप मे दिया जाता है। बाद में इसके लिए संसद की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती है।

अनुपूरक अनुदान (The Supplementary Grants)— आयव्ययक पारित हो जाने के बाद वित्तीय वर्ष के बीच मे यदि यह जान पड़े कि किसी बात या मद के लिए स्वीकृत अनुदान अपर्याप्त है या किसी नई बात पर व्यय करना अनिवार्य हो गया है या किसी मद मे स्वीकृत राशि से अधिक व्यय हो गया है तो सदन के सामने एक अनुपूरक वित्तीय विवरण (Supplementary financial statement) उपस्थित किया जाता है। यह भी अन्य व्यय-विधेयकों की भाँति ही पारित किया जाता है।[1]

भारत की संचित निधि (The Consolidated Funds of India)— एक अपवाद के अतिरिक्त भारत सरकार की विभिन्न साधनो से होनेवाली समस्त आय भारत की संचित निधि (The Consolidated Fund of India) मे एकत्र जमा की जाती है और विधि-सङ्गत समस्त सरकारी व्ययों का भी भुगतान इसी निधि मे से किया जाता है। व्यय-विधेयक द्वारा दी हुई संसद की मंजूरी के बिना सञ्चित निधि में से किसी को किसी भी कार्य के लिए एक पाई भी नहीं दी जा सकती।

भारत की आकस्मिकता निधि—(The Contingency Fund of India)—हमने ऊपर कहा था कि एक अपवाद के अतिरिक्त समस्त सरकारी आय भारत की सञ्चित निधि (The Consolidated Fund of India) में जमा होती है। यह अपवाद भारत की आकस्मिकता निधि है। यह निधि एक स्थायी पेशगी (Imprest or Permanent Advance) के रूप में बराबर राष्ट्रपति के पास रहती है। इस निधि मे मे संसद की स्वीकृति प्राप्त होने की आशा पर राष्ट्रपति किसी भी आकस्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए धन पेशगी दे सकता है। इस निधि की स्थापना संसद की एक विधि द्वारा की गई है और संसद ही समय-समय पर यह तय करती है कि इसमे कितनी रकम जमा की जाय। इस निधि मे से देना-लेना नियत्रक और महा-लेखा परीक्षक द्वारा न होकर राष्ट्रपति द्वारा होता है। सन् १९५० के आकस्मिकता निधि अधिनियम (Contingency Fund Act 1950) के अनुसार इस निधि की १५ करोड़ रुपये से स्थापना की गई है।

नियंत्रक और महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India)—नियत्रक और महालेखा परीक्षक का यह कर्तव्य है कि भारत

---

[1] अनु० ११५।

की सञ्चित निधि में से उस समय तक कोई राशि न दे जब तक संसद द्वारा पारित व्यय-अधिनियम द्वारा उसकी मंजूरी न हो चुकी हो। विभिन्न विभागों की व्यय की माँगें ज्यों ज्यों आती रहती हैं त्यों-त्यों नियंत्रक और महालेखा परीक्षक उनका आय-व्ययक तथा व्यय-अधिनियम से मिलान करता जाता है। यदि माँग स्वीकृति अनुदानों के अनुसार व उनके अन्तर्गत होती है तो नियंत्रक और महालेखा परीक्षक उसके भुगतान की आज्ञा देता है, अन्यथा नही। नियंत्रक महालेखा की आज्ञा बिना भारत की सञ्चित निधि से कोई राशि नही निकाली जा सकती।

इस प्रकार नियंत्रक और महालेखा परीक्षक संसद का प्रहरी-सा है जो निरन्तर देखता रहता है कि आयव्ययक द्वारा प्रकाशित संसद की इच्छा का पालन हो रहा है या नही। नियत्रक और महालेखा परीक्षक अपने कर्तव्य का पालन निष्पक्षता और निर्भयता से कर सकें, इसलिये उनकी स्थिति को पूर्णतः स्वतन्त्र बना दिया गया है। उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति के हस्ताक्षर और मुद्राङ्कण द्वारा होती है। उनके वेतन तथा भत्ते सीधे भारत की सञ्चित निधि मे से दिये जाते हैं और उसके कार्यकाल में इनमे कोई कमी नही की जा सकती। उसे तब तक उसके पद से नही हटाया जा सकता जब तक ससद के दोनो सदन राष्ट्रपति से इस आशय का अनुरोध न करें, जैसा कि उन्हे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाने के लिए करना पड़ता है। अपने पद से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त नियत्रक और महालेखा परीक्षक सङ्घ या राज्य किसी भी सरकार के अन्तर्गत कोई लाभ का पद ग्रहण नही कर सकता।[1]

भारत की सञ्चित निधि मे से होनेवाले खर्च की चौकसी रखने के अतिरिक्त नियंत्रक और महालेखा परीक्षक सङ्घ तथा राज्यो के हिसाब-किताब (Accounts) की जाँच (Audit) का महत्वपूर्ण कार्य भी करता है। वह सङ्घीय सरकार के हिसाब की जाँच की रिपोर्ट (Audit Reports) तैयार कर राष्ट्रपति को देता है। इसके बाद वह संसद के दोनो सदनों के समक्ष उपस्थित की जाती है।[2]

अनुमान समिति (The Estimates Committee)—अनुमान समिति का सविधान मे कोई उल्लेख नही है, फिर भी यह समिति ब्रिटेन की संसदीय वित्त व्यवस्था का एक आवश्यक अङ्ग समझी जाती है और तदनुसार ही भारत में भी इसकी रचना की गई है। इस समिति का कार्य प्रत्येक विभाग के वास्तविक खर्च की जाँच करके जहाँ कहीं उनमे मितव्ययता की गुजायश हो उसे बतलाना है। ससद द्वारा पारित आयव्ययक मे स्वीकृत अनुदान केवल इस बात की ओर सङ्केत करते हैं कि विभिन्न मदों पर अधिक से अधिक उतना धन व्यय किया जा सकता है। उनका यह अर्थ नही

[1] अनु० १४८, [2] अनु० १४६, १५० १५१।

है कि किसी कार्य के लिए संसद जितनी धनराशि स्वीकृत कर दे वह सब की सब ही खर्च हो जानी चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, मितव्ययता होनी चाहिए। और नये-नये कार्यों में होने वाले अपव्यय को खोज-खोज कर रोका जाना चाहिए। संसद इसी विश्वास के आधार पर आयव्ययक में माँगी रकमों को बिना विवाद और बिना कमी किये हुए मजूर करती है।

केन्द्रीय अनुमान समिति (Estimates Committee) में २५ सदस्य होते हैं। इनका निर्वाचन संसद अपने सदस्यों में से ही एकल संक्रमणीय आनुपातिक मत द्वारा करती है, जिससे सभी संसदीय दलों को इस समिति में अपनी संख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाय। लोकसभा का अध्यक्ष समिति के सदस्यो में से ही किसी एक को उसका सभापति बना देता है। किन्तु यदि लोकसभा का उपाध्यक्ष भी अनुमान समिति का सदस्य हो तो फिर वही इसका सभापति होता है। उस समिति की कालावधि केवल वर्ष भर की होती है। अस्तु, प्रत्येक सत्र (Session) के आरंभ मे इस समिति का पुनर्गठन होता है, परन्तु पुराने सदस्यो मे से बहुतो को इस समिति में बार-बार निर्वाचित कर देने की प्रथा चल पड़ी है। इस प्रकार पुराने सदस्यों का अनुभव प्रत्येक नई समिति को प्राप्त होता रहता है।

समिति प्रतिवर्ष किसी न किसी मंत्रालय या विभाग के अनुमानो (Estimates) की जाँच-पड़ताल करती रहती है और अपनी रिपोर्ट में जहाँ-जहाँ सम्भव होता है, मितव्ययता सम्बन्धी सुझाव भी देती रहती है। सन् १९५४ तक अनुमान समिति ने ऐसी ९ रिपोर्टें दी हैं, जिनमे मितव्ययता की सिफ़ारिशो के साथ-साथ शासन-संगठन और कार्यप्रणाली सम्बन्धी सुधार भी बतलाये गये है। सम्बन्धित विभाग इन सुझावो पर विचार करके उन्हे मान्य या अमान्य करते है।

सार्वजनिक लेखा समिति (The Public Accounts Committee)—सार्वजनिक लेखा समिति की रचना संसद के प्रथम सत्र (First Session) के आरम्भ मे की जाती है। अभी (सन् १९५४ तक) इस समिति में १५ सदस्य थे। इन सदस्यो का निर्वाचन भी अनुमान समिति के सदस्यों की भाँति संसद अपने सदस्यों मे से एकल सक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है। अभी हाल ही (१९५४) मे इस समिति मे राज्य-सभा के भी सात सदस्य सम्मिलित कर लिये गये हैं। ब्रिटेन मे इस समिति का सभापति विरोधी दल के किसी प्रमुख सदस्य को बनाया जाता है; किन्तु भारत मे अभी तक सत्तारूढ दल ही का कोई व्यक्ति इसका सभापति चुना जाता है। नियत्रक और महालेखा परीक्षक द्वारा केन्द्रीय हिसाब-किताब की जाँच करके उस पर रिपोर्ट (Audit report) दे देने के बाद यह समिति नियंत्रक और महालेखा परीक्षक की सहायता से और उसकी रिपोर्ट के आधार पर सरकारी हिसाब की

जाँच करती है। जिन विभागों के हिसाब में गड़बड़ी या अनियमितता पाई जाती है उनके अध्यक्षों या अन्य कर्मचारियो को समिति अपने सामने बुलाकर जवाब और स्पष्टीकरण माँगती है। इसके बाद समिति संसद को अपनी रिपोर्ट देती है जिसमे वह बतलाती है कि सरकारी व्यय आयव्ययक द्वारा दिये गये ससद के आदेशो का पालन किस मात्रा मे हुआ है और किन बातो मे नही तथा भविष्य मे ससद की इच्छा के प्रतिकूल व्ययो को रोकने के लिए क्या कार्रवाई की जानी चाहिये। समिति सरकार के अनुचित अथवा सदिग्ध वित्तीय कार्यों की निन्दा भी करती है और वित्तीय मामलो में मितव्ययता और औचित्यपूर्ण कार्य प्रणाली के अनुसरण पर जोर देती है।

ब्रिटेन और भारत की वित्तीय प्रक्रियाओं की तुलना—यद्यपि भारत की वित्तीय प्रक्रिया ब्रिटिश प्रक्रिया के अनुसार निर्मित की गई है तथापि दोनो मे कई महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि ब्रिटेन का आयव्ययक दो भागों में विभक्त करके बनाया, उपस्थित या पारित नही किया जाता जैसा कि भारत में होता है। यहाँ सबसे पहले रेल आयव्ययक उपस्थित और पारित होता है। और फिर साधारण आयव्ययक दूसरे ब्रिटेन मे आयव्ययक द्वितीय सदन अर्थात् लार्ड सभा मे न तो प्रस्तुत किया जाता है और न वहाँ उस पर वाद-विवाद ही होता है। भारत मे आयव्ययक दोनो सदनो मे उपस्थित किया जाता है और दोनो ही मे उस पर विचार भी होता है। तीसरे, ब्रिटेन मे आयव्ययक का माँग या व्ययक सबधी भाग कामन्स सभा की सपूर्ण सदन की समिति (Committee of the Whole House) मे पारित होता है। संपूर्ण सदन की इस समिति को वहाँ पूर्ति समिति (The Committee of Supply) कहा जाता है। इसी प्रकार करो आदि सम्बन्धी आय के भाग को भी सम्पूर्ण सदन की समिति पारित करती है, जिसे साधन समिति (The Committee of Ways And Means) कहा जाता है। भारत मे इस सम्पूर्ण सदन की समिति वाली प्रक्रिया का आयव्ययक के पारित करने के सम्बन्ध मे बिल्कुल प्रयोग नहीं होता। यहाँ लोकसभा ही आयव्ययक को प्रति सोपान मे पारित करती है। चौथे, ब्रिटेन में वित्तमन्त्री (The Chancellor of Exchequer) का भाषण व्ययो की माँगे प्रस्तुत करते समय नही होता, किन्तु बाद मे, जब कि आयव्ययक का आय वाला भाग साधन समिति में प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु भारत मे वित्तमन्त्री का भाषण प्रारम्भ मे ही हो जाता है। पांचवी और अन्तिम बात यह है कि ब्रिटेन मे सार्वजनिक लेखा समिति (The Public Accounts Committee) मे केवल कामन्स सभा के सदस्य ही होते हैं और उसका अध्यक्ष विरोधी दल का कोई सदस्य होता है, जब कि भारत मे इस समिति में संसद में दोनो सदनो के सदस्य रहते हैं और इसका अध्यक्ष सत्तारूढ दल का ही कोई व्यक्ति होता है।

संसद का शासन पर नियन्त्रण

हम देख चुके हैं कि मन्त्रिमंडल संघीय शासन का संचालन करता है और उसके लिए लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। लोकसभा सदन को अविश्वास प्रकट करके मन्त्रिमण्डल को पदत्याग करने को बाध्य कर सकती है। अविश्वास करने की बहुत-सी रीतियाँ हैं, और उनमे से किसी से भी काम लिया जा सकता है। परन्तु अविश्वास प्रकट करके मन्त्रिमंडल से उत्तरदायित्व का पालन कराना अत्यंत उग्र और अन्तिम उपाय है क्योंकि इसके फलस्वरूप या तो मन्त्रिमंडल को पदत्याग करना पड़ता है या देश से अपील करनी पड़ती है। दूसरे, इस पद्धति का प्रयोग राज्यसभा नहीं कर सकती क्योंकि उसे अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने का अधिकार ही नहीं है। तीसरे, आजकल की दलगत व्यवस्था इस प्रकार सञ्चालित होती है कि लोकसभा भी इसका सफल उपयोग कठिनाई से कर पाती है। इन सब बातो के कारण इस बात की आवश्यकता है कि कुछ ऐसे अपेक्षाकृत सुगम उपाय हो जिनके द्वारा सदन मन्त्रिमडल पर अपना दवाव डाल सके तथा उसका नियंत्रण कर सके। ये साधन हैं प्रश्न, प्रस्ताव और वाद-विवाद।

प्रश्न (The Questions)—दोनो सदनो की प्रत्येक बैठक का पहला एक घण्टा प्रश्न पूछने के लिए नियत रहता है। विभिन्न मन्त्रालयो के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछने के लिए सप्ताह के विभिन्न दिन निश्चित रहते हैं। इसके लिय समस्त मंत्रालयो को तीन समूहो मे विभक्त कर दिया गया है, यथा, (१) वैदेशिक विभाग, वैज्ञानिक शोध, वाणिज्य उद्योग और पूर्ति, श्रम विधि और पुनर्वास मत्रालय; (२) कृषि, संचार साधन, खाद्य, रेलपथ, यातायात, लोक निर्माण, खान और विद्युत मत्रालय; (३) प्रतिरक्षा, शिक्षा, वित्त, स्वास्थ्य, गृह, आकाशवाणी और रियासती मन्त्रालय। इस प्रकार उक्त क्रम से प्रत्येक मत्रालय के सम्बन्ध मे प्रति चौथे दिन प्रश्न किये जा सकते हैं। ब्रिटेन मे प्रधान मन्त्री से उसकी सामान्य नीति के बारे मे प्रति दिन प्रश्न किये जा सकते है और मन्त्रियो से उनके विभागो के विषय मे, निश्चित दिनो मे।

प्रत्येक प्रश्न के लिए निश्चित पूर्व सूचना सामान्यत: दो दिन की देनी होती है जिससे प्रश्न का उत्तर तैयार किया जा सके। प्रश्न कुछ निश्चित नियमो के अनुसार ही पूछे जा सकते हैं। जो प्रश्न नियमानुकूल नहीं होते उनको पूछने की अनुमति नहीं दी जाती। उदाहरणार्थ प्रश्न द्वारा कोई ऐसी सूचना नही माँगी जानी चाहिए जो किसी सरकारी कागज-पत्र में देखने से मिल सकती हो। कोई ऐसा भी प्रश्न नही पूछा जाना चाहिए जो हाल ही में किये गये किसी प्रश्न के समान हो। ऐसा भी प्रश्न नहीं होना चाहिए जिसका उद्देश्य तर्क या बहस हो। प्रश्न का सम्बन्ध किसी न्यायाधीश या

मैजिस्ट्रेट के आचरण से भी नहीं होना चाहिए। जो प्रश्न इन मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं उनको सदन के अधिकारी अलग कर देते हैं और वे सदन के कार्यक्रम (The Order Paper) में आने ही नहीं पाते। तथापि चतुर सदस्य बहुधा प्रश्न इस तरह पूछते हैं कि इन प्रतिबन्धों का कोई उलंल्घन भी कर जाते हैं और पकड़ में भी नहीं आते।

इन प्रश्नों के उत्तर विभिन्न विभागीय अधिकारियों द्वारा तैयार किये जाते हैं। मन्त्री उन उत्तरों को केवल पढ़ भर देते हैं। यदि प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट या सन्तोषपूर्ण न हो तो अनुपूरक प्रश्न (Supplementary questions) न केवल प्रश्नकर्त्ता द्वारा अपितु सदन के किसी भी सदस्य द्वारा पूछे जा सकते हैं। मन्त्री को इन अनुपूरक प्रश्नों के उत्तर बिना किसी सहायता या पूर्व सूचना के देने पड़ते हैं। अनुपूरक प्रश्नों द्वारा सम्बन्धित मंत्री के प्रत्युत्पन्नमतित्व और प्रतिभा-सम्पन्नता की अत्यन्त कठिन परीक्षा होती है। यदि एक ही प्रश्न के सम्बन्ध मे बहुत से अनुपूरक प्रश्न पूछे जाने लगे तो अध्यक्ष अगले प्रश्न पर बढ़कर अनुपूरक प्रश्नों को रोक सकता है।

मन्त्री प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं हैं। वे किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि उसका उत्तर देना सार्वजनिक हित मे नहीं है। प्रश्न और अनुपूरक प्रश्न इतने अधिक हो सकते हैं कि उनका उत्तर प्रतिदिन एक घण्टे में नहीं दिया जा सकता। ऐसी अवस्था मे शेष प्रश्नो के लिखित उत्तर दे दिये जाते हैं और उनको उस दिन की कार्रवाई की मुद्रित प्रतियों के साथ वितरित कर दिया जाता है। कोई सदस्य किसी दिन, तीन से अधिक प्रश्न नहीं पूछ सकता।

औपचारिक दृष्टि से प्रश्नों का उद्देश्य सूचना प्राप्त करना होता है। लेकिन वास्तव में बहुधा दूसरा ही उद्देश्य होता है। बहुधा प्रश्नों का उद्देश्य सूचना प्राप्त न होकर किसी दल की पगड़ी उछालना होता या अपने दल की वाहवाही दिखलाना होता है, अथवा किसी भ्रष्टाचार, शक्ति के दुरुपयोग या शिकायत की ओर ध्यान आकृष्ट करना होता है।

संसदीय प्रजातंत्र में प्रश्न सरकार पर नियन्त्रण रखने का एक बड़ा ही बहुमूल्य अस्त्र है। प्रश्न के दैनिक घंटे को लोगों ने एक ऐसे प्रकाशपुञ्ज (Searchlight) से तुलना की है जो सरकारी कार्यों के अंधेरे से अंधेरे कोने पर भी प्रकाश डालता है। इसका मन्त्रियों पर बड़ा हितकर प्रभाव पड़ता है। इससे प्रत्येक मन्त्री को सावधान रहना पड़ता है कि वह कोई ऐसा कार्य न करे जिसके सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाने पर समुचित उत्तर न दे सके। सदस्यों को प्रश्नों द्वारा न केवल सूचना प्राप्त करने का अवसर मिलता है अपितु वे उनके द्वारा शासकीय अधिकारों के दुरुपयोग, कर्तव्य-पालन में त्रुटि और जनता के कष्टों और शिकायतों की ओर भी ध्यान आकर्षित कर सकते हैं।

किसी नागरिक को कोई शिकायत हो तो वह अपने संसदीय प्रतिनिधि से उस विषय में प्रश्न कराके उस ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करा सकता है।

प्रस्ताव (The Resolutions)—प्रस्ताव प्रश्नो से दो बातों में भिन्न होते हैं। पहली बात तो यह है कि प्रस्ताव प्रश्नो की भाँति नित्य प्रति उपस्थित नही किये जाते। सदस्यो के निजी विधेयको की भाँति इन पर भी चिट्ठियाँ डाली जाती हैं। अतः प्रस्ताव उपस्थित करने के इच्छुक सभी सदस्यो को प्रस्ताव रखने का अवसर नही मिल पाता। दूसरे, प्रस्तावो का उद्देश्य सूचना प्राप्त करना न होकर सरकार से किसी निश्चित कार्य को करने या किसी विशेष नीति को ग्रहण करने की सिफारिश करना होता है।

प्रश्नो की भाँति ही प्रस्तावों को उपस्थित करने के लिए भी पूर्व सूचना देनी पड़ती है लेकिन इस पूर्व सूचना की अवधि प्रश्नो की अपेक्षा अधिक लम्बी होती है। प्रस्ताव उपस्थित किये जाने पर उस पर वाद-विवाद होता है तथा कोई भी सदस्य उसमे सशोधन उपस्थित कर सकता है। इन प्रस्तावो का भाग्य-निर्णय सरकारी रुख पर निर्भर है। *यदि प्रस्ताव पारित भी हो जाय तो सरकार उसको मानने के लिए बाध्य नही है।* ये प्रस्ताव केवल अनुरोध के रूप मे होते हैं और सरकार उन्हे स्वीकार या अस्वीकार करने में स्वतंत्र है।

किसी सार्वजनिक महत्व के मामले पर विचार करने के लिए काम रोकने के प्रस्ताव (Adjournment motions) अन्य प्रस्तावो से भिन्न कोटि के होते हैं। उनका एक अलग ही वर्ग है। काम रोकने का प्रस्ताव किसी भी दिन प्रश्न काल के बाद [illegible] उपस्थित किया जा सकता है। उस प्रस्ताव का सम्बन्ध किसी प्रश्न के असंतोष-जनक उत्तर या किसी शीघ्र हो हुई सार्वजनिक महत्व की घटना या स्थिति से होता है। यदि इस प्रस्ताव का सम्बन्ध किसी निश्चित, आवश्यक, तथा सार्वजनिक महत्व के मामले से न हो, तो सदन का अध्यक्ष या सभापति उसे नियमविरुद्ध बतला कर अग्राह्य कर देता (Rule it out of order) है। यदि प्रस्ताव मे उठाया गया मामला सघ सरकार के अधिकार क्षेत्र से सम्बन्धित न होकर अन्य किसी अधिकारी जैसे राज्य सरकारों के क्षेत्र मे सम्बन्धित हो अथवा किसी न्यायालय के विचाराधीन हो, तो इन दशाओ में भी उसे अग्राह्य कर दिया जाता है। यदि काम रोकने का प्रस्ताव इन सब कसौटियो पर खरा उतरता है और उसे आवश्यक संख्या मे सदस्यो का समर्थन भी मिल जाता है तो उस पर उस दिन की बैठक के अन्त में वाद-विवाद होता है। यदि काम रोकने का प्रस्ताव पारित हो जाय तो इसका अर्थ होता है कि सरकार की निन्दा हो गयी। इसलिए सरकार बहुधा इस प्रश्न को टाल देने का प्रयत्न ही करती है, अथवा यदि उस पर वाद-विवाद हुआ हो तो यह प्रयत्न करती है कि उसके लिए निश्चित समय वाद-विवाद में समाप्त हो जाय और उस पर मतदान की नौबत न आने पाये। यह कार्य मंत्रिमण्डल या तो अपने बहुमत के

बल से कर लेता है या यह आश्वासन दे कर कि जिन बातो की शिकायतें की जा रही हैं उन्हें दूर कर दिया जायगा।

वाद-विवाद (The Debates)—एक तरह से हम कह सकते हैं कि संसद के सदनों में सदैव किसी न किसी विषय पर वाद-विवाद-ही चला करता है। प्रत्येक विधेयक की धारा, प्रत्येक आयव्ययक के शीर्षक और संसद मे उपस्थित किये जाने वाले प्रत्येक प्रस्ताव पर जो कुछ भी विचार होता है, वह सब वाद-विवाद के रूप में होता है। परन्तु वाद-विवाद (debates) का एक विशिष्ट अर्थ भी होता है और वह है सरकार की किसी विशेष नीति पर विस्तारपूर्वक वाद-विवाद। इस तरह के वाद-विवादो के लिए विशेष रूप से व्यवस्था करनी पड़ती है। इस प्रकार के वाद-विवाद का आयोजन सरकार कभी-कभी स्वयं अपनी ही इच्छा से अपनी किसी नीति पर ससद की राय जानने या समर्थन प्राप्त करने के लिए करती है। इसके अतिरिक्त विरोधी पक्ष के अनुरोध पर भी वाद-विवाद आयोजित किये जा सकते है। संसदीय परम्परा के अनुसार विरोधी दल के नेता की किसी भी नीति के सम्बन्ध में वाद-विवाद किये जाने की माँग को प्रधान मन्त्री कभी अस्वीकार नही करता।

इस तरह वाद-विवादो में विचाराधीन सरकारी कार्य या नीति पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। सदन के प्रत्येक दल के प्रमुख व्यक्ति इस वाद-विवाद में भाग लेते हैं। यह वाद-विवाद दोनों ही सदनो में होता है और उसके अन्त में प्रत्येक सदन अपना निर्णय देता है। इस प्रकार के वाद-विवादो से यह लाभ है कि सरकार को अपनी नीति के किसी भी अंश का विस्तारपूर्वक समर्थन और स्पष्टीकरण करना पड़ता है तथा विभिन्न मतों को जानने का अवसर भी मिल जाता है। विरोधी दल ऐसे वाद-विवाद द्वारा सरकारी नीति की त्रुटियो पर प्रकाश डाल सकता है और रचनात्मक सुझाव भी दे सकता है। सदनों में हुए वाद-विवाद की समाचारपत्रों तथा जनता मे भी चर्चा तथा आलोचना होती है। इस प्रकार सम्बन्धित विषय में जनमत का शिक्षण भी होता है।



राज्य-सरकारें
(The State Governments)

अध्याय ६

पुनर्गठन के पूर्व एककों की सरकारें—राज्य पुनर्गठन कानून तथा संविधान सप्तम संशोधन अधिनियम १९५६ के पारित होने तक भारतीय संघ के एकक तीन प्रकार के थे, अर्थात्

(क) यू० पी०, मद्रास, बम्बई आदि जैसे राज्य जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व गवर्नरों के प्रांत कहलाते थे। प्रथम अनुसूची भाग 'क' में इनका उल्लेख था। इसलिए इन राज्यों को भाग 'क' राज्य कहा जाता था।

(ख) हैदराबाद, मैसूर, राजस्थान, सौराष्ट्र आदि जैसे राज्य या राज्य संघ, जो पहले देशी नरेशों के शासनान्तर्गत थे। इनको भाग 'ख' राज्य कहा जाता था।

(ग) दिल्ली, अजमेर, कुर्ग, मणिपुर, कच्छ आदि जैसे छोटे छोटे प्रदेश जो पहले चीफ कमिश्नरों के अधीन अथवा देशी राज्य थे और जिनकी किसी न किसी बात में विशेष स्थिति थी। इनको भाग 'ग' राज्य कहा जाता था।

राज्यों के प्रथम दो वर्ग अर्थात् भाग 'क' और 'ख' राज्यों के शासनों का स्वरूप केवल उनके अध्यक्षों की पदवी और वेतनादि को छोड़ कर, एक समान ही था। भाग 'क' राज्यों के अध्यक्ष को 'राज्यपाल' (The Governor) कहा जाता था और उसे निश्चित वेतन मिलता था, परन्तु भाग 'ख' राज्य के अध्यक्ष को 'राजप्रमुख' कहा जाता था और उसे भत्तामात्र मिलता था, कोई वेतन नहीं। भाग 'क' और 'ख' राज्यों में एक और अस्थायी अन्तर यह था कि भाग 'ख' राज्यों को संविधान के उद्घाटन की तिथि से लेकर बाद के दस वर्षों (अथवा संसद के नियमानुसार कम या अधिक समय) तक राष्ट्रपति के सामान्य-नियंत्रण और निर्देशन में रहना था[1] जबकि भाग 'क' राज्यों पर ऐसा कोई बन्धन नहीं था। यह अन्तर भाग 'ख' राज्यों की ऐतिहासिक और व्यावहारिक परिस्थितियों का फल था। पहले इन राज्यों का शासन देशी नरेशों द्वारा होता था। स्वतन्त्रता के बाद देशी नरेशों से कहा गया कि वे राष्ट्रीय हित में अपना शासनाधिकार त्याग दें और उसे जनता को सौंप दें। देशी नरेशों ने राष्ट्रीय हित में यह त्याग कर

[1] अनु० ३७१

दिया। भूतपूर्व देशी नरेशों के प्रति सद्भावना की दृष्टि से यह उचित समझा गया कि उनमे से कुछ को जो पहले की अधिक महत्वपूर्ण रियासतों के शासक थे भाग 'ख' राज्यों के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में नियुक्त कर दिया जाय। देशी नरेशों को संवैधानिक अध्यक्ष बनाने की व्यवस्था बुद्धिमत्तापूर्ण सिद्ध हुई। इन नरेशों ने भाग 'ख' के कई राज्यों के अंतर्कालीन मन्त्रिमण्डलों को बहुमूल्य परामर्श और शासन-कार्य सँभालने में सहायता दी। इन राज्यों में पहले कभी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था नहीं थी। इसलिए प्रारम्भ के संक्रमण काल मे इन पर राष्ट्रपति के नियंत्रण की आवश्यकता थी।

भाग 'ग' राज्य वस्तुतः केन्द्र द्वारा शासित थे। उनके शासनाधिकार राष्ट्रपति मे निहित थे। राष्ट्रपति इनका शासन उपराज्यपालों, चीफ कमिश्नरों अथवा अपने अधीन अन्य किसी अधिकारी द्वारा करते थे। इन राज्यों मे विधानमण्डल और मन्त्रिमण्डलों का होना संसद के निर्णय पर निर्भर था और यदि ऐसे क्षेत्रों में विधानमण्डल और मन्त्रि-मण्डल बनें भी तो उनके संगठन तथा शक्तियाँ भाग 'क' और 'ख' राज्यों के विधान मण्डलों तथा मन्त्रिमण्डलों से भिन्न हो सकती थीं। इन राज्यों के विधानमण्डल निर्वाचित भी हो सकते थे और नामांकित भी, या अंशतः निर्वाचित या अंशतः नामांकित, सब कुछ संसद के निर्णय पर निर्भर था। उसकी शक्तियाँ भी संसद द्वारा ही निर्दिष्ट होती थीं। इन राज्यों मे मन्त्रिपरिषद् अथवा परामर्शदाता भी नियुक्त हो सकते थे और उनके कार्यों और शक्तियों का निर्धारण संसद द्वारा ही होता था। शक्तियों का संघ और राज्यों मे तीन सूचियों के अन्तर्गत जो विभाजन था वह 'ग' राज्यों पर लागू नहीं होता था। इन राज्यों का संघ से वैसा ही सम्बन्ध था जैसा किसी एकात्मक राज्य मे केन्द्र और प्रान्तों का होता है।[1]

पुनर्गठन के उपरान्त इकाइयों की सरकारें—राज्यपुनर्गठन के सम्बन्ध मे हुए सवैधानिक परिवर्तनों ने राज्यों के 'क', 'ख' और 'ग' श्रेणियों में वर्गीकरण को समाप्त कर दिया। जैसा कि पिछले अध्याय मे बतलाया गया है, अब केवल दो प्रकार की इकाइयाँ हैं—राज्य तथा संघीय भू-भाग। इस अध्याय मे हम राज्यों की सरकार का वर्णन करेंगे।

राज्यपाल

राज्य की सरकार के अध्यक्ष को राज्यपाल कहा जाता है। राज्यपाल की नियुक्ति पाँच वर्ष के लिए होती है, किन्तु प्राविधिक दृष्टि से वह राष्ट्रपति प्रसादपर्यन्त ही अपने पद

[1] अनु २३९ और २४०

पर रह सकता है। इसका अर्थ है कि वह राष्ट्रपति द्वारा किसी भी समय अपने पद से हटाया जा सकता है।[१]

राज्यपाल के पद पर वही व्यक्ति नियुक्त हो सकता है जो भारत का नागरिक हो, और जिसकी आयु कम से कम ३५ वर्ष की हो।[२] स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही यह प्रथा (Convention) बन गई है कि साधारणतः किसी राज्य का राज्यपाल उस राज्य का निवासी न होकर बाहर का हो।[३] स्थायी सरकारी कर्मचारियों के राज्यपाल नियुक्त किये जाने पर कोई प्रतिबन्ध नही है, और पजाब, बम्बई और आन्ध्र मे ऐसे राज्यपाल नियुक्त हो चुके है। परन्तु अधिकाश राज्यपाल देश के सार्वजनिक क्षेत्र से ही नियुक्त किये गये हैं। दो या अधिक राज्यो के लिए एक ही राज्यपाल की नियुक्ति की जा सकती है। ऐसी दशा मे राज्यपाल का जो वेतन और भत्ता आदि होता है, वह सम्बन्धित राज्यों को उस अनुपात मे देना पड़ता है जो राष्ट्रपति निर्धारित कर दे।[४]

राज्यपाल को ५५०० रु० मासिक वेतन और कई प्रकार के भत्ते मिलते हैं, जो भिन्न-भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न हैं। राज्यपाल को बिना किराये का सरकारी आवास स्थान दिया जाता है। राज्यपाल लाभ का अन्य कोई पद ग्रहण नही कर सकता।[५] वह किसी विधानमडल का सदस्य भी नही रह सकता।

राज्यपाल के कार्य (Functions) और शक्तियाँ (Powers)—राज्यपाल राज्य का सवैधानिक अध्यक्ष है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राष्ट्रपति संघ का। राज्यपाल को हम ऐसा राष्ट्रपति समझ सकते है जिसे आपत्कालीन, तथा अस्थायी अधिकार नही है। राज्यपाल की समस्त शक्तियो को वह चार भागो मे विभक्त कर सकते हैं: (१) विधि सम्बन्धी (Legislative), (२) वित्तीय (Financial). (३) प्रशासनीक (Administrative) और (४) न्यायविषयक (Judicial)।

विधि सम्बन्धी शक्तियाँ (Legislative Powers)—राज्यपाल राज्य के विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य नही होता परन्तु उक्त विधानमडल के सगठन तथा कार्यों के सम्बन्ध मे उसे कई महत्वपूर्ण कर्त्तव्यो का पालन करना पड़ता है। वह विधान परिषद् (Legislative Council) के $\frac{1}{6}$ सदस्यो को नामांकित करता है।[६] विधान सभा मे भी, यदि वह अनुभव करे कि ऐंग्लो-इन्डियनो का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही है, तो वह उस समुदाय के कुछ प्रतिनिधियो को सदस्य नामांकित कर सकता है।[७]

[१]अनु० १५५ और १५६, [२]अनु० १५७, [३]बंगाल के वर्तमान राज्यपाल श्री एच० के० मुकर्जी की नियुक्ति इस प्रथा का एकमात्र अपवाद है। [४]सप्तम संशोधन कानून १९५६ के खंड ६ और ७ द्वारा संशोधित धारा १५३ और १५८, [५]अनु १५८, [६]अनु० १७१ (२) [७] अनु० ३३३।

यदि किसी सदन के किसी सदस्य की योग्यता (Qualifications) के सम्बन्ध में कोई संदेह उत्पन्न हो तो वह निर्वाचन आयोग के परामर्श से उसका अन्तिम निर्णय कर सकता है।[1] दोनों सदनों (Houses) के सत्रों (Sessions) को आयोजित तथा सत्रावसान करना भी उसी का काम है। वह विधान सभा को किसी भी समय विघटित कर सकता है।[2] वह जब चाहे, किसी भी सदन या दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में भाषण दे सकता है। वह सदनों को संदेश भी भेज सकता है। सार्वजनिक निर्वाचनों के बाद के और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र का आरम्भ राज्यपाल के भाषण से होता है।[3] राज्य विधान सभा द्वारा पारित कोई विधेयक बिना उसकी स्वीकृति के कानून नहीं बन सकता। वह अपनी अनुमति देने से इन्कार कर सकता है और किसी भी विधेयक को (धन-विधेयकों को छोड़कर) पुनर्विचार के लिए विधानमंडल के पास वापस कर सकता है। परन्तु यदि लौटाया हुआ विधेयक संशोधन सहित या बिना संशोधन पुनः पारित हो जाय तो राज्यपाल को अनुमति देनी पड़ती है। जिन विधेयकों के कानून (Act) बनने के लिए संविधान के अनुसार राष्ट्रपति की अनुमति मिलनी आवश्यक है (यथा, कोई ऐसा विधेयक जिसके अनुसार किसी सम्पत्ति पर राज्य अनिवार्यतः कब्जा करने जा रहा हो या जिसके उच्च न्यायालय की शक्तियों में कमी होती हो), उन्हें राज्यपाल राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रख लेता है और उन पर अपनी स्वीकृति नहीं देता।[4] जब विधानमंडल का सत्र न चल रहा हो और किसी विधि की अकस्मात् आवश्यकता पड़ जाय तो राज्यपाल अध्यादेश (Ordinances) निकाल (Promulgate) सकता है। ये अध्यादेश यदि पहले ही रद्द (Annul) कर दिये या वापस न लिये गये हों तो विधानमंडल की बैठक आरम्भ होने के ६ सप्ताह बाद तक कानून का काम देते हैं।[5]

राज्यपाल को अध्यादेश की शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। यदि किसी अध्यादेश का सम्बन्ध किसी ऐसे विषय से हो जिस पर राज्य विधानमंडल राष्ट्रपति की मंजूरी के बिना कानून न बना सकता हो तो राज्यपाल राष्ट्रपति की आज्ञा के बिना उसे नहीं बना सकता।[6]

कार्यपालिका (Executive) शक्तियाँ—राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का अध्यक्ष होता है। राज्य की कार्यपालिका जितने भी कार्य करती है वे सब उसके नाम से ही करती है। राज्यपाल ही राज्य-शासन सञ्चालन और मन्त्रियों में कार्य के वितरण के नियम बनाता है।[7] राज्यपाल को सूचना प्राप्त करने का अधिकार होता है। राज्य के मुख्य मन्त्री का यह कर्तव्य है कि मन्त्रिमण्डल जो कुछ निश्चय करे उसकी सूचना वह

[1]अनु० १९२, [2]अनु० १७४ (२) [3]अनु० १७५ और १७६, [4]अनु० २००। [5]अनु० २१३, [6]अनुच्छेद २१३ प्रतिबन्ध, [7]अनु० १६६

नियमित रूप से राज्यपाल को देता रहे। इसके अतिरिक्त राज्यपाल प्रशासनिक कार्यों संबंधी जो भी सूचनाएं मांगे उन्हें देना भी मुख्यमन्त्री का कर्त्तव्य है। राज्यपाल मुख्यमन्त्री को किसी एक मन्त्री द्वारा किये हुए निर्णय को मन्त्रि-परिषद् के समक्ष विचारार्थ रखने का आदेश दे सकता है।[1] राज्यपाल को कुछ नियुक्तियाँ करने का भी अधिकार है। वही मुख्य मंत्री तथा उसकी सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। वह राज्य के महाधिवक्ता[2] (The Advocate General) और राज्य लोक-सेवा आयोग (The Public Service Commission) के सभापति तथा सदस्यों की[3] नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय (High Court) के न्यायाधीशों की नियुक्ति में भी उसकी सलाह ली जाती है।[4] जब राज्य का शासन संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार नहीं चल पाता तो राज्यपाल उसकी सूचना राष्ट्रपति को देता है और यदि राष्ट्रपति उसी सूचना के आधार पर आपत्‌काल की घोषणा कर दे, तो राज्यपाल से केन्द्र के प्रतिकर्ता के रूप (Agent) में राज्यपाल के शासन को चलाने के लिए कहा जा सकता है।

वित्तीय शक्तियाँ (The Financial Powers)—राज्य की विधान सभा में बिना राज्यपाल की सिफारिश के कोई धन विधेयक (Money Bill) उपस्थित नहीं किया जा सकता।[5] राज्य की आकस्मिकता निधि राज्यपाल के नाम ही रहती है और राज्यपाल आवश्यकता पड़ने पर इस निधि से राज्य विधान सभा की स्वीकृति न मिलने तक आकस्मिक व्यय के लिए अग्रिम राशियाँ दे सकता है।[6]

न्याय-विषयक शक्तियाँ (The Judicial Powers)—राज्यपाल दण्ड पाये हुए अपराधियों को क्षमा, अथवा उनके दण्ड में परिवर्तन या कमी कर सकता है, जिनका अपराध जिस पर राज्य की राज्य-सरकार के क्षेत्रान्तर्गत हो।[7]

राज्यपाल की वास्तविक स्थिति—राज्यपाल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष होता है। अस्तु, सामान्यतः उसे राज्य मन्त्रिमंडल के परामर्शों के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। स्थूल दृष्टि से उसकी और राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति में बड़ी समानता है। राज्यपाल का पद शक्ति का नहीं किन्तु सम्मान का है। जो वैधानिक शक्तियाँ उसे दी गई हैं, उनमें से अधिकांश का प्रयोग वस्तुतः मन्त्रिमंडल द्वारा किया जाता है क्योंकि राज्यपाल साधारणतया मंत्रियों की सलाह के अनुसार ही कार्य करता है।

लेकिन यह सोचना भूल होगी कि राज्यपाल संवैधानिक अध्यक्षमात्र ही है। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में और कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसे संघ शासन के प्रतिकर्ता (The Agent) के रूप में भी कार्य करना पड़ सकता है। जब वह संघ के प्रतिकर्ता की हैसियत से कोई कार्य करता है तो वह राज्य मन्त्रिमंडल की

[1]अनु० १६७, [2]अनु० १६५, [3]अनु० ३१६, [4]अनु० २१७। [5]अनु० २०७, [6]अनु० २६७ (२), [7]अनु० २६१

सलाह के बन्धन से मुक्त रहता है। उस समय या तो वह संघीय अधिकारियों के आदेशों अथवा परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार अपने विवेक से कार्य करता है। संविधान में लिखा है कि जिन विषयों में राज्यपाल से अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की आशा की जाती है। उन विषयों में उसे मन्त्रिमडल की सहायता या मंत्रणा लेने की आवश्यकता नहीं है।[1] परन्तु सविधान में ऐसे विषयों की सूची या स्पष्ट उल्लेख नहीं है। संविधान में यह भी राज्यपाल के विवेक पर ही छोड़ दिया है कि कौन बातों में और कब वह अपने विवेक से कार्य करेगा। इस मामले में उसका निर्णय अन्तिम होता है।[2]

ऐसे केवल दो उदाहरण हैं जिनमें सविधान राज्यपाल (Governor) को अपने विवेकानुसार कार्य करने का स्पष्ट रूप से अधिकार देता है। ये शक्तियाँ केवल आसाम के राज्यपाल को आदिम जाति क्षेत्रों से सम्बन्धित मामलों के बारे में दी गई हैं। छठवीं अनुसूची के १८ (३) अनुच्छेद के अनुसार आसाम के राज्यपाल को यह शक्ति दी गई है कि वह भाग 'ख' में वर्णित आदिम जाति क्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में अपने विवेकानुसार उस समय तक करे जब तक उक्त अनुच्छेद के अन्तर्गत कोई अन्य विज्ञप्ति प्रकाशित नहीं हो जाती। इसी अनुसूची का अनुच्छेद ९ (२) राज्यपाल को यह भी शक्ति प्रदान करता है कि वह आसाम की सरकार और इस आदिम क्षेत्र की जिला परिषदों के बीच खानों से उत्पन्न आय-विभाजन के सम्बन्ध में होने वाले विवादों का स्वविवेकानुसार निर्णय करे। श्री दुर्गादास बसु का मत है कि इस प्रकार स्वविवेक से कार्य करने की शक्ति केवल आसाम के राज्यपाल को दी गई है और वह भी केवल उक्त दो मामलों तक ही सीमित है। उनका विचार है कि १६३वें अनुच्छेद की शब्दावली से जो यह प्रकट होता है कि सभी राज्यपालों को कुछ दशाओं में स्वविवेक से कार्य करने की सामान्य शक्ति प्राप्त है वह सविधान का प्रारूप बनानेवालों की भूल है। परन्तु १६३वें अनुच्छेद की यह व्याख्या सर्वथा अविवादास्पद नहीं है।

संविधान संशोधन अधिनियम १९५६ द्वारा संशोधित संविधान की धारा २३९ के अनुसार राज्य का राज्यपाल निकटवर्ती सङ्घीय भू-भाग का शासक भी नियुक्त किया जा सकता है और ऐसी दशा में राज्यपाल उक्त शासक के रूप में अपने कार्यों का सचालन अपने मंत्रिमंडल से स्वतन्त्र रूप में करता है।

राज्यपाल को अपने विवेक का उपयोग करने के अवसर उस समय भी मिल सकते हैं जब किसी विषय पर राज्य और सङ्घ के मन्त्रिमंडलों के बीच सङ्घर्ष हो जाय और सङ्घ-सरकार यह निर्देश दे दे कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति का अमुक तरह से ही प्रयोग किया जाय। ऐसे समय में राज्यपाल की स्थिति बड़ी ही कठिन हो जायगी।

---

[1]अनु० १६३ (१), [2]अनु० १६३ (२)।

राज्यपाल को जिन क्षेत्रों में अपने विवेक अर्थात् राज्य मन्त्रिमंडल की इच्छा से विरुद्ध कार्य करना है, उनमें उत्पन्न सङ्घर्ष अन्य क्षेत्रो में भी फैल जा सकता है जिनमें संविधान के अनुसार राज्यपाल को राज्य-मन्त्रिमडल की सहायता या मन्त्रणा के अनुसार कार्य करना चाहिए। अतः स्वविवेक शक्तियों का उपयोग करने में राज्यपाल को बड़ी ही चतुराई और सावधानी से काम करना पड़ेगा। राज्यपाल को इन शक्तियों के प्रयोग करने में सहायता देने के लिए कोई सलाहकार भी नही दिये गये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि राज्यपाल के पद को बूढे सार्वजनिक नेताओ का विश्रामागार बनाना उचित नही। राज्यपाल के पद पर नियुक्तियाँ करने मे बड़ी सावधानी और दूरदर्शिता से काम लेना आवश्यक है।

राज्य का मंत्रिमण्डल
(The State Ministry)

राज्य की मन्त्रि-परिषद् (The State Council of Ministers)—सघ मन्त्रिमडल की भाँति ही राज्य की मन्त्रि परिषद् भी बनाई जाती है और वह उसी तरह कार्य भी करती है। दोनो ही के विषय मे सविधान की व्यवस्थाएँ समान ही हैं,[1] यद्यपि विस्तार की बातो मे कुछ अन्तर भी है। अस्तु, राज्य की मन्त्रि-परिषद् का कार्य राज-काज के सम्बन्ध मे राज्यपाल को सहायता और मन्त्रणा देना होता है। इसमे राज्यपाल द्वारा नियुक्त एक मुख्य-मन्त्री तथा उसके परामर्श से नियुक्त अन्य मन्त्री होते हैं। ये सब राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने-अपने पदो पर रहते हैं। राज्य की मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से राज्य विधान॰ सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। सामान्यतः सभी मन्त्री विधानमण्डल के एक न एक सदन के सदस्य होते है। विधान-मडल के किसी सदन का सदस्य हुए बिना कोई छः मास से अधिक मन्त्री पद पर नहीं रह सकता। मन्त्रियो को राज्य विधानमंडल द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता मिलता है।[2] इन विषयो मे सविधान की सभी व्यवस्थाएं सङ्घ और राज्यो मे समान ही हैं। राज्य मन्त्रिमंडलो के व्यावहारिक कार्य सम्बन्धी प्रथाएँ (Conventions) भी वही हैं जिनकी चर्चा हम सङ्घ-मन्त्रिमडल का वर्णन करते समय कर आये है।

सङ्घ-मन्त्रिमडल और राज्य मन्त्रिमंडल मे तीन अन्तर हैं। पहला अन्तर तो यह है कि राज्य मन्त्रिमंडल का अध्यक्ष या नेता मुख्यमन्त्री (Chief Minister) कहलाता है, प्रधान मन्त्री (Prime Minister) नहीं। दूसरे, बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के मन्त्रिमडलो मे एक आदिमजाति-कल्याण (Tribal Welfare) का मन्त्री होना आवश्यक है। उसी मन्त्री को अनुसूचित जातियो तथा पिछड़े हुए वर्गो के कल्याण-कार्य का भार भी दिया जा सकता है।[3] तीसरे, राज्य मन्त्रिमंडल को राज्यपाल के सभी

[1]अनु॰ १६३ और १६४; [2]अनु॰ १६४ तथा अनु॰ २३८ (६) की व्यवस्थाएँ।

कार्यों के विषय में परामर्श देने का अधिकार नही है। राज्यपाल को जो कार्य स्वविवेक से करने होते हैं उनमें राज्य मन्त्रिमंडल की मन्त्रणा या सहायता देने का अधिकार नहीं होता।

केन्द्र ही की भाँति राज्यो में भी प्रत्येक मन्त्री एक या एकाधिक विभागों का शासन भार सँभालता है। प्रत्येक राज्य मन्त्रिमण्डल में साधारणतया ६ से लेकर १२ तक मन्त्री होते हैं। उड़ीसा के मन्त्रिमण्डल मे ६ पद हैं जब कि पश्चिमी बंगाल में १२। सामान्यत: प्रत्येक मन्त्रिमण्डल में वित्त (Finance), गृह (Home), वाणिज्य और उद्योग (Commerce And Industry), पूर्ति (Civil Supplies), चिकित्सा (Medical), लोक स्वास्थ्य (Public Health), स्वायत्त शासन (Local Self Govt.), शिक्षा (Education), लोक निर्माण (Public Works), भू-राजस्व (Land Revenue), विधि (Legislative), न्याय (Justice), श्रम (Labour), कृषि (Agriculture), वन (Forests), आदि के विभाग होते हैं।

राज्यो मे भी उपमन्त्री (Deputy Ministers) और संसदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) होते हैं। प्रत्येक मन्त्री के अधीन उपमन्त्रियों या संसदीय सचिवो की संख्या उस मन्त्री के अधीन विभागो के महत्व और संख्या पर निर्भर है। उपमन्त्री और ससदीय सचिव मन्त्रिमण्डल के सदस्य नही होते और उन्हें मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेने का अधिकार नहीं होता। परन्तु वे विधान-मण्डल के सदस्य होते हैं और उन्हे वेतन भी मिलता है। इनका काम अपने-अपने मन्त्री को उसके संसददीय एवं शासन-कार्यों मे सहायता करना है।

राज्य के मुख्य मन्त्री की स्थिति—राज्य में उसके मुख्य मन्त्री (The Chief Minister) की वही स्थिति है जो केन्द्र मे प्रधान मन्त्री की। वह मन्त्रि-मण्डल का प्रधान होता है और उसकी बैठको का सभापतित्व करता है। वही निर्णय करता है कि राज्यमन्त्रिमण्डल के सम्मुख कौन-कौन से विषय विचारार्थ उपस्थित किये जायेंगे। अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्य मन्त्री के परामर्श के अनुसार ही करता है। यदि मुख्य मन्त्री से किसी मन्त्री का किसी भी विषय पर मतभेद हो जाता है तो उस मन्त्री को पदत्याग करना पड़ता है। मुख्य मन्त्री के पदत्याग करने पर समूचा मन्त्रिमण्डल विघटित हो जाता है।

दूसरे, मुख्य मन्त्री ही मन्त्रिमण्डल के सदस्यो से पारस्परिक सहयोगपूर्वक काम कराता है। उसे सभी विभागो के कार्यों की निगरानी और सामजस्य का व्यापक अधिकार है। यदि दो या अधिक मन्त्रियो में कोई मतभेद या विवाद उत्पन्न हो, तो मुख्यमन्त्री ही उसका निर्णय करता है।

तीसरे, मुख्यमन्त्री विधानसभा के बहुमतवाले दल का नेता होने के कारण विधानसभा का नेता भी होता है। वह विधानमण्डल से उसके क्षेत्र के अन्तर्गत कोई भी विधेयक पारित करा सकता है, व्यय के लिए आवश्यक धनराशि स्वीकृत करा सकता है और कोई भी कर लगवा सकता है। वह राज्यपाल या राजप्रमुख को, (जो भी राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष हो) राज्यविधानमण्डल को विघटित करने का परामर्श दे सकता है।

चौथे, मुख्य मन्त्री राज्य के शासन और बहुमत वाले दल का मुख्य प्रवक्ता होता है। वह जो कुछ भी कहता है या जो भी आश्वासन देता है वह प्रामाणिक माना जाता है और सरकार तदनुसार ही कार्य करने को बाध्य समझी जाती है।

पाँचवे, सवैधानिक दृष्टि से नियुक्तियाँ करने की जो शक्ति राज्यपाल को प्राप्त है उसके प्रयोग मे मुख्यमंत्री का प्रभाव ही निर्णयात्मक होता है जैसे महाधिवक्ता (Advocate General), राज्य लोकसेवा आयोग (State Public Service Commission) के सभापति तथा सदस्यो आदि की नियुक्ति के सम्बन्ध मे।

अन्त मे, मुख्यमन्त्री राज्य मन्त्रिमंडल और राज्यपाल के बीच के सम्पर्क की कड़ी है। वह अपने मन्त्रिमडल के निर्णय राज्यपाल को सूचित करता है। राज्यपाल को राज्य के प्रशासन के सम्बन्ध मे यदि किसी अन्य सूचना की आवश्यकता पड़ती है तो वह सूचना उसे मुख्यमन्त्री द्वारा ही प्राप्त होती है।

साराश यह है कि राज्य-शासन की सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति मुख्यमन्त्री के ही हाथ मे रहती है।

मन्त्रिमण्डल और राज्यपाल के सम्बन्ध—यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि सामान्य स्थिति मे राज्यपाल राज्यशासन के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप मे रहता है तथापि, सविधान स्पष्टतः राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही कार्य करने को बाध्य नही करता और न राज्यपाल के सार्वजनिक कृत्यो (Official Acts) के लिए मन्त्रिमण्डल को उत्तरदायी ही ठहराता है। अतः राज्यपाल तथा मन्त्रिमडल के सवैधानिक सम्बन्धो के विषय मे वही समस्याये उठती हैं जिनका वर्णन हम केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल तथा राष्ट्रपति के संवैधानिक सम्बन्धो के विषय मे कर आये है। इन समस्याओ पर हम सक्षेप में एक बार और विचार करते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है और मुख्यमन्त्री की सलाह के अनुसार ही अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि राज्यपाल को इस मामले में स्वविवेक से कार्य करने की स्वतंत्रता है या नही। हम पहले बता चुके हैं कि अत्यन्त विशेष या अपवादात्मक परिस्थितियो को छोड़ कर अन्य किसी भी दशा में राज्यपाल को विवेक से कार्य करने की स्वतन्त्रता

नहीं है। उसे हर दशा में बहुमत वाले दल के नेता को मुख्यमन्त्री और उसकी सलाह पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करना ही पड़ेगा। दूसरे, संविधान राज्यपाल को इस बात के लिए बाध्य नहीं करता कि वह अनिवार्यतः मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही कार्य करे। मन्त्रिमण्डल केवल उसकी 'सहायता और मंत्रणा' के लिए होता है। यही नहीं, संविधान में कुछ मामलों के सम्बन्ध मे राज्यपाल को स्वविवेक से कार्य करने की शक्ति भी दी गई है। उक्त मामलों में राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की सलाह लेगा ही नहीं। किन्तु राज्यपाल के पद के इस पक्ष पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है। यह सच है कि केन्द्रीय शासन के प्रतिकर्ता (Agent) के रूप मे कार्य करते समय राज्यपाल स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है। और उसे मन्त्रिमण्डल की सलाह लेने की आवश्यकता नहीं है, विशेषकर उस समय जब राज्य शासन और केन्द्र मे सघर्ष चल रहा हो, किन्तु सामान्यतः वह मन्त्रिमण्डल के परामर्शों की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करे तो मन्त्रिमण्डल पदत्याग कर देगा और एक राजनीतिक संकट उठ खड़ा होगा। व्यावहारिक दृष्टि से अभी तक विभिन्न राज्यो के राज्यपाल सवैधानिक अध्यक्षों के रूप में ही कार्य करते रहे हैं। तीसरे, राज्यपाल को राज्य-शासन से सम्बन्धित सभी प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त करने का अधिकार है। उसे यह भी अधिकार है कि वह किसी एक मन्त्री के निर्णय को मन्त्रिमण्डल के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित करा सके। वह शासन के मामले में मुख्य मन्त्री को परामर्श दे सकता है, उत्साहित कर सकता है और चेतावनी दे सकता है। राज्यपाल के ये अधिकार वास्तविक है। चौथे, मुख्य मन्त्री तथा अन्य मन्त्री राज्यपाल के प्रसाद पर्यंत ही अपने-अपने पदो पर रहते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या राज्यपाल मन्त्रियो को पदच्युत कर सकता है? उत्तर बहुत स्पष्ट है और पहले भी दिया जा चुका है। राज्यपाल मुख्य मंत्री को उस समय तक पदच्युत नहीं कर सकता जब तक वह किसी गम्भीर असंवैधानिक कृत्य का दोषी न हो। किसी अन्य मन्त्री को भी वह तब तक पदच्युत नहीं कर सकता जब तक मुख्यमन्त्री ही उससे पीछा न छुड़ाना चाहता हो और राज्यपाल को वैसा करने की मन्त्रणा न दे। यदि राज्यपाल इसके प्रतिकूल कार्य करता है तो उसे सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के पदत्याग का सामना करना पड़ेगा और फलतः संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जायगा। यदि मन्त्रिमण्डल को विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त है तो राज्यपाल को उसके सामने नतमस्तक होना ही पड़ेगा। अन्त मे, राज्यपाल की कुछ ऐसी शक्तियाँ है जिनमे स्वभावतः उसे अपने विवेक से कार्य लेना आवश्यक है जैसे (क) जब किसी दल को बहुमत प्राप्त न हो तो मुख्यमन्त्री का चयन करना, (ख) एक मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र देने और दूसरे मन्त्रिमण्डल को स्थापना के बीच के अन्तरिम काल में प्रशासन के कार्य का संचालन और (ग) मन्त्रिमण्डल द्वारा किये गये विधानमण्डल को विघटित करने के अनुरोध को मानना या न मानना। ऐसी स्थिति में संवैधानिक-

अध्यक्ष द्वारा स्वतंत्र निर्णय की सम्भावनाओं पर हम पहले ही संघीय मन्त्रिमण्डल वाले अध्याय मे विचार कर चुके हैं। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही है।

इसमे संदेह नही कि बहुत कुछ राज्यपाल के व्यक्तित्व सम्बन्ध और योग्यता तथा उसके तथा मुख्यमन्त्री के व्यक्तित्व पर निर्भर है। परन्तु इतना बिल्कुल स्पष्ट है कि राज्यपाल राज्य के कार्यों मे साधारणतया कोई हस्तक्षेप नही कर सकता। वह जो कुछ भी कर सकता है वह अप्रत्यक्ष रूप से और मुख्यमन्त्री के विश्वास और सम्मान का पात्र बन कर ही कर सकता है। एक क्षेत्र ऐसा है, जिसमे कोई भी योग्य तथा कार्यशील राज्यपाल अपने लिए नाम और यश कमा सकता है और वह है कला, संस्कृति, लोकसेवा तथा सामाजिक कार्यों का क्षेत्र। राज्यपाल सामान्यतः राज्य के विश्वविद्यालयो का पदेन् कुलपति होता है। अपने इस पद के कारण उसके सामने विस्तृत सम्भावनाओं का क्षेत्र आ जाता है। वह उच्चशिक्षा की प्रगति और आदर्शों को प्रभावित कर सकता है। कुछ राज्यपाल उक्त क्षेत्रों मे अपने प्रभाव का उपयोग कर भी रहे हैं।

मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल—जिस प्रकार संघ मन्त्रिमण्डल (Union Cabinet) सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है, ठीक उसी प्रकार राज्य-मन्त्रिमण्डल (State Cabinet) राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। विधानमण्डल के प्रति मन्त्रिमण्डल के इस सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत और व्यावहारिक अर्थ की हम संघ मन्त्रिमण्डल वाले अध्याय मे विस्तारपूर्वक चर्चा कर चुके हैं। अस्तु उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही है। इस सामूहिक उत्तरदायित्व को क्रियान्वित करने के उपाय भी वही हैं जो संघ मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध मे लोकसभा द्वारा काम मे लाये जाते है। पराजित मन्त्रिमण्डल विधानसभा के विघटन की माँग कर सकता है, और इस प्रकार निर्वाचकों से प्रत्यक्षतः अपील कर सकता है।

महाधिवक्ता (The Advocate General)—संविधान के १६५वें अनुच्छेद के अनुसार प्रत्येक राज्य मे एक महाधिवक्ता (Advocate General) होता है। उसकी नियुक्ति राज्यपाल करता है, अर्थात् मुख्यमन्त्री की मन्त्रणानुसार। महाधिवक्ता के पद पर उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है जो उच्चन्यायालय के न्यायाधीश होने की अर्हताएँ रखता हो। महाधिवक्ता अपने पद पर राज्यपाल के प्रसाद पर्यंत रहता है। उसे राज्यपाल द्वारा निर्दिष्ट वेतन मिलता है। केन्द्र में महान्यायवादी (Attorney General) के जो कार्य हैं, राज्य मे वही महाधिवक्ता के हैं। वह राज्यसरकार को कानूनी परामर्श देता है, तथा संविधान तथा प्रचलित विधियो द्वारा निर्दिष्ट अन्य कर्तव्यों को करता है। वह उच्चन्यायालय में प्रारम्भ होने वाले उन सभी मुकदमों मे जिसमें एक पक्ष मे राज्य होता है राज्य की ओर से पैरवी करता है। राज्य की अनुमति बिना वह अपने कार्यकाल में (क) राज्य

के विरुद्ध किसी मामले को न ले सकता है, और न उसमें परामर्श दे सकता है (ख) राज्य द्वारा चलाये फौजदारी मामलो मे अभियुक्त की पैरवी नही कर सकता, (ग) ऐसे व्यक्तिगत मामलो में भी सलाह नही दे सकता जिनके विरुद्ध पैरवी करने के लिए उसे राज्य की ओर से कहे जाने की सम्भावना हो, और (घ) सरकार की पूर्वानुमति प्राप्त किये बगैर वह किसी कम्पनी का संचालक (Director) नहीं हो सकता।

महाधिवक्ता का पद राजनीतिक होता है। सरकार मे परिवर्तन होने अर्थात् अन्य दल के सत्तारूढ़ होने पर नया महाधिवक्ता भी नियुक्त किया जा सकता है।

राज्य विधानमण्डल

(The State Legislature)

दो प्रकार—राज्य विधानमंडल दो प्रकार के होते हैं। कुछ राज्यो के विधानमंडलों मे राज्यपाल (या राज प्रमुख) सहित दो सदन होते हैं और अन्यो मे राज्यपाल सहित केवल एक ही सदन। बिहार, मद्रास, पंजाब, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और मैसूर के विधानमंडलों मे प्रत्येक में दो सदन हैं। अन्य राज्यो मे एक ही सदन के विधान मंडल हैं।[1] संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधित अनुच्छेद २३६ के अनुसार मध्य प्रदेश मे भी राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट तिथि से द्वितीय सदन की व्यवस्था की गई है। जहाँ द्वितीय सदन है, वहाँ उसे विधान परिषद् (Legislative Council) और प्रथम सदन को विधानसभा (Legislative Assembly) कहा जाता है। जहाँ केवल एक सदन है, वहाँ उसे विधानसभा ही कहा जाता है।

द्वितीय सदनों की स्थापना और अन्त—यद्यपि संविधान में कुछ राज्यों के लिए द्विसदनीय (Bicameral) और कुछ के लिए एकसदनीय (Unicameral) विधानमंडलों की व्यवस्था दी हुई है तथापि इस व्यवस्था मे संसद अपनी सामान्य विधि द्वारा परिवर्तन कर सकती है। यदि किसी राज्य की विधानसभा अपने कुल सदस्यों के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान में भाग लेनेवाले सदस्यो के दो-तिहाई मतों से पारित प्रस्ताव द्वारा अपने यहाँ की वर्तमान विधान परिषद् के अन्त या, वहाँ विधान परिषद् के न होने की दशा मे, उसकी स्थापना की माँग करें तो संसद साधारण कानून द्वारा वहाँ विधान-परिषद् का अन्त या उसकी सृष्टि कर सकती है।[2] अतः

---

[1]अनु० १६८ (१), [2]अनु० १६९ (१)

किसी राज्य में विधान-परिषद् का अस्तित्व बहुत कुछ वहाँ की विधानसभा की इच्छा पर निर्भर है।

विधान परिषद्

(The Legislative Council)

विधानपरिषदों का सङ्गठन—किसी भी राज्य में विधानपरिषद् की सदस्य संख्या विधानसभा की कुल सदस्य-संख्या की एक-तिहाई से अधिक नही हो सकती, परन्तु वह ४० से कम भी नही हो सकती। इस अधिकतम और न्यूनतम सदस्य-संख्या की मर्यादा के अधीन राज्य विधान परिषद् के एक-तिहाई सदस्यो का निर्वाचन राज्य की स्थानीय संस्थाओ (नगरपालिका, जिला बोर्ड तथा ससद द्वारा निर्दिष्ट अन्य स्थानीय संस्थाओ) के सदस्यो से बने निर्वाचन मडल द्वारा होता है, $\frac{1}{12}$ विश्वविद्यालयो के स्नातको या उनकी समकक्ष योग्यता वाले राज्यनिवासियो द्वारा चुने जाते हैं, $\frac{1}{12}$ माध्यमिक शिक्षा या उससे ऊँचे स्तर के विद्यालयो के कम से कम ३ वर्ष के पुराने अध्यापको द्वारा निर्वाचित होते हैं। एक-तिहाई सदस्य राज्य विधानसभा के सदस्य बाहर के व्यक्तियो मे से चुनते हैं, और शेष $\frac{1}{6}$ भाग सदस्यो को राज्यपाल नामांकित करता है। राज्यपरिषदो के इस सगठन मे संसद किसी भी समय विधि द्वारा परिवर्तन कर सकती है।[1]

स्थानीय सस्थाओ और अध्यापकों के प्रतिनिधियो का निर्वाचन संसद की विधि द्वारा निश्चित भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्रो से होता है। इन सब निर्वाचनो मे एकल संक्रमणीय मत की पद्धति का ही प्रयोग किया जाता है। राज्यपाल द्वारा नामांकित सदस्य साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन और समाज सेवा आदि क्षेत्रो के विशेषज्ञों या व्यवहारिक अनुभव वाले लोगो मे से चुने जाते हैं।[2]

राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ की ३३ से ३७ धाराओ द्वारा तथा १९५७ और १९६० के अधिनियमो द्वारा संशोधित सन् १९५० के जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के अनुसार संसद ने विभिन्न राज्यो की विधान परिषदो का संगठन इस प्रकार निर्धारित किया है।[3]

---

[1] अनु० १७१ (१) (२) और (३), [2] अनु० १७१ (४) और (५) ३-२१ अप्रैल सन् १९५४ से, [3] जम्मू और काश्मीर के संविधान के ५० वे अनुच्छेद के अनुसार, उक्त राज्य में भी ३६ सदस्यो की विधान परिषद् की व्यवस्था की गई है। उस का संगठन उसी प्रकार का है जैसे अन्य भारतीय राज्यो की विधान परिषदो का।

राज्य का नाम	स्थानों की संख्या	स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित सदस्य	स्नातकों द्वारा निर्वाचित सदस्य	अध्यापकों द्वारा निर्वाचित सदस्य	विधान-सभा सदस्यों द्वारा चुने गये सदस्य	राज्यपाल द्वारा नामांकित सदस्य
राज्य						
१. आन्ध्र प्रदेश	९०	३१	८	८	३१	१२
२. बिहार	९६	३४	८	८	३४	१२
३. महाराष्ट्र	७८	२६	७	७	२६	१२
४. मद्रास[1]	६३	२१	६	६	२१	९
५. पंजाब	५१	१७	४	४	१८	८
६. उत्तर प्रदेश	१०८	३९	९	९	३९	१२
७ पश्चिमी बंगाल	७५	२७	६	६	२७	९
८. मध्य प्रदेश	९०	३१	८	८	३१	१२
९. मैसूर	६३	२१	६	६	२१	९

विधानपरिषद् के सदस्यों का कार्य-काल—विधान परिषद् कभी विघटित नहीं की जाती परन्तु उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष बदलते जाते हैं। इसका अर्थ है कि प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल ६ वर्ष का होता है।

सदस्यों की अर्हताएँ आदि—राज्य विधान परिषद् के सदस्यों की अर्हताएँ (Qualifications) और अनर्हताएँ (Disqualifications) वही हैं जो केन्द्र में राज्यसभा (Council of States) के सदस्यो की होती हैं, अर्थात् प्रत्येक सदस्यता के उम्मीदवार व्यक्ति को भारत का नागरिक होना चाहिए, ३० वर्ष से कम आयु का नहीं होना चाहिए तथा उसमे वे सारी अर्हताएँ होनी चाहिए जिन्हें संसद निश्चित करे तथा उसे समस्त निर्दिष्ट अनर्हताओं से मुक्त होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति विधानमण्डल के दोनों सदनों या दो या अधिक राज्यों के विधानमण्डलों का एक साथ सदस्य नहीं हो सकता।[2] यदि कोई सदस्य सदन की अनुमति प्राप्त किये बिना ६० या इससे अधिक दिनों तक अनुपस्थित रहता है तो उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया जाता है।

गणपूर्ति (The Quorum)—विधान परिषद् की बैठकों के लिए सदन की कुल सदस्य संख्या के दशमांश या दस सदस्यों (इनमें से जो भी संख्या अधिक हो) की उपस्थिति गणपूर्ति के लिए आवश्यक है। गणपूर्ति का यह नियम तब तक है जब तक राज्य विधान मंडल कोई अन्य व्यवस्था नहीं बना देता।

[1]अनु० १७१ (४) और (५) ३-११ अप्रैल। [2]अनु० (४) और (५),

विधान परिषद् का सभापति—विधान परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता के लिए एक सभापति की भी व्यवस्था है। एक उपसभापति भी होता है। विधान परिषद् इन दोनो का निर्वाचन करती है और उन्हे हटा भी सकती है। इन्हे हटाने के प्रस्ताव को उपस्थित करने के लिए १४ दिन पूर्व-सूचना आवश्यक है, और फिर यदि प्रस्ताव परिषद् की सदस्य संख्या बहुमत से पारित हो जाता है तो सभापति या उपसभापति को अपने पद से हटना पड़ता है। सभापति और उपसभापति दोनों को वेतन मिलता है। सामान्यतः इनके कार्य तथा शक्तियाँ वही हैं जो केन्द्रीय राज्य सभा के सभापति और उपसभापति की होती है।[1]

विधानपरिषद् की शक्तियाँ और विधानसभा से सम्बन्ध—राज्य विधान परिषदें अत्यन्त निर्बल एवं शक्तिहीन हैं। वे राज्य सभा से भी अधिक अशक्त है। धन-विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयक दोनो मे से किसी भी सदन मे उपस्थित किया जा सकता है। किसी भी विधेयक के विधि बनने के लिए यह आवश्यक है कि दोनो सदनों मे वह पारित हो जाय, परन्तु यदि दोनो सदनो में मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो विधानसभा विधान परिषद् के विरोध को बड़ी सरलता से परास्त कर सकती है। विधानसभा मतभेदग्रस्त विधेयक को पुनः उसी या बाद के किसी सत्र मे संशोधन सहित या बिना संशोधन के पारित कर दे तो राज्यपाल की सम्मिति मिल जाने पर वह कानून बन जाता है। यदि किसी विधेयक को विधान-परिषद् अन्तिम रीति से अस्वीकृत कर देती या उस पर अपनी असहमति प्रकट कर देती है तो विधानसभा उसे तत्काल दुबारा पारित करके उसे विधि बना सकती है। यदि विधान-परिषद् किसी विधेयक के विषय मे तीन मास तक कोई निर्णय न करे तो इस अवधि के बाद फिर विधानसभा उसे पुनः पारित कर सकती है। दुबारा पारित होने के बाद विधेयक को पुनः परिषद् के पास भेजा जाता है। यदि विधान-परिषद् इस बार भी उसे पारित नही करती या कुछ ऐसे संशोधन करके उसे पारित करती है जो विधानसभा को स्वीकार नही होते तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। उसका अन्तिम रूप वही रहता है जिसमे उसे विधानसभा ने अन्तिम बार पारित किया हो। यदि दूसरी बार विधान-परिषद कोई कार्यवाई नही करती, तो विधेयक के उक्त सदन मे दूसरी बार उपस्थित किये जाने की तिथि से एक मास बाद, उसे दोनो सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है।[2] अतः विधानपरिषद् किसी विधेयक के पारित होने में अधिक से अधिक ४ मास की देर मात्र कर सकती है। संविधान में यह स्पष्ट रूप से नही बतलाया गया है कि यदि विधान परिषद द्वारा पारित किसी विधेयक को विधानसभा अस्वीकृत कर दे तो उस दशा

---

[1] अनु० १८१ (३), [2] अनु० १९७।

में क्या होगा, परन्तु संविधान का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इस दशा में उक्त विधेयक अन्तिम रूप से अस्वीकृत हो समझा जायगा। अस्तु, राज्यों मे विधानपरिषद और विधानसभा से समानता का आभासमात्र भी नही है जैसा कि केन्द्र मे राज्यसभा तथा लोकसभा के बीच दिखलाई देता है।

वित्तीय विषयों मे विधानपरिषद की स्थिति वही है जो राज्यसभा की। धन-विधेयक विधानपरिषद् मे उपस्थित नही किया जा सकता। वह विधानसभा मे ही उपस्थित किया जा सकता है। विधानसभा मे पारित होने के बाद विधेयक विधानपरिषद् के पास उसके सुझावो और सिफारिशों को प्राप्त करने के लिए भेजा जाता है। विधानपरिषद् को ये सुझाव आदि १४ दिन के भीतर दे देने चाहिए। यदि विधान-परिषद् ऐसा न करे तो १४ दिन बाद विधेयक स्वयमेव विधि बन जायगा। यदि विधान-परिषद् १४ दिन के भीतर कोई सुझाव या सिफारिश भेजे तो विधानसभा उसे स्वीकार करने या न करने को बिल्कुल स्वतन्त्र है।[1]

इसके अतिरिक्त विधानपरिषद् को अन्य किसी प्रकार की कोई शक्ति नही है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, यदि विधानसभा चाहे तो निर्दिष्ट रीति से प्रस्ताव पारित करके विधानपरिषद् का अन्त कर सकती है। जान पड़ता है कि संविधान-निर्माता द्वितीय सदन का राज्यों मे प्रयोगमात्र करना चाहते थे कि यदि वे हानिकारी सिद्ध न हो तो उन्हें बनाये रखा जाय और यदि उनसे हानि हो तो उन्हे बिना अधिक परेशानी उठाये समाप्त किया जा सके। इसके लिए संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता नही पड़ती। संसद विधान-परिषदो को अपने साधारण कानून द्वारा ही समाप्त कर सकती है।[2]

विधान सभा

(The Legislative Assembly)

संगठन—किसी भी राज्य की विधानसभा मे जनसंख्यानुसार ५०० से लेकर ६० तक सदस्य हो सकते है, अर्थात् ५०० से अधिक नही और ६० से कम नही। प्रत्येक जनगणना के उपरांत प्रत्येक राज्य की विधान-सभा की सदस्य-संख्या तथा राज्य का निर्वाचन-क्षेत्रों मे विभाजन निर्दिष्ट प्राधिकारी द्वारा निर्दिष्ट रीति से नियत कर दिया जाता है।[3] अधिकांश निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्यीय हैं पर कुछ ऐसे भी निर्वाचन क्षेत्र हैं जिनसे एक से अधिक सदस्य निर्वाचित होते हैं। प्रथम कोटि के निर्वाचन क्षेत्र को हम एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Single member constituency) कहते हैं और दूसरी कोटिवालो को बहु सदस्यीय (Multi member constituency)।

[1] अनु० १९८, [2] अनु० १६९ (३), [3] अनु० १७० (संविधान के सप्तम संशोधन अधिनियम १९५६ द्वारा यथा संशोधित)

१९५२ के सार्वजनिक निर्वाचन में उत्तर प्रदेश में कुल ३४७ निर्वाचन क्षेत्र थे, जिनमें से २६४ एक सदस्यीय तथा ८३ द्विसदस्यीय थे। राज्य की जनसंख्या और उसकी विधान सभा की सदस्य-संख्या का अनुपात प्रत्येक राज्य में समान ही होना आवश्यक है।

प्रत्येक राज्य की विधानसभा में अनुसूचित तथा आदिम जातियों के लिए उनकी संख्या के अनुपात मे स्थान सुरक्षित रहते हैं। आसाम की विधानसभा में वहाँ के स्वायत्त शासनप्राप्त आदिम जातीय जिलो के लिए भी ऐसी ही व्यवस्था है।[1] यदि किसी राज्य की विधानसभा में एंग्लो-इन्डियन समाज का पर्याप्त प्रतिनिधित्व न हो तो राज्यपाल उसमें उचित संख्या में एंग्लो-इण्डियन प्रतिनिधि नामांकित कर सकते हैं।[2] यह सब संरक्षण आदि संविधान आरम्भ होने की तिथि से लेकर १० वर्षों बाद तक के समय के लिए ही है और इसके पश्चात् वह अपने आप समाप्त हो जायगा। तथापि, आसाम के स्वायत्त-शासन प्राप्त आदिम जातीय जिलो के लिए विधानसभा मे स्थान-संरक्षण की व्यवस्था स्थायी है।

विभिन्न भाग क और ख राज्यो की विधान सभाओ मे कुछ स्थानो की संख्या संसद द्वारा इस प्रकार निर्धारित की गई है—

राज्य	विधान सभा मे सदस्यसंख्या का योग	
आन्ध्र प्रदेश	३०१	
आसाम	१०८	(उत्तरी पूर्वी सीमा और नागा क्षेत्रों को छोड़कर)
बिहार	३३०	
गुजरात	१५४	
केरल	१२६	
मध्य प्रदेश	२८८	
मद्रास	२०५	
महाराष्ट्र	२६४	
मैसूर	२०८	
उड़ीसा	१४०	
पंजाब	१५४	
राजस्थान	१७६	
उत्तर प्रदेश	४३०	
पश्चिमी बंगाल	२३८	

जम्मू और काश्मीर संविधान १९५६ के अनुसार उक्त राज्य की विधान सभा

[1] अनु० ३३२, [2] अनु० ३३३,

में निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित १०० सदस्य हैं और यदि सदरे रियासत की राय में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वे दो और स्त्री सदस्यों को नामांकित कर सकते हैं। निर्वाचित स्थानों में से २५ स्थान काश्मीर के पाकिस्तान द्वारा अधिकृत प्रदेश के लिए हैं और जब तक वह प्रदेश मुक्त तथा राज्य में सम्मिलित नहीं हो जाता, यह स्थान रिक्त ही रहेंगे।[1]

निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन (Delimitation)—लोकसभा के निर्वाचन क्षेत्रों की ही भाँति विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र भी परिसीमित किये जाते हैं। सम्पूर्ण राज्य को निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से विधान सभा के लिए चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या निश्चित कर दी जाती है और राष्ट्रपति के आदेश से प्रत्येक अनुसूचित आदिम जाति के लिए स्थान सुरक्षित कर दिये जाते हैं। इन सब बातों का निर्णय निर्वाचन आयोग के प्रस्तावों के आधार पर राष्ट्रपति करते हैं, और निर्वाचन आयोग अपने प्रस्ताव विभिन्न राज्यों के संसद-प्रतिनिधियों से बनी अलग-अलग परामर्शदात्री समितियों के परामर्शों की सलाह से तैयार करता है।[2]

कार्यकाल—राज्य विधान सभा का कार्यकाल ५ वर्ष है। इस समय की समाप्ति के पश्चात् विधान सभा अपने आप विघटित हो जाती है परन्तु आपत्काल की घोषणा प्रचलित होने की अवधि में संसद विधि द्वारा राज्यविधान सभाओं का कार्यकाल एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। संसद ऐसा जितनी बार चाहे उतनी बार कर सकती है, परन्तु ऐसी दशा में आपत्काल की घोषणा की समाप्ति के ६ मास बाद विधानसभाओं का बढ़ाया हुआ कार्यकाल अवश्य समाप्त हो जाता है।[3]

सदस्यों की अर्हताएँ आदि—विधानसभा के सदस्यों की अर्हताएँ और अनर्हताएँ वही हैं जो लोकसभा के सदस्यों की होती हैं। विधानसभा के सदस्य को भारत का नागरिक होना चाहिए। उसकी आयु २५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए तथा उसमें वे अन्य अर्हताएँ भी होनी चाहियें जो संसद द्वारा निश्चित की गई हों। साथ ही उसे अनर्हताओं से मुक्त भी होना चाहिए। कोई व्यक्ति विधानमण्डल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता और न दो या अधिक राज्य विधानमण्डलों का सदस्य रह सकता है।[4]

मताधिकार और निर्वाचन—विधान सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है, अर्थात् प्रत्येक नागरिक जिसकी आयु २१ वर्ष से कम नहीं निर्वाचक होने योग्य है यदि वह आवास, मानसिक स्थिति, अपराध, चुनाव सम्बन्धी भ्रष्टाचार विषयक उन अनर्हताओं से मुक्त हो जो संविधान अथवा उपयुक्त विधान

[1] जम्मू और कश्मीर संविधान धाराएँ ४६, ४७ और ४८। [2] जन प्रतिनिधित्व अधिनियम १९५० विभाग १३, [3] अनु० १७२, [4] अनु० १७३ और १९०।

मंडल द्वारा निर्मित विधियों द्वारा निर्धारित की गई है। ये अनर्हताएँ वही हैं जो लोकसभा की सदस्यता के लिए हैं। वास्तव में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनावों की निर्वाचन-सूची एक ही होती है।[1]

राज्य विधान सभाओं के निर्वाचनों का प्रबन्ध व संचालन भी निर्वाचन आयोग के ही अधीन है। इस कार्य में निर्वाचन आयोग को नियुक्त किये गये क्षेत्रीय (Regional) निर्वाचन-आयुक्तों (Election Commissions) से सहायता मिलती है।

गणपूर्ति—विधानसभा की गणपूर्ति की संख्या उसकी कुल सदस्य संख्या का दशमांश या १० (इनमें जो भी अधिक हो) है। यह नियम तब तक है जब तक राज्य विधानसभा विधि द्वारा कोई अन्य नियम न बना दे।[2]

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—विधानसभा की बैठकों का सभापतित्व करनेवाला अधिकारी अध्यक्ष कहलाता है। इसके अतिरिक्त एक उपाध्यक्ष भी होता है जो अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसका कार्य सँभालता है। दोनों ही विधानसभा द्वारा उसके सदस्यों में से निर्वाचित किये जाते हैं। इन दोनों अधिकारियों को नियत वेतन दिया जाता है। इनको हटाने के लिए विधानसभा द्वारा बहुमत से प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है और इस प्रस्ताव पर तभी विचार किया जा सकता है जब उसकी पूर्व सूचना कम से कम १४ दिन पहले दे दी गई हो। विस्तार तथा परिस्थितियों के अन्तर को छोड़कर विधानसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की स्थिति तथा शक्तियाँ भी वही होती है जो लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की।[3]

विधानसभा की शक्तियाँ और कृत्य—जिन राज्यों में दो सदन है वहाँ विधानमण्डल के उभय सदनों के परस्पर सम्बन्धों का वर्णन किया जा चुका है। हम यह भी बतला चुके है कि दोनों सदनों में विधानसभा अधिक शक्तिशालिनी और वित्त की एक मात्र स्वामिनी होती है। जहाँ विधानमण्डल में केवल एक सदन होता है, वहाँ वही सब कुछ होता है। राज्य विधानमण्डल चाहे द्विसदनीय हो या एक सदनीय, हर दशा में राज्य का मंत्रिमण्डल विधानसभा के प्रति ही उत्तरदायी होता है। विधानसभा ही मंत्रिमंडलों को बना-बिगाड़ सकती है, तथा राज्य-व्यय को स्वीकृति देने की अपनी शक्तियों द्वारा वही राज्य की सरकार पर अपना नियंत्रण रखती है। विधानसभा की राज्य में वही स्थिति है जो संघीय क्षेत्र में लोकसभा की होती है।

विधान सभा की कार्य-पद्धति

स्थिति और विस्तार की बातों के अन्तर के साथ राज्यविधान सभा की कार्रवाई भी लोकसभा की भाँति ही संचालित होती है। यह आवश्यक है कि राज्य

---

[1]अनु० ३२५ और ३२६, [2]अनु० १८९ (३), [3]अनु० १७८ से १८६।

'ग' राज्यों के मन्त्रिमण्डल तथा इनके बीच उत्पन्न विवाद निपटारे के लिए राष्ट्रपति के पास भेजे जाते थे। इन राज्यों पर राष्ट्रपति का नियंत्रण गृह विभाग द्वारा कार्यान्वित होता था। आर्थिक दृष्टि से 'ग' राज्य केन्द्रीय सहायता तथा अनुदान पर निर्भर थे।

विस्तार की कुछ बातों को छोड़कर हिमाचल प्रदेश के लिए अब भी वही व्यवस्था है। भू-भागीय परिषद् अधिनियम १९५६ के अनुसार इसके लिए ४१ सदस्यों की परिषद और लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के स्थान पर चीफ कमिश्नर की व्यवस्था की गई है। अन्य बातें पूर्ववत ही हैं।

परन्तु दिल्ली को राज्य का रूप नहीं दिया गया है। उसके लिए न तो कोई परिषद है और न मन्त्रिमण्डल। वह सीधे केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित है और संसद उसके लिए विधि निर्माण करती है। दिल्ली के स्थानीय विषयों के प्रबन्ध के लिए चार वर्ष के लिए निर्वाचित ८० सदस्यों का कारपोरेशन या निगम है और केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त एक कमिश्नर जो कि प्रधान अधिशासी कर्मचारी है। नई दिल्ली तथा दिल्ली कैण्टोन्मेण्ट, कारपोरेशन अधिकार क्षेत्र से बाहर और सीधे केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रशासित हैं। भवन निर्माण कार्य, नगर योजना, गन्दी बस्तियों की सफाई के लिए पर्याप्त शक्तियों से युक्त एक नगर विकास संस्था स्थापित होगी।

दिल्ली के लिए ऐसी व्यवस्था परमावश्यक थी क्योंकि वह केन्द्रीय सरकार की राजधानी है और किसी राज्य विशेष के अधिकार क्षेत्र मे उसे नहीं रखा जा सकता था।

जहाँ तक मनीपुर तथा त्रिपुरा का सम्बन्ध है, पहिले उनमे से प्रत्येक में ३० सदस्यों का एक निर्वाचक मण्डल था। अब उनमे से ३० सदस्यों की परिषद है। अन्य व्यवस्थाएँ पूर्ववत् ही हैं।

अंडमान-निकोबार, मिनीकाय और अमीनदीवी द्वीप समुदाय एक भिन्न श्रेणी में रखे गये हैं। उनमे न तो क्षेत्रीय परिषद है और न परामर्श समिति ही। राष्ट्रपति को इनके विषय मे नियम-निर्माण का अधिकार है। इन नियमों को संसद के कानूनों की-सी ही मान्यता प्राप्त है। प्रशासन के क्षेत्र मे राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त चीफ कमिश्नर या अन्य प्रशासकीय अधिकारी द्वारा इनके प्रशासन का संचालन करते हैं।

केन्द्र प्रशासित प्रदेशों के प्रसंग मे 'राष्ट्रपति' का अर्थ होता है केन्द्रीय सरकार जो कि गृह विभाग द्वारा कार्य संचालन करती है।

न्यायपालिका
(THE JUDICIARY)

अध्याय १०

एकतापूर्ण न्यायपालिका और कानून व्यवस्था—यद्यपि भारत का शासन संघीय है परन्तु तो भी संविधान द्वारा देश मे एकतापूर्ण न्यायपालिका और एक ही मौलिक विधियों के समूह की व्यवस्था की गई है। संघीय न्यायालय केवल एक है अर्थात् उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) और उच्च न्यायालयो सहित शेष सभी न्यायालय राज्यो के हैं। परन्तु उच्च-न्यायालयो की रचना और सगठन संघीय विषय है। उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और वह उनको एक उच्च न्यायालय (High Court) से दूसरे उच्च न्यायालय मे स्थानान्तरित भी कर सकता है। उच्च न्यायालय से अपीले उच्चतम न्यायालय मे जाती है तथा उच्चतम न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) भारत-व्यापी है। राज्यो के न्यायालयो मे संघीय विधियों से सम्बन्धित मामलो की सुनवाई होती है और वे ऐसे भी मामले तय करते हैं जिनमें संघीय-संविधान की व्याख्या का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त रहता है। दूसरी ओर उच्चतम न्यायालय स्वविवेकानुसार अपनी विशेषानुमति द्वारा (by Special Leave) भारतीय क्षेत्र मे स्थित किसी भी न्यायालय (Court) या न्यायाधिकरण (Tribunal) के निर्णय, डिग्री, दण्ड या आदेश की अपील सुन सकता है।

देश के मौलिक कानूनो की एकता ब्रिटिश शासन काल की एक देन है और नये संविधान मे इसकी रक्षा फौजदारी कानून और प्रक्रिया (Criminal Law and (Procedure), दीवानी प्रक्रिया (Civil Procedure), विवाह और विवाह-विच्छेद (तलाक़), दत्तक ग्रहण, वसीयत, उत्तराधिकार, सम्पत्ति हस्तान्तरण, संविदा, साक्ष्य आदि विषयो को समवर्ती सूची मे रख कर बडी सावधानी की गई है। यह सच है कि परिवार, सम्पत्ति, उत्तराधिकार आदि के कानून विभिन्न समाजो और सम्प्रदायों मे थोड़े भिन्न हैं, पर ये देश के कुल कानूनो की समष्टि के बहुत छोटे अंश मात्र हैं। हिन्दू कोडबिल आदि जैसे विधेयको द्वारा इस विभिन्नता को भी देश के सबसे बड़े समुदाय में से दूर किया जा रहा है।

उच्चतम न्यायालय
(The Supreme Court)

उच्चतम न्यायालय का संगठन—देश की न्यायपालिका के शीर्ष पर भारत का उच्चतम न्यायालय अवस्थित है। उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा अधिक से अधिक सात अन्य न्यायाधीश होते हैं। संसद यदि चाहे तो विधि बना कर न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि भी कर सकती है।[1] इस समय उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य तथा १० सहायक न्यायाधीश अर्थात् कुल ११ न्यायाधीश हैं।

संविधान में विशेष मौकों तथा कार्यों के लिये विशिष्ट न्यायाधीशों (Adhoc Judges) की नियुक्ति की व्यवस्था भी दी हुई है। इसके अतिरिक्त अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों को भी आवश्यकता पड़ने पर उच्चतम न्यायालय में बैठने के लिये बुलाया जा सकता है। विशेष अवसरों या कार्यों के लिये विशिष्ट न्यायाधीशों (Adhoc Judges) की नियुक्ति भारत के प्रधान न्यायाधीश के बाद भारत के मुख्य राष्ट्रपति की पूर्वानुमति से किसी भी उच्च न्यायालय के उपयुक्त योग्यता वाले न्यायाधीशों में से आवश्यक अवधि के लिये कर सकते हैं। इस प्रकार की नियुक्तियों की आवश्यकता तब पड़ती है जब उच्चतम न्यायालय में गणपूर्ति (Quorum) के लिये पर्याप्त न्यायाधीश उपलब्ध नहीं होते। इन नियुक्तियों के करने में भारत के मुख्य न्यायाधीश को जिस उच्च-न्यायालय (High Court) से न्यायाधीशों को लेना हो, उसके मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice) से परामर्श कर लेना आवश्यक है।[2]

राष्ट्रपति की पूर्वानुमति से भारत का प्रधान न्यायाधीश उच्चतम-न्यायालय या भूतपूर्व संघीय न्यायालय (अब समाप्त) के किसी भी अवकाश प्राप्त (Retired) न्यायाधीश से (यदि वह राजी हो) किसी भी समय उच्चतम न्यायालय में आकर कार्य करने के लिये कह सकता है।[3]

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की योग्यतायें—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के पद के उम्मीदवार के लिये यह आवश्यक है कि वह भारतीय नागरिक हो और या तो कम से कम पाँच वर्ष तक किसी उच्च-न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका हो या किसी उच्च न्यायालय में कम से कम १० वर्ष वकालत करने का अनुभव रखता हो, या राष्ट्रपति की राय में सुविख्यात विधि-वेत्ता (Jurist) हो।[4]

नियुक्ति (Appointment)—उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति उच्चतम और उच्च-न्यायालयों के उन न्यायाधीशों के परामर्श

[1]अनु० १२४ (१), [2]अनु० १२७, [3]अनु० १२८, [4]अनु० १२४ (३)

से करता है जिनसे परामर्श लेना वह आवश्यक समझे। सहायक न्यायाधीशों (Associate Judges) को नियुक्ति करते समय यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधिपति से सदैव परामर्श कर ले।[1]

कार्यकाल और पदच्युति—उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु तक कार्य करता है। उसे राष्ट्रपति तभी हटा सकता है जब एक ही सत्र मे संसद का प्रत्येक सदन अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से इस आशय का अनुरोध करे। संसद इस प्रकार का अनुरोध केवल दो कारणों से ही कर सकती है, अर्थात् किसी न्यायाधीश के प्रमाण-सिद्ध कदाचार (misbehaviour) या उसकी अक्षमता (Incapacity) के आधार पर। न्यायाधीशों को हटाने के लिए इतनी कठिन प्रक्रिया इसीलिए निर्दिष्ट की गई है जिससे उनको कार्यकाल सबधी पूर्ण सुरक्षा प्राप्त रहे और वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संविधान में यह व्यवस्था भी है कि किसी भी न्यायाधीश की सुविधाओ, और वेतन और भत्तों मे उसके कार्यकाल मे कोई कमी नहीं की जा सकती।[2] प्रधान न्यायाधीश को ५०००) रु० तथा अन्य न्यायाधीशों को ४०००) रु० मासिक वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक न्यायाधीश को बिना किराये का सरकारी निवासस्थान भी मिलता है। यदि उन्हे किसी सरकारी कार्य से बाहर जाने की आवश्यकता पड़े तो समुचित मार्ग व्यय और अन्य सुविधाये दी जाती हैं।[3] अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश भारत के किसी भी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता।

उच्चतम न्यायालय का क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ—उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार को हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते हैं, अर्थात् प्रारंभिक (Original), अपीलीय (Appellate), और परामर्श संबंधी (Advisory)। प्रारंभिक (Original) क्षेत्राधिकार मे उच्चतम न्यायालय भारत सरकार तथा किसी राज्य या राज्यो मे, अथवा राज्यो मे आपस मे होने वाले उन विवादो का निर्णय करता है जिनमें कानून या तथ्य सम्बन्धी कोई ऐसा प्रश्न निहित हो जिस पर किसी वैधानिक अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर हो। संविधान के आरम्भ होने के पूर्व की हुई किसी संधि या सनद की व्यवस्थाओ को लेकर उत्पन्न होने वाला विवाद और किसी भी संधि या समझौते की किसी व्यवस्था से उत्पन्न कोई ऐसा विवाद जो उस संधि आदि की शर्तों द्वारा ही स्पष्ट रूप से उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार में नहीं आते।[4]

---

[1]अनु० १२४ (२), [2]अनु० १२५ [3] दूसरी अनुसूची। [4]अनु० १३१।

देश के संघीय शासन के दृष्टिकोण से उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का बड़ा महत्व है। संघ व्यवस्था की मूल वस्तु है केन्द्र और राज्यो के बीच शक्ति-विभाजन और इस विभाजन को स्थिर रखने के लिए किसी ऐसी निष्पक्ष और स्वतन्त्र सत्ता का होना आवश्यक है जो यह देखती रहे कि, संघ तथा राज्य, इन दोनो में से कोई भी पक्ष उक्त विभाजन का अतिक्रमण न कर सके। संघीय और राज्य-सरकारो के बीच बहुधा विधियो के बनाने की शक्ति को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है। मतभेद का रूप यह होता है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष द्वारा निर्मित विधि को उसकी शक्ति से परे और अवैध (Ultra vires) कहने लगता है जिसका अर्थ होता है जिस पक्ष ने उस विधि को बनाया है उसे तद्विषयक विधि बनाने का अधिकार नही है। इस प्रकार के झगडो को निपटाने के लिए उच्चतम न्यायालय को सविधान मे दिये हुए शक्ति विभाजन की व्याख्या करनी पड़ती है और उसके गूढ़ आशयो को पूरी तरह स्पष्ट करना पड़ता है। इस प्रकार की न्यायिक व्याख्या सघीय सविधान के विकास की एक महत्वपूर्ण पद्धति मानी जाती है। सयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया मे इस प्रकार की व्याख्या द्वारा संघीय शक्तियो का पर्याप्त विस्तार हुआ है। न्यायाधीश मार्शल ने इसीलिए इसे सविधान की 'रचनात्मक व्याख्या' (Constructive Interpretation) की संज्ञा दी है। भारत सरकार तथा किसी राज्य या राज्यो अथवा राज्यो मे आपस मे ही, उनकी भौगोलिक सीमाओ के सम्बन्ध मे भी विवाद हो सकता है। इन सब मामलो मे उच्चतम न्यायालय को सघ के दोनो पक्षो के बीच निष्पक्ष और समान न्याय करना होता है। इसीलिए श्री बख्शी टेकचन्द ने उच्चतम न्यायालय को सघीय और राज्य विधान मण्डलो के बीच का सन्तुलनचक्र (The Balance Wheel) कहा था। इसका कार्य सघ तथा राज्य-विधानमण्डलो को अपने-अपने उचित अधिकार क्षेत्रो के अन्दर ही रखना है।

उच्चतम न्यायालय नागरिको के व्यक्तिगत-स्वातन्त्र्य और मूलाधिकारो का सर्वोच्च रक्षक भी है। सविधान मे प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार दिया गया है कि वह मूलाधिकारो को उचित प्रक्रिया द्वारा कार्यान्वित करने की उच्चतम न्यायालय से प्रार्थना करे। सविधान मे यह भी कहा गया है कि उसके लागू होते ही भारत मे प्रचलित वे सारे कानून जो मूलाधिकारो के विरुद्ध हैं, उस हद तक प्रभावशून्य हो जायेंगे जहाँ तक उनका सविधान द्वारा प्रदत्त मूलाधिकारो से विरोध हो। मूलाधिकारो के विरुद्ध या उनका उल्लघन करते हुए, विधियाँ बनाना वर्जित हैं। कोई भी सरकार या शासनाधिकारी चाहे वह सङ्घीय हो अथवा राज्यीय या स्थानीय, मूलाधिकारो की मर्यादाओ का उल्लघन करते हुए कानून, नियम या उपनियम नही बना सकता। यह उच्चतम न्यायालय का कर्तव्य है कि सरकार की शक्तियों पर मूल अधिकारो की रक्षार्थ लगाये इन प्रतिबन्धो का

उल्लंघन न होने दें। इस कर्तव्य के पालन के लिए उच्चतम न्यायालय को विभिन्न प्रकार के लेखादेश (writs) निकालने की शक्ति दी गई है। उच्चतम न्यायालय बन्दीप्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (prohibition), अधिकार पृच्छा (Quo Warranto) और उत्प्रेषण (Certiorari) के लेखादेश (Writ) दे सकता है। मूलाधिकारों की रक्षा करना उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का एक महत्वपूर्ण अंग है। उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय (Court of Record) भी है। अभिलेख न्यायालय का अर्थ है ऐसा न्यायालय जिसकी कार्यवाइयाँ और निर्णय सदा के लिए लिखित रूप से सुरक्षित रखे जाते और नजीर समझे जाते हैं तथा जो अपनी मानहानि करने वाले व्यक्ति को दण्ड देने की भी शक्ति रखता है।

अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appel'ate Jurisdiction)—उच्चतम न्यायालय को दीवानी (Civil) और फौजदारी (Criminal) मामलों में उच्च न्यायालयों के निर्णयों की अपील सुनने की शक्ति है। स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व प्रिवी काउंसिल उच्च न्यायालयों के सामान्य मामलों में फैसलों की और संघीय न्यायालय (Federal Court) उनके संवैधानिक मामलों में फैसलों की अपील सुनती थी। सन् १९४९ में प्रिवी कौंसिल क्षेत्राधिकार उन्मूलन अधिनियम पारित हुआ। इसके फलस्वरूप भारत से प्रिवी कौंसिल में अपीलों का जाना बन्द हो गया। अब उच्चतम न्यायालय ही देश का सबसे ऊँचा न्यायालय है। उच्चतम न्यायालय यदि चाहे तो अपने आदेशों और निर्णयों पर स्वयं पुनर्विचार (review) कर सकता है लेकिन उससे उच्चतर ऐसा कोई न्यायालय नहीं है जिसमें उसके आदेशों या निर्णयों की अपील की जा सके।[1]

उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, डिग्री या अन्तिम आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील करने के तीन मार्ग हैं अर्थात् (१) सम्बन्धित उच्च न्यायालय के प्रमाण-पत्र द्वारा, (२) उच्चतम न्यायालय की विशेषानुमति (Special leave) द्वारा और (३) स्वाधिकार द्वारा (as a matter of right)। इनमें से पहला मार्ग यह है कि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि उसके द्वारा निर्णय किये हुए मामले में कोई ऐसा महत्वपूर्ण कानून का प्रश्न (Question of Law) अन्तर्ग्रस्त है जिसका सम्बन्ध संविधान की व्याख्या से है। दूसरा रास्ता यह है कि यदि उच्चन्यायालय उक्त आशय का प्रमाणपत्र न दे तो उच्चतम न्यायालय की विशेषानुमति से उसके समक्ष अपील हो सकती है। विशेषानुमति प्राप्त करने की प्रार्थना इस आधार पर की जाती है कि उच्चन्यायालय ने अपील के लिए प्रमाणपत्र न देकर गलती की है। इसी प्रकार विरोधी

[1] अनु० १३७

पक्ष भी किसी उच्च न्यायालय द्वारा अपील का प्रमाणपत्र दिये जाने के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय मे इस आधार पर अपील कर सकता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वी को उक्त प्रमाण पत्र गलत आधारो पर दिया गया है।[1] आशय यह है कि उच्च न्यायालय द्वारा अपील के प्रमाणपत्र दिये जाने या न दिये जाने के कृत्य की भी अपील उच्चतम न्यायालय मे की जा सकती है। सामान्यत: उच्च न्यायालय ही के निर्णयो की अपील उच्चतम न्यायालय में की जाती है लेकिन उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति है कि वह सैनिक न्यायालयों (Courts Martial) के अतिरिक्त भारत के अन्य किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण के निर्णय की अपील स्वविवेक से विशेषानुमति देकर सुन सकता है।[2]

तीसरा और अन्तिम मार्ग है स्वाधिकार द्वारा (As a matter of right) अपील का। स्वाधिकार द्वारा अपील का यह अर्थ है कि उसके करने मे किसी की अनुमति या प्रमाणपत्र की आवश्यकता न हो, किन्तु मुकदमे के मूल्य या प्रकार के ही आधार पर अपील हो सके, अथवा कोई प्रमाणपत्र आवश्यक भी हो तो वह मुकदमे के मूल्य या प्रकार के आधार पर स्वत: ही मिल जाय। दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मामलो की अपीलें उच्चतम न्यायालय में स्वाधिकार द्वारा की जा सकती हैं। दीवानी मामलो मे उच्च-न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध स्वाधिकार (as a matter of right) द्वारा अपील तब की जाती है जब कि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि सम्बन्धित मुकदमे की मालियत २०,०००) रु० से कम नहीं है, अथवा वह मुकदमा किसी अन्य कारण से उच्चतम न्यायालय के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित करने योग्य है।[3] प्रिवी कौंसिल में १०,०००) रु० तक के मुकदमे भी सुनवाई के लिए भेजे जा सकते थे।

फौजदारी (Criminal) मामलों में उच्चन्यायालय के निर्णयों की अपीलें उच्चतम न्यायालय में निम्नलिखित दशाओं में की जा सकती हैं—(१) यदि उच्च न्यायालय (High Court) ने किसी अधीन न्यायालय (Subordinate Court) द्वारा अभियुक्त को रिहाई (छोड़ देने) के फैसले को उलट कर अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया हो, या (२) यदि उच्च न्यायालय ने किसी अधीन न्यायालय के विचाराधीन मामले को अपने यहाँ मँगा कर अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया हो, या (३) यदि उच्च-न्यायालय प्रमाणित कर दे कि मुकदमा उच्चतम-न्यायालय के सम्मुख ले जाने योग्य है। संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय के फौजदारी मामलो सम्बन्धी अपील के क्षेत्राधिकार को और भी व्यापक बना सकती है।[4]

परामर्श (Advisory) विषयक क्षेत्राधिकार—राष्ट्रपति सार्वजनिक महत्व के किसी भी तथ्य या विधि के प्रश्न को उच्चतम न्यायालय के पास भेजकर उसके सम्बन्ध में

[1] अनु० १३२, [2] अनु० १३६, [3] अनु० १३३, [4] अनु० १३४

उसकी राय माँग सकते हैं।[1] भाग 'ख' राज्यों से की हुई किसी भी संधि, सनद या अन्य कागज-पत्र से सम्बन्धित विवाद में भी उच्चतम-न्यायालय की राय माँगी जा सकती है। उच्चतम न्यायालय यथावश्यक सुनवाई करने के पश्चात् राष्ट्रपति को अपनी राय की रिपोर्ट देता है।[2]

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार का विस्तार—संसद विधि द्वारा संघ-सूची में उल्लिखित किसी भी विषय को उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन कर सकती है और उसे मूलाधिकार की रक्षा के अतिरिक्त और कार्यों के लिये भी लेखादेश निकालने का अधिकार दे सकती है। भारत-सरकार तथा किसी राज्य की सरकार या सरकारें पारस्परिक समझौते द्वारा उच्चतम न्यायालय को किसी भी ऐसे विषय के क्षेत्राधिकार दे सकते हैं जिनमे संसद ने ऐसे अधिकार दिये जाने की व्यवस्था की हो। उच्चतम-न्यायालय को संसद विधियाँ बना कर ऐसी समस्त अनुपूरक सहायक और उपसहायक शक्तियाँ दे सकती है जो उसके कृत्यो (Functions) के निर्वहन के लिए आवश्यक तथा वांछनीय हो।[3] उच्चतम न्यायालय द्वारा दी हुई विधि व्यवस्था भारत के सभी न्यायालयो को मान्य करनी होती है। उच्चतम न्यायालय किसी व्यक्ति या कागजपत्र को अपने सामने उपस्थित किये जाने की आज्ञा दे सकता है और अपनी मानहानि (Contempt) के लिए दण्ड दे सकता है।[4] राष्ट्रपति तथा शासन के अन्य निर्दिष्ट पदाधिकारियो का यह कर्तव्य है कि उच्चतम न्यायालय के आदेशो तथा डिक्रियो को लागू कराये।

उच्चतम न्यायालय की प्रक्रिया—उच्चतम न्यायालय को अपनी प्रक्रिया और कार्यप्रणाली को निश्चित करने के लिए नियम बनाने की व्यापक शक्ति है। जिन मुकदमों मे कोई कानून सम्बन्धी या संविधान की व्याख्या सम्बन्धी प्रश्न हो, उनकी सुनवाई कम से कम पाँच न्यायाधीशो की बेंच द्वारा होनी आवश्यक है। अन्य प्रकार के मामलो की सुनवाई एक ही न्यायाधीश या न्यायालय के नियम द्वारा निर्दिष्ट न्यायाधीशो की संख्या कर सकती है। उच्चतम-न्यायालय के सभी निर्णय मामले की सुनवाई करने वाले न्यायाधीशो के बहुमत से होता है। इनमे से कोई भी न्यायाधीश जो बहुमत वाले न्यायाधीशो के निर्णय से सहमत न हो, उसके विरुद्ध अपना निर्णय लिख सकता है। उच्चतम न्यायालय के निर्णय तथा राय (Opinions) उसकी खुली बैठकों मे सुनाये जाते हैं।[5]

सन् १६५० मे प्रकाशित उच्चतम न्यायालय के नियमो के अनुसार सामान्यतः प्रत्येक मुकदमे और अपील (जो संवैधानिक न हो) को सुनवाई न्यायाधीशो के एक मंडल द्वारा को जाती है जिनमे तीन से कम सदस्य नही हो सकते। इन सदस्यों का नामांकन मुख्य न्यायाधीश करता है। यदि यह न्यायाधीश-मंडल समझे कि किसी मामले में तीन

[1]अनु० १४३, [2]अनु० १४३, [3]अनु० १४०, [4]अनु० १३२, [5]अनु० १४५

भारत का ही संविधान स्पष्ट रूप से देता है, तथापि वास्तव में संघीय व्यवस्था की आवश्यकताओं तथा मूल अधिकारों के कारण दोनों देशों के उच्चतम न्यायालय, व्यवहार मे, इस अधिकार का प्रयोग करते हैं। परन्तु इस विषय मे दोनों न्यायालयो की शक्ति मे बडा अन्तर है। अमेरिका का उच्चतम न्यायालय किसी भी कानून की संवैधानिकता या असवैधानिकता का निर्णय करने के लिए उसकी दो कसौटियो पर परीक्षा करता है, अर्थात (१) जिस विधान मंडल (राज्य या सघ) ने उस कानून को बनाया है उसको उसे बनाने की विधायिनी शक्ति थी या नही और (२) वह कानून विधि की उचित प्रक्रिया (Due Process of Law) की शर्तों को पूरी करता है या नही। कोई कानून यदि अपने बनाने वाले विधान मंडल की शक्तियों के अन्तर्गत हो भी परन्तु विधि की उचित प्रक्रिया के विरुद्ध हो तो अमेरिका का उच्चतम न्यायालय उसे असंवैधानिक घोषित कर सकता है। विधि की उचित प्रक्रिया (Due Process of Law) का अर्थ है नैसर्गिक या स्वाभाविक न्याय (Natural Justice) के कुछ सर्वमान्य सिद्धातों या मानदडो के अनुसार होना। जो विधि इनके प्रतिकूल हो वह अमेरिकन न्यायालय की दृष्टि से असवैधानिक है। भारतीय संविधान मे 'विधि की उचित प्रक्रिया' शब्दावली का प्रयोग न करके इसके स्थान मे 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्दो को रखा गया है। यह एक मौलिक अंतर है और इसके कारण भारतीय उच्चतम न्यायालय किसी कानून की स्वाभाविक न्याय के सिद्धान्तो की अनुकूलता-प्रतिकूलता या उसकी अच्छाई-बुराई के आधार पर उसे असवैधानिक नही घोषित कर सकता। यदि भारतीय संसद या किसी राज्य विधान मडल द्वारा पारित कानून उनकी विधायिनी शक्तियों (Legislative Powers) के अन्तर्गत है तो भारतीय उच्चतम न्यायालय को उसे सवैधानिक मानना ही होगा। इसका एकमात्र अपवाद कुछ मूलाधिकारो के सबध मे उत्पन्न होता है, जिन पर संसद द्वारा 'तर्कसंगत प्रतिबन्ध' लगाने का अधिकार दिया गया है। यहाँ उच्चतम न्यायालय किसी मूलाधिकार पर ससद द्वारा लगाये हुए किसी प्रतिबन्ध के तर्कसंगत होने या न होने का निर्णय सहज बुद्धि (Common sense) और नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तो के अनुसार ही करेगा।

अमेरिका मे 'विधि की उचित प्रक्रिया' की कोई पूर्ण परिभाषा कभी नही दी जा सकी है। तथापि इस शब्दावली के अभिप्राय के विषय की बहुत-सी व्यापक बातें सर्व-सम्मत हैं : 'विधि की उचित प्रक्रिया' के दो अर्थ होते हैं अर्थात् न्याय पद्धति संबंधी (Procedural) और मूल सिद्धान्त संबंधी (Substantive)। उदाहरणार्थ विधि की उचित प्रक्रिया के न्याय पद्धति (Procedural Due Process) पक्ष का फौजदारी कार्रवाई (Criminal Cases) मे यह अर्थ होता है कि अभियुक्त को अपनी रक्षा के लिए पर्याप्त कानूनी सहायता मिलनी चाहिए, जबर्दस्ती प्राप्त की गई स्वीकारोक्ति

(Confession) के आधार पर उसे दण्डित नही किया जाना चाहिए, उसके मुकदमे पर खुले न्यायालय में और निष्पक्षतापूर्वक विचार होना चाहिए, आदि। मूल सिद्धात के रूप में विधि की उचित प्रक्रिया का यह अर्थ है कि, न्याय पद्धति के अतिरिक्त; जिस कानून के अंतर्गत अथवा आधार पर न्याय किया जाय वह कानून भी तर्कसंगत होना चाहिए। यदि किसी कानून में कोई अयुक्तिसंगत या मनमानी बात हो तो न्यायपालिका उसे शून्य घोषित कर सकती है।

परतु 'विधि की उचित प्रक्रिया' का सम्पूर्ण अभिप्राय बतलाना सम्भव नहीं है। सामान्यत: यही कहा जा सकता है कि विधि की उचित प्रक्रिया निरंकुशता, अतर्कसंगतता और अनौचित्य आदि का विलोम (उल्टा) है, परतु किसी मामले मे इस बात का निर्णय न्यायाधीश ही कर सकते हैं कि क्या निरकुशतापूर्ण अथवा अनुचित हैं और क्या नही। इसी आधार पर अमेरिका मे न्यायपालिका की सर्वोच्चता (Judicial Supremacy) का सिद्धात विकसित हुआ है। 'पासा पडे सो दाँव, हाकिम करे सो न्याय' की कहावत के अनुसार जो न्यायाधीश कहे वही संविधान है। किसी भी विधि की संवैधानिकता या असंवैधानिकता का निर्णय उच्चतम न्यायालय अपनी बौद्धिक और सामाजिक धारणाओं के अनुसार करता है। इस प्रकार वह व्यक्ति स्वातंत्र्य और सामाजिक नियंत्रण के बीच समुचित सतुलन स्थापित करने मे समर्थ है।

भारतीय उच्चतम न्यायालय को ऐसी उच्च स्थिति नही प्रदान की गई है। वह किसी कानून को तभी असवैधानिक घोषित कर सकता है जब वह अपने बनाने वाले विधानमण्डल को विधि निर्माण की शक्ति के परे या बाहर हो, अन्यथा नही। वह किसी कानून को उसकी आंतरिक अच्छाई या बुराई के आधार पर असंवैधानिक नही घोषित कर सकता। अतः हमारे देश मे न्यायपालिका की सर्वोच्चता न होकर एक प्रकार की सीमित 'विधानमण्डलीय' सर्वोच्चता है। जब तक विधानमण्डल अपनी निर्दिष्ट शक्तियों के अंतर्गत विधि निर्माण करते हैं तब तक उनकी विधियो के शून्य घोषित किये जाने का कोई डर नही है। भारतीय उच्चतम न्यायालय अमेरिका के उच्चतम न्यायालय की भाँति विधानमण्डल का तृतीय सदन कभी नही बन सकता।

अन्त में, भारतीय उच्चतम न्यायालय का परामर्श विषयक क्षेत्राधिकार भी है। अमेरिका का उच्चतम न्यायालय वहाँ की सरकार को कानूनी परामर्श देने को बाध्य नही। कट्टर विधानवेत्ता यह उचित नही समझते कि न्यायपालिका सरकार को कानूनी परामर्श दे। उनका कहना है कि न्यायपालिका का उचित कार्य विधियो को वास्तविक मामले में प्रयुक्त या लागू करना है न कि यह बतलाना है कि अमुक काल्पनिक स्थिति में क्या विधिसंगत होगा और क्या नहीं। अतएव, ब्रिटेन की लार्ड

सभा तक तथा अमेरिका के उच्चतम न्यायालय की भाँति के महान न्यायालय कार्यपालिका को विधि सम्बन्धी परामर्श देने से सदैव इंकार करते रहे हैं। परन्तु, स्वराज्य-प्राप्त ब्रिटिश उपनिवेशों (Dominions) की परम्परा के अनुसार भारतीय उच्चतम न्यायालय को भी परामर्श देने का कार्य किया गया है।

उच्च न्यायालय

(The High Courts)

संगठन—संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की बात कही गई है और यह व्यवस्था है कि संविधान के प्रारम्भ के पूर्व प्रांतो के उच्च न्यायालय स्वतः ही अनुरूप राज्यो के उच्च न्यायालय बन जायेंगे।[1] परन्तु सप्तम संविधान संशोधन (१९५६) संसद को कानून द्वारा दो या अधिक राज्यों और संघीय भू-भागो के लिए एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना की शक्ति प्रदान करता है।[2] इसी प्रकार संसद उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को संघीय भू-भागो पर लागू कर सकती है या उस पर से हटा सकती है। ऐसी दशा मे, राज्य-विधानसभा को इस अधिकार सीमा के बढाने, सीमित करने या समाप्त करने का कोई अधिकार नही है।[3]

उच्च न्यायालय मे एक मुख्य न्यायाधीश तथा राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर निश्चित सख्या मे अन्य न्यायाधीश होते हैं। उच्च न्यायालय के कार्य मे अल्पकालिक विस्तार या अधिकता के कारण राष्ट्रपति योग्यताप्राप्त व्यक्तियों को अतिरिक्त न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है परन्तु उनकी आयु ६० वर्ष और पद अवधि २ वर्षों से अधिक नही होनी चाहिये। स्थायी न्यायाधीशों के वर्ग मे अनुपस्थिति या किसी अन्य कारणवश हुई आकस्मिक स्थान-रिक्तता की पूर्ति के लिए राष्ट्रपति अस्थायी न्यायाधीशो की नियुक्ति कर सकता है।[4]

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की अर्हताएँ (Qualifications) यह हैं कि (१) वह भारतीय नागरिक हो और (२) वह या तो भारत मे किसी न्यायपद पर कम के कम १० वर्ष रह चुका हो या एक या अधिक राज्यो के उच्च न्यायालय मे कम से कम १० वर्ष वकालत कर चुका हो।[5]

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, और सम्बंधित राज्य या राज्यो के राज्यपाल या राज्यपालों के परामर्श से करते हैं। मुख्य न्यायाधीश (The

[1]धारा २१४, [2]संशोधन धारा २३१, [3]धारा २३०, [4]सातवाँ संशोधन अधिनियम १९५६ द्वारा संशोधित धारा २२४, [5]अनु० २१७ (२)

Chief Justice) की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति (The Chief-Justice of India) तथा संबंधित राज्य या राज्यपाल या राज्यपालों के परामर्श से करते हैं।[1]

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल, पदच्युति तथा नौकरी की शर्तें आदि—उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश अपने पद पर ६० वर्ष की आयु तक रह सकते हैं। इसके बाद उन्हें कार्य निवृत्त (Retire) होना पड़ता है। जिस प्रक्रिया से उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जा सकता है उसी प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को भी हटाया जा सकता है और उनके हटाये जाने के कारण भी वही हैं।[2] मुख्य न्यायाधीश को ४०००) रु० मासिक वेतन मिलता है और अन्य न्यायाधीशों को ३,५००) रु० मासिक। उनके अधिकारों तथा विशेष सुविधाओं की रक्षा भी उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की। कोई व्यक्ति जो संविधान के प्रारंभ के बाद किसी उच्च न्यायालय का स्थायी न्यायाधीश रह चुका है, उच्चतम न्यायालय तथा जिस उच्च न्यायालय में वह रह चुका है उसको छोड़ कर अन्य उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त भारत के किसी भी न्यायालय में, या किसी अधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकता।[3] किसी भी उच्चन्यायालय के न्यायाधीश को भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से राष्ट्रपति किसी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित (Transfer) कर सकते हैं।[4]

उच्च न्यायालयों की क्षेत्राधिकारीय क्षमता पहले की ही भांति है। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास के उच्च न्यायालयों को पूर्ववत ही प्रारंभिक (Original) और अपीलीय दोनों क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं; किन्तु अन्य उच्च-न्यायालयों का क्षेत्राधिकार केवल अपीलीय (Appellate) ही है। उनमें दीवानी (Civil) और फौजदारी (Criminal) मामलों की अपीलें ही की जा सकती हैं। तथापि, उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकारों में दो दिशाओं में वृद्धि हुई है। पहली दिशा तो है राजस्व संबंधी। संविधान लागू होने के पूर्व राजस्व (Revenue) या उसके या संग्रह संबंधी मामले उच्च-न्यायालय में नहीं आ सकते थे। अब यह प्रतिबंध हटा लिया गया है। क्षेत्राधिकार-वृद्धि की दूसरी दिशा है समादेशों (writs) संबंधी। पहले केवल कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के उच्च प्रकार के न्यायालय सभी प्रकार के समादेशों को जारी कर सकते थे[5] और वह भी इन नगरों के सीमान्तर्गत ही। अन्य उच्च न्यायालयों को केवल बन्दी

---

[1]अनु० २१७ (१), [2]अनु० २१८, [3]अनु० २२०, [4]अनु० २२२, [5]अनु० २२५ की व्यवस्थाएँ

प्रत्यक्षीकरण (Writ of Habeas Corpus) का समादेश जारी करने का अधिकार था। अब यह प्रतिबन्ध भी उठा लिया गया है और सभी उच्च-न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिबंध (Prohibition), अधिकार पृच्छा (Quo Warranto) और उत्प्रेषण लेख (Certiorari) के समादेश जारी कर सकते हैं।[1] ये समादेश केवल मूलाधिकारों की रक्षा के लिए ही नहीं अपितु अन्य कामों के लिए भी जारी किये जा सकते हैं। सभी उच्च न्यायालयों को सभी प्रकार के समादेशों (Writs) को जारी करने की शक्ति मिल जाने से नागरिकों द्वारा शासन के अन्यायपूर्ण या अवैध कार्यों के विरुद्ध सवैधानिक उपचारों के प्रयोग की सुविधाएँ बढ़ गई हैं।

उच्च न्यायालयों को अपने क्षेत्र में स्थित सभी न्यायालयों (केवल सैनिक न्यायालयों को छोड़कर) के कार्य की देख-रेख का अधिकार है।[2] उच्च न्यायालय यदि यह अनुभव करे कि उसके अधीन किसी न्यायालय में कोई ऐसा मामला विचाराधीन है जिसमें कोई महत्वपूर्ण सवैधानिक प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है तो वह उस मामले को अपने समक्ष मँगवा कर उसका स्वयं फैसला कर सकता है या अन्तर्ग्रस्त सवैधानिक निर्णय करके उसे पुनः अधीन न्यायालय के पास लौटा सकता है।[3]

उच्च न्यायालय अधीन न्यायालयों के कार्यों का विवरण माँग सकता है, उनकी कार्य प्रणाली के विनियम के लिए सामान्य नियम और प्रपत्र बना सकता है, हिसाब किताब रखने की प्रणाली और प्रपत्रों आदि को निश्चित कर सकता है, तथा उनके पदाधिकारियों, लिपिकों और वकीलों आदि की फीस (Fees) को भी निर्धारित कर सकता है।[4]

अन्तिम बात यह है कि उच्च-न्यायालय (या मुख्य-न्यायाधीश) अपने प्रशासनिक कर्मचारियों और पदाधिकारियों को नियुक्त करता है और नौकरी की शर्तों को नियमों द्वारा निर्धारित करता है। इन नियमों पर राज्यपाल या सबंधित राज्यों के राज्यपालों और यदि उच्च न्यायालय किसी सघीय भूभाग में स्थित हुआ तो राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है। प्रत्येक उच्च-न्यायालय उच्चतम न्यायालय की भाँति ही अभिलेख न्यायालय (Court of Record) भी है।

उच्च-न्यायालयों की स्वतंत्रता—नियुक्ति, पद-अवधि, वेतन, अधिकार आदि के सम्बन्ध में उच्च-न्यायालयों के न्यायाधीशों को भी वही सरक्षण प्राप्त हैं जो उच्चतम-न्यायालय के न्यायाधीशों को। इस प्रकार उनकी निष्पक्षता और स्वतत्रता सुरक्षित कर दी गई है। ब्रिटिश शासन काल में भी उच्च-न्यायालय अपनी निष्पक्षता और स्वतंत्रता

[1]अनु० २२६, [2]अनु० २२७, [3]अनु० २२८, [4]अनु० २२७ (२)।

के कारण जनता के आदर और विश्वास के पात्र थे, और इसमें कोई सन्देह नही है कि भविष्य मे भी वे अपनी इस प्रतिष्ठा को बनाये रखेंगे।

अधीन न्यायालय

(The Subordinate Courts)

उच्च-न्यायालयों के अधीन जिलो मे दीवानी (Civil) तथा फौजदारी (Criminal) दोनों प्रकार के न्यायालय होते हैं। दीवानी (Civil) पक्ष में सब से ऊँचा न्यायालय जिला जज का है। इन जिला जजों के नीचे अतिरिक्त, संयुक्त, या सहायक तथा मुंसिफ होते हैं। फौजदारी (Criminal) पक्ष मे जिले में सब से ऊँचा न्यायालय जज, दौरा-जज या सेशन्स जज का होता है। प्रायः एक ही व्यक्ति जिला और दौरा या सेशन्स जज दोनों ही होता है। सेशन्स जजों के नीचे प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के मैजिस्ट्रेट (दण्डाधिकारी) होते हैं। प्रथम श्रेणी का मैजिस्ट्रेट दो वर्ष तक की कैद और १,०००) रु० तक जुर्माने की सजा दे सकता है। द्वितीय श्रेणी का मैजिस्ट्रेट ६ मास तक कैद और ३००) रु० तक का जुर्माना कर सकता है। तृतीय श्रेणी का मैजिस्ट्रेट १ मास तक की कैद और ५०) रु० तक के जुर्माने की सजा दे सकता है। मैजिस्ट्रेट वेतनिक (Stipendiary) और अवेतनिक (Honorary) दोनो तरह के होते हैं। अभी तक कलेक्टर, डिप्टी कलेक्टर तथा तहसीलदार आदि शासन-पदाधिकारी ही मजिस्ट्रेट भी होते थे। इस प्रकार इन अधिकारियो के हाथ मे शासन और न्याय दोनो की शक्तियाँ एकत्रित थी। परन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि शासन और न्याय की शक्तियां एक ही व्यक्ति के हाथो मे न रहे। इस कारण देश के सुधारवादी विचारक काफी दिनो से न्याय और शासन की पृथकता की माँग करते रहे हैं। अतः संविधान के राज्य नीति-निर्देशक सिद्धान्तो मे शासन और न्याय की पृथकता को भी स्थान दिया गया है जिसके अनुसार राज्य शासन और न्याय के कार्यों और शक्तियों को अलग-अलग कर्मचारियो के हाथो मे रखने का समुचित प्रयत्न करेगा।[1] यद्यपि अभी तक शासन और न्याय पूर्णतया पृथक नही किये जा सके हैं, लेकिन बहुत से राज्यो ने इस दशा मे कार्य प्रारंभ कर दिया है।

जिला जजो की नियुक्ति आदि—जिला जजों की नियुक्ति, पदोन्नति आदि का निर्णय राज्यपाल उच्च-न्यायालय के परामर्श से करता है। जिला जज राज्य के न्यायकर्मचारियो मे से पदोन्नति या चयन द्वारा, या कम से कम सात वर्ष पुराने तथा उच्च-न्यायालय द्वारा अनुमोदित वकीलों में से नियुक्त किये जाते हैं।[2]

[1]अनु० ५०, [2]अनु० २३३

अन्य न्यायाधिकारियों (जिनमें अतिरिक्त, संयुक्त और सहायक जज भी शामिल हैं) की नियुक्ति राज्यपाल लोकसेवा आयोग और उच्च न्यायालय के परामर्श से बनाये हुये नियमों के अनुसार करता है।[1]

अधीन न्यायालयों पर नियंत्रण—उच्च-न्यायालय जिला तथा अन्य समस्त अधीन न्यायालयों का नियंत्रण करता है। उच्च न्यायालय ही जिला न्यायालय के अतिरिक्त अन्य सभी न्याय-कर्मचारियों को विभिन्न स्थानों में नियत करता है और वही उनकी छुट्टियाँ आदि स्वीकृति, तथा पदोन्नति सम्बन्धी निर्णय करता है।[2]

मैजिस्ट्रेटों के पदों और न्यायिक नौकरियों (न्यायिक) की एकरूपता—संविधान से प्रकट होता है कि जब न्यायपालिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ पूर्णतः पृथक हो जायेंगी तो मैजिस्ट्रेट के पदों और राज्यों की न्यायिक नौकरियों में पूर्ण एकरूपता स्थापित हो जायगी। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए संविधान में यह व्यवस्था दी हुई है कि किसी भी निश्चित तिथि से राज्यपाल एक सार्वजनिक अधिसूचना द्वारा घोषित कर सकते हैं कि अमुक-अमुक श्रेणी या श्रेणियों के मैजिस्ट्रेटों के लिए न्यायिक नौकरियों के नियम लागू होंगे।[3]

[1]अनु० २३४, [2]अनु० २३५, [3]अनु० २३७।

संघ और राज्यों की लोक सेवायें

अध्याय ११

ब्रिटिश शासन-कालीन सेवायें—स्वाधीनता के पूर्व ब्रिटिश काल मे भारत की विभिन्न सेवाएँ (Services) तीन वर्गों में विभक्त थी। यथा :

(१) अखिल भारतीय सेवाएँ (The All India Services)

(२) केन्द्रीय सेवाएँ (The Central Services)

(३) प्रान्तीय सेवाएँ (The Provincial Services) जिनमे अधीन सेवाएँ (Subordinate Services) भी सम्मिलित थी।

अखिल भारतीय सेवायें—(The All India Services)—अखिल भारतीय सेवाओ के पदाधिकारियो को इगलेण्ड स्थित भारतसचिव (The Secretary of State for India) भरती करता था और वही उनके अधिकारों का भी सरक्षक था। इन सेवाओ के अधिकारी भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकार दोनो के अधीन कार्य करते थे। प्रत्येक अखिल भारतीय सेवा एक ही समझी जाती थी और उसके सदस्य भारत मे कही भी भेजे जा सकते थे, किन्तु यदि उन्हे केन्द्रीय सरकार मे विशेष रूप से न भेजा जाता तो उनका समस्त सेवा-काल साधारणतया उसी प्रांत मे बीत जाता था जिसमे उनकी पहले-पहल नियुक्ति होती थी।

अखिल भारतीय सेवाओ में दो सेवाएँ सबसे प्रमुख थी अर्थात् इंडियन सिविल सर्विस आई० सी० एस० और इडियन पुलिस सर्विस या आई० पी० एस० इनके अतिरिक्त पहले शिक्षा (Educational), चिकित्सा (Medical) कृषि,, (Agriculture), पशुचिकित्सा (Veterinary), तथा लोक-निर्माण विभाग (Public Works Departments) आदि की भी अखिल भारतीय सेवाएँ थी। परन्तु अखिल भारतीय चिकित्सा सेवा (Medical Service) को छोड़कर सन् १९२४ से ली आयोग (Lee Commission) की सिफारिशों के अनुसार इनकी भरती बन्द कर दी गई। इन सेवाओं को मुख्यत: यूरोपियनो के लिए ही सुरक्षित रखा गया था। यह सच है कि इन सेवाओ के भारतीयकरण की नीति सन् १९१९ से घोषित हो गई थी, परन्तु यह होते हुए भी सन् १९३५ में इन सेवाओ के कुल ३,४२० स्थानो में से केवल १२२७ स्थानों पर भारतीय थे और २१९३ स्थानों पर यूरोपियन।

इस काल की अखिल भारतीय सेवाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनके सदस्य न केवल प्रशासन का कार्यभार सँभालते थे अपितु नीति निर्धारित भी करते थे। यह बात आई० सी० एस० (Indian Civil Service) के विषय मे विशेष रूप से लागू होती है। आई० सी० एस० अधिकारियों मे से ही प्रान्तो के गवर्नरों तथा केन्द्रीय और प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषदों के सदस्यों की नियुक्ति हुआ करती थी। नीति-निर्धारण का कार्य इन्ही लोगों के हाथ मे था।

केन्द्रीय सेवाएँ (Central Services)—केन्द्रीय सेवाओं का सम्बन्ध उन विषयो से था जिनका शासन-प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार द्वारा होता था। केन्द्रीय सचिवालय (Central Sectecatiat), रेलों(Railway Services), डाक और तार (Indian Post And Telegraph Services), आयात-निर्यात कर (Custom Services) आदि विभागो के कर्मचारी इसी वर्ग मे सम्मिलित थे। इन सेवाओं की भरती भारत सरकार संघीय लोक सेवा आयोग (Federal Publ c) Service Commission) द्वारा करती थी। रेलपथ, सीमाकर, डाकतार आदि सेवाओ मे एंग्लो इण्डियन कर्मचारियो की प्रचुर संख्या थी।

प्रान्तीय सेवाएँ (The Provincial Services)—प्रान्तीय सेवाओं की मध्यवाली स्थिति थी। ये समस्त प्रान्तीय प्रशासन मे फैली हुई थी। इन सेवाओं के कर्मचारी लगभग सब भारतीय थे। इनकी भरती प्रान्तीय सरकारे करती थी और वे ही उनका नियनए भी करती थी। प्रान्तीय सेवाओ के नीचे विभिन्न वर्गों की आधीन सेवाएँ (Subordinate Services) होती थी। इन सेवाओ की भरती और नियंत्रण का कार्य प्रान्तीय-सरकारें; विभागीय अध्यक्ष, और अन्य उच्च पदाधिकारी करते थे।

स्वाधीनता के बाद परिवर्तन—स्वाधीनता प्राप्ति के बाद लोकसेवाओ की परम्परा भग करना उचित नही समझा गया। भारत सरकार ने यह आश्वासन दिया कि अखिल भारतीय सेवाओं के जो भी कर्मचारी अपने पदों पर बने रहना चाहे उनकी नौकरी की शर्तों और सुविधाओ मे कोई परिवर्तन या कमी न की जायगी तथा अनुशासन के मामलो मे भी उन पर वही नियम लागू होंगे जो पहले लागू थे। बाद में इस आश्वासन को संविधान के एक अनुच्छेद द्वारा भी पुष्ट कर दिया गया।[१] स्वाधीनता के पहले जो नियम इन सेवाओं के विषय में लागू होते थे, वे जहाँ तक उनका नये संविधान से मेल था, ज्यो के त्यो रक्खे गये।[२] तथापि स्वाधीनता के बाद की नई व्यवस्था में सेवाओं सम्बन्धी कुछ परिवर्तन अनिवार्य थे। फलतः नई व्यवस्था के अनुकूल कुछ परिवर्तन किये गये और देश की तत्कालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप कुछ अन्य उलट-फेर भी हुए।

---

[१] अनु० ३१, [२] अनु० ३१३

सबसे पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि अखिल भारतीय सेवाओं की भारत-सचिव द्वारा भरती और रक्षा बन्द हो गई और वे पूर्णयता भारत सरकार के अधिकार में आ गईं। दूसरे, इस परिवर्तन तथा नवीन परिस्थितियों के कारण अखिल भारतीय सेवाओं के बहुत से यूरोपियन अफसरों ने अवकाश ग्रहण कर लिया। इस कारण बहुतेरे ऊँचे पद खाली हो गये। देश के विभाजन के कारण अधिकांश मुसलमान अफसर अपनी इच्छा से पाकिस्तान चले गये। फलतः अखिल भारतीय विशेषतः आई० सी० एस० में, पुराने और अनुभवी कर्मचारियों की संख्या बहुत थोड़ी रह गई। इस कमी को पूर्ण करने के लिए सरकार को विभिन्न आयु के लोगों की विशेष पद्धति द्वारा भरती (Special Recruitment) करनी पड़ी। प्रांतीय शासन के बहुत से ऐसे पदों पर जिन पर पहले अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारी ही नियुक्त किये जाते थे, अब प्रांतीय सेवाओं के कर्मचारियों को नियुक्त करना पड़ा। इस प्रकार अपेक्षाकृत थोड़े समय में ही अखिल भारतीय सेवाओं का भारतीयकरण हो गया तथा उसमें तरुण आयु के सदस्य भी पर्याप्त संख्या में पहुँच गये। तीसरे; इण्डियन सिविल सर्विस का नाम बदल कर भारतीय प्रशासन सेवा या इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (Indian Administrative Service) कर दिया गया।

नई व्यवस्था में लोक सेवाओं की स्थिति—लोक सेवायें अब भी तीन वर्गों में विभक्त हैं। पहले वर्ग की सेवायें अखिल भारतीय सेवाएँ (All India Services) कहलाती हैं। दूसरे वर्ग की सेवाएँ केन्द्रीय सेवाएँ (Central Services) तथा तीसरे वर्ग की सेवाएँ राज्य-सेवाएँ (State Services) कहलाती हैं। संविधान में अखिल भारतीय प्रशासन तथा पुलिस सेवाओं को बनाये रखने की व्यवस्था की गई है और यह भी व्यवस्था है कि यदि राज्य परिषद् उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा इस आशय की सिफारिश करे, तो संसद के कानून द्वारा अन्य अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना भी की जा सकती है।[1] पहले की ही भाँति अब भी अखिल भारतीय सेवाएँ संघीय तथा राज्य दोनों ही क्षेत्रों में काम करती हैं।

भरती और नौकरी की शर्तें—अखिल भारतीय तथा संघीय सेवाओं की भरती तथा नौकरी की शर्तों को संसद निश्चित करती है और राज्य-सेवाओं की भरती तथा नौकरी की शर्तों को राज्य-विधानमण्डल नियमित कर सकता है। जब तक वे ऐसा न करें तब तक क्रमशः राष्ट्रपति तथा राज्यपाल इन बातों को नियमों द्वारा निश्चित कर सकते हैं।[2] संविधान में संघ तथा राज्यों की इन सेवाओं के अधिकारियों की भरती के लिए

[1] अनु० ३१२. [2] अनु० ३०९

लोकसेवा आयोगों की स्थापना की व्यवस्था दी हुई है। संविधान में यह भी कहा गया है कि संघ तथा राज्यों की सरकारें कर्मचारियों की भरती करने के मामले में इन आयोगों से सहायता लें।[1]

सन् १६५१ का अखिल भारतीय सेवा अधिनियम—ससद ने अखिल भारतीय सेवा अधिनियम, १६५१ के द्वारा भारत सरकार को अखिल भारतीय सेवाओं की भरती, नौकरी की शर्तों आदि के सम्बन्ध का अधिकार दिया है। अधिनियम में यह व्यवस्था भी दी हुई है कि संघ सरकार सम्बन्धित राज्य-सरकारों के परामर्श से अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारियों की भरती तथा नौकरी की शर्तों आदि को निर्धारित करने के लिए नियमादि बना सकती है। इस प्रकार के सभी नियमों को ससद के समक्ष रखना आवश्यक है। वर्तमान नियमों को अधिनियम के अन्तर्गत बनाया हुआ मान कर उन्हे जारी रक्खा गया है।

इनमे से कुछ नियम अखिल भारतीय सेवाओ के कर्मचारियो की राजनीतिक गतिविधियो का नियंत्रण करते हैं। इन सेवाओ के सदस्यो को राजनीतिक आन्दोलन मे भाग लेना निषिद्ध है। वे किसी भी विधानमण्डल (Legislature) अथवा बिना सरकारी आज्ञा के किसी स्थानीय संस्था (Local Body) की सदस्यता के उम्मीदवार नही हो सकते। किसी उम्मीदवार के पक्ष या विपक्ष में प्रचार करना, भाषण देना आदि भी उनके लिए वर्जित है। तथापि, अन्य नागरिकों की भाँति उन्हें निर्वाचनों में मत देने का अधिकार है।

पदाधिकारियों का कार्यकाल—लोक सेवाओ के पदाधिकारियो की पदअवधि राष्ट्रपति, राज्यपाल या राजप्रमुख के (जैसी भी स्थिति हो) प्रसाद पर्यंत होती है।[2] व्यवहार मे इसका अर्थ है स्थायी कार्यकाल, जैसा कि अंग्रेजी राज्य के दिनो मे था। विशेष योग्यता वाले लोगो की सेवा-प्राप्ति के लिये, उनकी सविदा द्वारा निश्चित काम के लिये भी नियुक्ति हो सकती है। यदि इन अधिकारियो को बिना अपराध हटाया जाय, तो उन्हे सरकार से प्रतिकार (Compensation) प्राप्त करने का अधिकार है।[3]

अनुशासनात्मक कार्रवाई (Disciplinary Action)—लोकसेवाओ के किसी भी सदस्य को कोई ऐसा अधिकारी जिसका पद उसे नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से निम्नतर हो, पदच्युत नही कर सकता। किसी भी अफसर को पदच्युत किये जाने या पदावनति किये जाने के पूर्व अपनी सफाई देने का अवसर दिया जाना आवश्यक है, परन्तु यदि कोई कर्मचारी अपने किसी ऐसे कार्य के कारण पदच्युत हुआ हो जिसके लिये वह

[1]अनु० ३१५ और ३२०, [2]अनु० ३१०, [3]अनु० ३१० (२)।

दण्ड अभियोग (Criminal Charge) में दोषी पाया और दण्डित हो चुका है, तो उस कर्मचारी को सफाई देने का अवसर दिया जाना आवश्यक नहीं है। सम्बन्धित कर्मचारी को उस समय भी सफाई देने के अवसर से वंचित रखा जा सकता है जब कोई समुचित प्राधिकारी लिखित कारण देते हुए यह मत प्रकट करे कि उसको सफाई देने का अवसर देना सम्भव नहीं है। लोक सेवा के किसी भी सदस्य को ऐसी स्थिति में भी सफाई देने के अवसर से वंचित रखा जा सकता है जब राज्य का अध्यक्ष (राष्ट्रपति, राज्यपाल या राजप्रमुख) राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से उसे ऐसा अवसर देना उचित या समयानुकूल न समझे।[1]

लोक सेवा आयोग (Public Service Comm ssions)—सविधान मे संघ तथा प्रत्येक राज्य के लिए एक-एक लोक सेवा आयोग की व्यवस्था दी हुई है। दो या अधिक राज्य यदि चाहे तो उनके लिए एक सयुक्त सेवा आयोग की भी नियुक्ति की जा सकती है किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब सम्बन्धित राज्यो के विधानमंडल इस आशय का प्रस्ताव पारित कर के ससद से अनुरोध करे और संसद इसके लिये विधि बना दे। किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख के अनुरोध पर संघीय लोक सेवा आयोग उस राज्य की किसी भी या समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कार्य करना स्वीकार कर सकती है।[2]

लोकसेवा आयोगो के सदस्यों की नियुक्तियाँ तथा कार्यकाल आदि—संघीय और राज्यो के सयुक्त लोक-सेवा आयोगो की सदस्य-संख्या का निर्धारण राष्ट्रपति द्वारा होता है। राज्य लोकसेवा आयोगों के सदस्यो की सख्या का निर्धारण सबधित राज्यों के राज्यपाल करते है।[3] सम्प्रति, यह निश्चय किया गया है कि सङ्घीय आयोग मे ६ से ८ तक सदस्य रहेगे। राज्य लोक सेवा आयोगो में ३ या ४ सदस्य होते हैं। इनमे से एक सदस्य प्रत्येक आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया जाता है।

सङ्घीय लोकसेवा आयोग और संयुक्त लोकसेवा आयोग के सदस्यो तथा अध्यक्षों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा तथा राज्य आयोगो के अध्यक्षो तथा सदस्यो की नियुक्ति विभिन्न राज्यो के राज्यपालो या राजप्रमुखो द्वारा की जाती है। प्रत्येक आयोगो के कम से कम आधे सदस्य यथासम्भव ऐसे होने चाहियें जिन्होंने सरकारी सेवा में कम से कम १० वर्ष बिताए हो।[4]

सभी लोकसेवा आयोग के सदस्यो का कार्यकाल ६ वर्ष का होता है पर सङ्घीय लोकसेवा आयोग के सदस्य पैंसठ और लोक सेवा के सदस्य ६० वर्ष की आयु

[1]अनु० ३११, [2]अनु० ३१५, [3] अनु० ३१८, [4]अनु० ३१६ (१)।

के उपरान्त कार्य नहीं कर सकते। जो व्यक्ति संविधान लागू होने के पूर्व इन आयोगों के सदस्य थे उन पर ये शर्तें नहीं लागू होतीं अर्थात् वे अवकाशग्रहण की आयु पर पहुँच जाने पर भी अपनी नियुक्ति की अवधि पूरी होने तक काम करते रह सकते हैं।[1]

सदस्यों के हटाये जाने की रीति—सङ्घीय लोकसेवा आयोग के सभापति या सदस्यो को कदाचार के कारण, राष्ट्रपति के आदेश से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति इस प्रकार का आदेश तभी दे सकते हैं जब किसी सदस्य के कदाचार के संबंध में शिकायत हो और राष्ट्रपति के कहने पर उच्चतम न्यायालय उस शिकायत के संबध मे जाँच-पड़ताल करके उसे हटाने की सिफारिश करे। जब तक उच्चतम न्यायालय की रिपोर्ट न मिले तब तक के लिए सङ्घ या सयुक्त आयोगो के अध्यक्ष व सदस्य राष्ट्रपति द्वारा और राज्य आयोगों के अध्यक्ष या सदस्य या राजप्रमुख द्वारा, निलम्बित (Suspend) किये जा सकते हैं। राष्ट्रपति निम्नलिखित दशाओं मे से किसी अवस्था में किसी लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य को निकाल सकता है :—

(क) यदि वह किसी अधिकारी न्यायालय द्वारा दिवालिया घोषित कर दिया गया हो; या

(ख) यदि वह अपने कार्यकाल मे अपने पद के अतिरिक्त अन्य कोई वैतनिक कार्य करने लगा हो; या

(ग) यदि वह राष्ट्रपति की राय मे किसी शारीरिक या मानसिक दुर्बलता के कारण अपने पद का कार्यभार सँभालने योग्य न रहा हो।

यदि इन आयोगो का कोई सदस्य किसी सरकारी ठेके (Contract) में (चाहे वह भारत सरकार का हो या राज्य सरकार का) स्वार्थ-सम्बद्ध हो जाय या उससे उत्पन्न किसी लाभ का भागी हो तो यह उसका कदाचार समझा जायगा और इस आधार पर उसे उसके पद से हटाया जा सकता है। तथापि किसी लिमिटेड या इनकारपोरेटेड कम्पनी का सदस्य होने के कारण प्राप्त लाभ कदाचार नहीं माना जाता।[2]

अन्य पदों के लिए पात्रता—लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष या सदस्य एक बार अपने पद के कार्यकाल को पूरा करने के बाद उसी पद पर पुनः नियुक्त नहीं किये जा सकते।[3] कुछ अपवादों को छोड़ कर विभिन्न लोकसेवा आयोगो के अध्यक्ष तथा सदस्य भारत या किसी भी राज्य सरकार के किसी भी पद पर नियुक्त नहीं किये

[1]अनु० ३७८ (१), [2]अनु० ३१७ (३), [3]अनु० ३१६

जा सकते। सङ्घीय लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष अपने कार्यकाल की पूर्ति के बाद के किसी भी पद पर नियुक्त किया ही नहीं जा सकता, परन्तु सङ्घीय लोकसेवा आयोग के सदस्य किसी राज्य लोकसेवा आयोग या सङ्घीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष नियुक्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार किसी राज्य के लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष को किसी अन्य राज्य के लोकसेवा आयोग या सङ्घीय लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष या सदस्य नियुक्त किया जा सकता है। राज्य लोकसेवा आयोगों के सदस्य सङ्घीय लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य, अथवा किसी राज्य आयोग के अध्यक्ष नियुक्त किये जा सकते हैं।[1] इन अपवादों के अतिरिक्त ये विभिन्न अधिकारी सङ्घीय या राज्यों के अन्य किसी सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किये जा सकते।

इन सब व्यवस्थाओं का उद्देश्य यह है कि विभिन्न लोकसेवा आयोगों के सभापति और सदस्य अपने कर्तव्यों का निर्भयता और स्वतन्त्रता से पालन करें तथा सरकार की इच्छा-अनिच्छा से प्रभावित न हों। यदि उनको अपने कार्यकाल के बाद अन्य सरकारी पदों पर नियुक्त होने की सुविधा रहती तो लोकसेवाओं के लिए उम्मीदवारों को चुनने में कुछ पक्षपात होने का डर था। अपने भावी हित-सिद्धि के लिए सरकार की इच्छानुसार काम करके उसकी कृपा प्राप्त करने का उन्हें प्रलोभन हो सकता था। लोकसेवा आयोगों के अध्यक्षों व सदस्यों को अन्य आयोगों के कुछ उच्चतर पदों पर नियुक्त किये जाने की जो कुछ छूट दी गई है वह भी प्रलोभन के खतरे से खाली नहीं है, पर इस छूट के भी न देने का परिणाम यह होता है कि लोक सेवा आयोगों को अपने कार्य का अनुभव रखने वाले व्यक्ति के अनुभव से लाभ उठाने का अवसर ही न मिल पाता। इसी कारण से लोकसेवा आयोगों के सदस्यों व अध्यक्षों को केवल अपने ही क्षेत्र में कुछ उच्चतर पदों पर नियुक्त होने की सीमित छूट प्रदान की गई है।

लोकसेवा आयोगों के कार्य (Functions)—अपने-अपने क्षेत्रों में सघीय अथवा राज्यों का प्रत्येक लोक सेवा आयोग विभिन्न सेवाओं में भरती चाहने वाले उम्मीद-वारों के लिए परीक्षाओं का संचालन करता है। यदि दो या अधिक राज्यों की सरकारें संघीय लोक सेवा आयोग से कुछ ऐसी सेवाओं की, जिनके लिए विशेष योग्यता वाले उम्मीदवारों की आवश्यकता हो, संयुक्त भरती की योजना बनाने और उसे संचालन करने का अनुरोध करें, तो वह उनकी सहायता कर सकता है।

विभिन्न सरकारों का कर्तव्य है कि वे अपनी प्रशासनिक सेवाओं और पदों के लिए भरती की पद्धतियों, पदोन्नति के सिद्धान्तों, स्मृति पत्रों, प्रार्थना पत्रों, तथा अनुशा-सन सम्बन्धी अन्य मामलों में, कर्तव्य पालन करने में आहत कर्मचारियों की अवकाशवृत्ति

---

[1] अनु० ३१९।

सम्बन्धी दावों, तथा कर्त्तव्यपालन के सम्बन्ध में उठे हुए मुकदमों में कर्मचारी द्वारा अपने बचाव के लिए किये गये व्ययों की पूर्ति आदि से सम्बन्धित सभी विषयो में, अपने-अपने लोकसेवा आयोगो का परामर्श लें। वे यदि अन्य विषयों के सम्बन्ध में आयोगो से सलाह माँगे, तो यह सलाह देना आयोगो का कर्त्तव्य है।[1]

कुछ मामलों को आयोगों के क्षेत्राधिकार से निकाल देने की सरकार की शक्तियाँ—संघ तथा राज्य सरकार के अध्यक्ष (यथा स्थिति राष्ट्रपति, राज्यपाल या राजप्रमुख) नियमो द्वारा, अपने-अपने यहाँ के आयोगो के क्षेत्राधिकार से सेवाओं सम्बन्धी कुछ बाते अलग कर सकते हैं। ऐसी बातो में आयोगो की सम्मति लेने की आवश्यकता नही होती। आयोगो के अधिकार-क्षेत्र के आवश्यकता से अधिक बातें अलग न कर दी जायें, इसलिए संविधान मे यह व्यवस्था भी हुई है कि इस प्रकार के नियमों को उचित विधानमण्डल के प्रत्येक सदन के समक्ष कम से कम १४ दिनो तक रक्खा जाय। पिछड़े हुए वर्गों और अनुसूचित तथा आदिम जातियो के लिए विभिन्न सेवाओ में स्थान सुरक्षित रखने के बारे मे सरकारो को लोक सेवा आयोगों से परामर्श करने की आवश्यकता नही है।[2]

लोकसेवा आयोग के कृत्यों का विस्तार—संसद और राज्यो के विधानमंडल अपने अपने यहाँ के लोकसेवा आयोगो के कार्यों का विधि द्वारा विस्तार कर सकते हैं। ये अतिरिक्त कार्य यथास्थिति संघीय या राज्य सेवाओं अथवा स्थानीय स्वायत्त संस्थाओ, निगमो या किसी अन्य सार्वजनिक संस्था की नौकरियो से सम्बन्धित हो सकते हैं।[3]

लोकसेवा आयोगों की वार्षिक रिपोर्ट—संविधान की व्यवस्था के अनुसार यह आवश्यक है कि प्रत्येक लोक सेवा आयोग प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट तैयार करके यथा-स्थिति, राष्ट्रपति, राज्यपाल या राजप्रमुख को दे। यह रिपोर्ट, सम्बन्धित राज्य के या संघ के अध्यक्ष के एकस्मरण पत्र सहित उचित विधान मडल के प्रत्येक सदन के समक्ष उपस्थित किया जाना चाहिए। इस स्मृतिपत्र मे राष्ट्रपति या अन्य सम्बन्धित अध्यक्ष, जिन मामलो मे लोकसेवा आयोगो की सिफारिशे सरकार द्वारा नही मानी जा सकी हैं, उनका कारण बतलाते है। इस व्यवस्था का अभिप्राय यह है, कि संघ तथा राज्यो की सरकारे लोकसेवा आयोगो की सिफारिशो पर पर्याप्त ध्यान दे और उनकी अवहेलना न कर सकें।

वर्तमान अखिल भारतीय सेवाएँ—भारतीय संविधान मे भारतीय प्रशासन और भारतीय पुलिस सेवाओ के सम्बन्ध मे तो स्पष्ट व्यवस्था दी ही हुई है लेकिन इनके अतिरिक्त और भी कई अखिल केन्द्रीय प्रथम श्रेणी की सेवाएँ संगठित की गई है, जैसे

---

[1]अनु० ३२० (११) और (२), [2]अनु० ३२० (४), [3]अनु० ३२१

भारतीय वैदेशिक सेवा, भारतीय लेखा नियंत्रण और परीक्षण सेवा, सैनिक लेखा सेवा, भारतीय रेल लेखा सेवा, भारतीय सीमा तथा उत्पादन कर सेवा, भारतीय आयकर अधिकारी (प्रथम श्रेणी) सेवा, रेल्वे परिवहन तथा व्यापारिक विभागीय राजस्व सम्बन्धी उच्चतर कर्मचारियो की सेवा, भारतीय डाक सेवा, भारतीय इंजीनियरिंग (यन्त्रिय) सेवा, इत्यादि। एक केन्द्रीय सचिवालय सेवा भी है।[1] इन सब सेवाओ में नियुक्तियाँ संयुक्त प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं द्वारा होती है और उम्मीदवारों को उनकी रुचि और योग्यता के क्रम के अनुसार विभिन्न सेवाओ मे स्थान दिया जाता है। केन्द्रीय सचिवालय सेवा का अपना एक अलग वर्ग है और वह सेवा ४ वर्गों में विभक्त है, अर्थात् सहायक (Assistants) सहायक अधीक्षक (Assistant Superintendent), अधीक्षक, और अवर सचिव (Under Secretary)। अखिल भारतीय प्रथम श्रेणी की केन्द्रीय सेवाएँ साधारणतया ३५०) रु० मासिक वेतन से प्रारम्भ होती हैं लेकिन प्रत्येक सेवा की वार्षिक वेतन-वृद्धि तथा अधिकतम वेतनो मे अन्तर है। रेल सेवाओं की भरती अलग रेल सेवा आयोगों (Railway Commisssion) द्वारा होती है। अधिकांश राज्यों की सेवाओं की भरती भी प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के परिणामो के आधार पर की जाती है, पर कुछ राज्यो में लोक सेवा आयोग केवल मौखिक परीक्षा व मुलाकात द्वारा ही उम्मीदवारों को छाँट लेते हैं।

---

[1] केन्द्रीय सेवाओं के अंग्रेजी नाम निम्नलिखित हैं—Indian Foreign Services, Indian Audit and Accounts Service, Military Accounts Service, Indian Railways Accounts Service, Indian Customs and Excise Service, Income Tax Officers (Class I) Grade II Service, Transportation and Commercial Departments of the Superior Revenue Establishments of State Railways, Establishment Department of State Railways, Indian Postal Service, Survey of India Indian Forest Service, Central Engineering Service, Indian Railway Service of Engineers, Superior Telegraph Engineering and Wireless Branches of Post and Telegraphs, Central Secretariat Service.

अध्याय १२ | संविधान में संशोधन की पद्धतियाँ तथा कुछ अन्य विषय

संविधान संशोधन की प्रक्रिया—संशोधन प्रक्रिया के दृष्टिकोण से भारतीय सविधान की व्यवस्थाओ को हम तीन वर्गों मे विभक्त कर सकते हैं। पहले वर्ग मे तो सविधान की वे व्यवस्थाएँ आती हैं जिनमें ससद स्वप्रेरणा या राज्य विधान मंडलो या अन्य अधिकारियो के अनुरोध पर, सामान्य विधि द्वारा, ही सशोधन कर सकती है। इस प्रकार ससद की विधि द्वारा नये राज्यो की स्थापना की जा सकती है तथा वर्तमान राज्यो के नामो और सीमाओ को बदला जा सकता है; परन्तु इस प्रकार का कोई परिवर्तन यदि भाग 'क' या 'ख' राज्यो से सबधित है तो राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ही इस विषय का विधेयक उपस्थित किया जा सकता है और राष्ट्रपति अपनी पूर्वानुमति सबधित राज्य विधानमंडलो की राय लेने के पश्चात् ही दे सकते है।[१] इस प्रकार कुछ निश्चित प्रारंभिक औपचारिकताओ के उपरान्त संसद अपनी सामान्य विधि द्वारा ही किसी राज्य के द्वितीय सदन का उन्मूलन या उसकी नये सिरे से सृष्टि कर सकती है।[२] सविधान की नागरिकता संबंधी, अनुसूचित क्षेत्रो और अनुसूचित आदिम जातियो के प्रशासन सबधी, तथा केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रो की प्रशासन सम्बन्धी व्यवस्थाये भी, संसद सामान्य विधि द्वारा सशोधित कर सकती है।[३] प्राविधिक दृष्टि से सविधान मे सामान्य विधियो द्वारा किये जाने वाले ये परिवर्तन सवैधानिक सशोधन नही समझे जाते[४] परन्तु इनका सबध प्रत्यक्षतः सवैधानिक महत्व के विषयो से होने के कारण व्यावहारिक दृष्टि से, ये सविधान सशोधन के अतिरिक्त और कुछ नही हैं। साधारण विधि द्वारा हो सकने वाले इन सशोधनो से सविधान की नमनशीलता प्रकट होती है।

दूसरे वर्ग मे सविधान की वे व्यवस्थाएँ आती हैं जिनका सशोधन विशिष्ट प्रक्रिया और प्रत्येक सदन के विशिष्ट बहुमत द्वारा ही किया जा सकता है। संविधान के ऐसे सशोधन का विधेयक ससद के किसी भी सदन मे उपस्थित किया जा सकता है। यदि ससद का वह सदन कुल सदस्य-संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान मे भाग लेने वाले सदस्यो के दो-तिहाई मतो से उस विधेयक को पारित कर दे

[१]अनु० ३, [२]अनु० १६९, [३]अनु० ११, [४]अनु० २४०, [५]अनु० ४ (२), १० ११, १६९, (३) आदि।

तो वह दूसरे सदन में भेज दिया जाता है और उस सदन मे भी इसी प्रकार पारित होने के बाद वह राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिये उसके पास भेजा जाता है। राष्ट्रपति की अनुमति मिलते ही वह संशोधन सविधान का अंग हो जाता है।[1]

न्यायपालिका तथा राज्यो के अधिकारो तथा शक्तियों जैसे कुछ विशिष्ट बातों को छोड़ कर सविधान की अन्य समस्त व्यवस्थाओ मे इसी प्रक्रिया से संशोधन किये जा सकते हैं।

अंतिम तथा तीसरे वर्ग में सविधान की वे व्यवस्थाएं आती है जिनमे संशोधन के लिये सशोधन विधेयक का ऊपर लिखी रीति से संसद के प्रत्येक सदन द्वारा पारित तथा भाग 'क' और 'ख' राज्यो के कुल विधानमण्डलो मे से कम से कम आधे द्वारा स्वीकृत (Ratified) होना आवश्यक है। इस वर्ग मे सविधान की निम्नलिखित व्यवस्थायें आती हैं—

(क) सविधान के ५४ और ५५ वें अनुच्छेद, जो विभिन्न राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यो के राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेने की व्यवस्था करते हैं, ७३वें और १६२ वे अनुच्छेद जिनके अनुसार राज्य सूची मे दिए हुए विषयो के संबंध में राज्यो की कार्यपालिका शक्ति सुरक्षित की गई है और अनुच्छेद २४१ जिसका संबध भाग 'ग' राज्यो के उच्च न्यायालयो से है।

(ख) सविधान के भाग ५, अध्याय ४ के वे अनुच्छेद जिनका सबंध संघ न्यायपालिका से है; भाग ६ अध्याय ४ के वे अनुच्छेद जिनका सबंध राज्यो के उच्च-न्यायालयों से है, तथा भाग ११ अध्याय १ के वे अनुच्छेद जिनमे संघ और राज्यो के विधायक सम्बन्धो (Legislative Relations) का उल्लेख किया गया है।

(ग) ससद मे राज्यो के प्रतिनिधित्व सबधी अनुच्छेद; और

(घ) अनुच्छेद ३६८ जिसमे सवैधानिक सशोधन की प्रक्रिया दी हुई है।

उपरोक्त विषयो को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि इन मे वही बाते हैं जिनका राज्यो की शक्तियों, अधिकारो, तथा सविधान के संघीय स्वरूप से घनिष्ठ संबध है। अतएव इन विषयों में से किसी मे संशोधन करने के लिए यह आवश्यक है कि सशोधन विधेयक निर्दिष्ट बहुमत से (प्रत्येक सदन की कुल सदस्यता का बहुमत और उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से) ससद मे पारित होने के बाद भाग 'क' और 'ख' के कुल राज्यो के कम से कम आधे विधानमण्डलो द्वारा भी स्वीकृत हो। इतना हो जाने के बाद ही संशोधन-विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उपस्थित किया जा सकता है।[2]

[1]अनु० ३६८, [2]अनु० ३६८ की व्यवस्थाएँ

उस अवस्था में क्या होगा जब किसी संशोधन के विषय में संसद के दोनो सदनों में मतभेद हो जाय ? संविधान में इस प्रकार के गतिरोध को दूर करने के लिए कोई व्यवस्था नही दी गई है। परन्तु शंकरी प्रसाद बनाम भारतीय संघ (उच्चतम न्यायालय याचिका ३८२,१६५१) के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय किया था कि संविधान का ३६८ वाँ अनुच्छेद संवैधानिक संशोधन की पूर्ण संहिता निश्चित नही करता तथा सविधान को सशोधित करने की जो प्रक्रिया दी हुई है वह विधायिका प्रक्रिया है और उस पर उसी प्रक्रिया के नियम लागू होते हैं। अतः किसी भी संविधान संशोधन-विधेयक के सम्बन्ध मे उभय सदनों में मतभेद हो जाने पर उसको संयुक्त अधिवेशन द्वारा दूर किया जा सकता है।

सविधान मे सशोधन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक और संदिग्ध बात यह है कि राष्ट्रपति किन्ही भी सशोधन विधेयक पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर सकता है या नही ? अमेरिका मे ऐसे विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिए उपस्थित ही नही किये जाते लेकिन भारतीय संविधान मे इन्हे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उपस्थित करने की व्यवस्था है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि राष्ट्रपति चाहे तो किसी सशोधन-विधेयक पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर सकता है। दुर्गादास बसु का यह मत है कि आयरलैण्ड के राष्ट्रपति की भाँति भारत के राष्ट्रपति को भी यह शक्ति है कि यदि संविधान के ३६८ वें अनुच्छेद मे दी गई व्यवस्था के अनुसार कोई संशोधन विधेयक पारित किया गया हो तो वह उस पर हस्ताक्षर न करे।

संवैधानिक संशोधन की भारतीय प्रक्रिया एकात्मक (Unitary) और संघीय राज्यों (Federal States) के सविधानों की शासन प्रक्रियाओं का मिश्रण है। एकात्मक राज्यों मे साधारणतया विधानमण्डल के दोनों सदन सामान्य विधेयक पारित करके ही संविधान में संशोधन कर लेते हैं। उन राज्यों में संविधान मे विधान-संशोधन की भी वही प्रक्रिया होती है जो साधारण विधि बनाने की। संघीय देशों में संशोधन की प्रक्रिया या तो द्विपक्षीय (Bilateral) होती है या उसमें किसी तीसरे स्वतंत्र प्राधिकारी द्वारा कार्रवाही को अनिवार्य कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य अमेरिका में संघीय तथा राज्य विधानमंडलो की संयुक्त कार्रवाई द्वारा सविधान में संशोधन होता है। परन्तु स्विट्जरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया में संविधान में सशोधन करने के लिए न केवल संघीय और राज्यों के विधान मण्डलो की सहमति अपेक्षित होती है अपितु निर्वाचकों के मतसंग्रह द्वारा भी संशोधन की पुष्टि होनी आवश्यक है। भारत में सविधान का वह अंश जिसका सम्बन्ध राज्यों की शक्तियो या अधिकारों से नहीं है केवल संघीय ससद की कार्रवाई द्वारा संशोधित हो सकता है, पर जिन संशोधनों का राज्यों की

शक्तियों और अधिकारों पर प्रभाव पड़ता है, वे द्विपक्षीय, अर्थात् संसद और राज्य-विधान मण्डलों की संयुक्त, कार्रवाई द्वारा ही पारित किये जा सकते हैं।

अभी तक संविधान में सात संशोधन हुए हैं। इनमें से अन्तिम राज्य पुनर्गठन के सम्बन्ध में नवम्बर १९५६ में पारित हुआ। इन संशोधनों की व्यवस्थाओं का विस्तृत वर्णन प्रथम अध्याय के अन्त में किया जा चुका है और पुस्तक में प्रत्येक उचित स्थान पर भी उनका समावेश किया गया है।

राज-भाषा

संघ की राज भाषा—देवनागरी लिपि में हिन्दी भारतीय संघ की राज भाषा घोषित की गई है, परन्तु शासनिक कार्यों में अन्तर्राष्ट्रीय अंकों का प्रयोग किया जायगा। यह विचित्र व्यवस्था उत्तर और दक्षिण भारत के प्रतिनिधियों के आपसी समझौते का परिणाम है। दक्षिण भारतवालों ने हिन्दी को राजभाषा इस शर्त पर स्वीकार किया, कि अंकों के सम्बन्ध में उनका मत माना जाय।

लेकिन हिन्दी तत्काल ही अंग्रेजी का स्थान नहीं ग्रहण कर सकी। हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लिए जाने के बाद भी संविधान के लागू होने के १५ वर्षों बाद तक शासन-कार्य में अंग्रेजी पूर्ववत् प्रयुक्त होती रहेगी परन्तु राष्ट्रपति इस अवधि की समाप्ति के पूर्व भी किसी शासनकार्य में देवनागरी अंकों सहित हिन्दी के प्रयोग की व्यवस्था कर सकते हैं। इसी प्रकार १५ वर्षों के उपरान्त भी संसद विधि द्वारा अंग्रेजी को कुछ विशिष्ट शासनिक कार्यों की भाषा बनाये रख सकती है, तथा विशिष्ट शासकीय कार्यों में हिन्दी अंकों के प्रयोग की भी व्यवस्था कर सकती है।[1]

यह जटिल अन्तर्कालीन व्यवस्था दो उद्देश्यों और कारणों से निर्धारित की गई। इसका पहला कारण तो यह था कि अभी हिन्दी इतनी विकसित नहीं हुई थी कि अंग्रेजी की जगह तत्काल ले सके। १५ वर्षों के अन्तरिम काल में हिन्दी को विकसित होने का अवसर मिल जायगा और संघ को संविधान द्वारा यह निर्देश भी दिया गया है कि वह हिन्दी के प्रसार तथा विकास के लिए इस बीच सतत प्रयत्न करे। दूसरे, १५ वर्षों के अन्तर्काल में अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के लोग भी हिन्दी सीख लेंगे।

अन्तरकालीन समय में हिन्दी का क्रमिक उपयोग—संविधान का अभिप्राय यह है कि १५ वर्षों के अन्तर्काल में भी शासन कार्यों में हिन्दी का उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ाया जाता रहे जिससे इस अवधि के बाद जब सम्पूर्ण सरकारी कार्य हिन्दी में होने की घोषणा हो तो वह परिवर्तन आकस्मिक न प्रतीत हो। इस अभिप्राय की पूर्ति के लिए राष्ट्रपति को संविधान के ५ और १० वर्ष बाद भाषा आयोग (Language-

[1] अनु० ३४३

Commission) नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। ये भाषा आयोग हिन्दी के क्रमिक उपयोग, अंग्रेजी के उपयोग पर क्रमिक प्रतिबन्ध, अंकों के प्रयोग, न्यायपालिका की तथा विधेयकों, अधिनियमों और नियमो की भाषा आदि के बारे में सिफारिश करेंगे। भाषा आयोग की सिफारिशों को संसद के उभय सदनो की समिति के समक्ष विचारार्थ उपस्थित किया जायगा। इस समिति मे कुल ३० सदस्य रहेंगे—२० लोक सभा के और १० राज्य सभा के। यह समिति आयोग की सिफारिशों पर विचार करके उन्हें अपनी राय सहित राष्ट्रपति के पास भेज देगी। इसके बाद राष्ट्रपति उक्त इन सब की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए हिन्दी के क्रमिक उपयोग के सम्बन्ध मे अपने आदेश देंगे।[1] स्वर्गीय श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में प्रथम "भाषा आयोग" की नियुक्ति १९५५ में राष्ट्रपति द्वारा हुई। इसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी है, परन्तु लिखने के समय तक सरकार का कोई निर्णय उस पर नही दिया गया है।

विधेयको तथा न्यायपालिका की भाषा—अंग्रेजी के केवल १५ वर्षों तक प्रयोग होने की शर्त न्यायपालिका तथा विधेयको के सम्बन्ध मे लागू नही होती। इन दोनो क्षेत्रों मे अंग्रेजी का प्रयोग उस समय तक होता रहेगा जब तक संसद विधि द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था न करे।[2] १५ वर्षों की अवधि के भीतर इन क्षेत्रों से अंग्रेजी का प्रयोग हटाने का कोई विधेयक बिना राष्ट्रपति की पूर्वानुमति प्राप्त किये संसद में उपस्थित नही किया जा सकता और राष्ट्रपति ऐसी पूर्वानुमति भाषा आयोग और संसदीय संयुक्त समिति के प्रतिवेदनो मे की गई सिफारिशो पर विचार करने के उपरांत ही दे सकते हैं, अन्यथा नही।[3]

अल्प संख्यक भाषा समुदायों का संरक्षण—राज्य पुनर्गठन तथा बम्बई और पंजाब जैसे कुछ द्विभाषी राज्यों के निर्माण के फलस्वरूप अल्पसंख्यक भाषा समुदायों की समस्या सामने आई। निस्सदेह, अधिकतर राज्यो मे पुनर्गठन के पहले भी अल्प संख्यक भाषा-समुदाय थे, परन्तु पुनर्गठन के सम्बन्ध के भाषा सम्बन्धी विवादों तथा तज्जनित भावनाओं ने इन अल्पसंख्यक समुदायों को भविष्य के लिए चिंतित कर दिया। अतः इन अल्पसंख्यकों को उनकी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त करने के लिए संविधान के सप्तम संशोधन १९५६ द्वारा एक नई व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक राज्य व स्थानीय सस्था को प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर अल्प संख्यक वर्गों के बच्चों के लिए *उनकी मातृभाषा द्वारा शिक्षा की सुविधाओं को प्रस्तुत करना आवश्यक है।* इस सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को राज्यो को आवश्यक आदेश देने की शक्ति प्रदान की गई है। अल्पसंख्यक भाषा-समुदायो के संरक्षण सम्बन्धी विषयों की जांच के लिए राष्ट्रपति को एक विशेष कर्म-

[1] अनु० ३४४, [2] अनु० ३४८ (१), [3] अनु० ३४९,

ारी (Special officer) नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। यह अधिकारी त सुरक्षा-विषयक व्यवस्थाओं के क्रियान्वय की जाँच करके राष्ट्रपति को समय-समय पर अपनी रिपोर्ट देगा जो कि संसद के दोनों भवनों के समक्ष प्रस्तुत की जावेगी तथा सम्बन्धित राज्यों को भी भेजी जावेगी।[1]

अतः इस समय यह स्थिति है कि उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी ही है तथा विधेयकों, संशोधनों, अधिनियमों, अध्यादेशों, आदेशों, नियमों, विनियमों तथा उपविधियों (Bye laws) का अंग्रेजी मूलपाठ (Version) ही प्रामाणिक माना जाता है। परन्तु कुछ राज्य विधानमण्डल (उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश) और उच्चन्यायालय (यथा राजस्थान का) पहले से ही हिन्दी मे कार्य कर रहे थे। इनसे हिन्दी छोड़कर अंग्रेजी मे कार्य करने के लिए कहना उल्टी बात होती। अतः संविधान मे यह व्यवस्था दी गई है कि राष्ट्रपति की पूर्वानुमति से किसी भी राज्य के राज्यपाल हिन्दी या जो भी राज्यभाषा हो उसके, उच्च न्यायालयो की कार्रवाई मे प्रयोग की भी आज्ञा दे सकते हैं, परन्तु निर्णयों तथा विधियो का अंग्रेजी मे लिखा जाना तब आवश्यक होगा यदि कोई विधानमण्डल विधेयको और अधिनियमो आदि के लिए अंग्रेजी के बदले किसी अन्य भाषा का प्रयोग करना निश्चित कर चुका है तो वहाँ उन विधेयको आदि का अंग्रेजी अनुवाद भी तैयार किया और प्रामाणिक माना जाना चाहिए।[2]

राज्यों की सरकारी भाषा— राज्यो के विधानमण्डलो को विधि द्वारा हिन्दी या उस राज्य में बोली जाने वाली एक अथवा एक से अधिक भाषाओं को, राज्य की सरकारी भाषा निर्धारित करने का अधिकार है। जब तक कोई राज्य कोई ऐसा निर्णय नहीं करता तब तक उसकी सरकारी भाषा पहले की भाँति अंग्रेजी ही रहेगी।[3]

संघ और राज्यों में तथा अन्तर्राज्य पत्र-व्यवहार की भाषा तत्कालीन संघीय राज भाषा (अर्थात् इस समय अंग्रेजी) रहेगी, परन्तु दो या अधिक राज्य चाहे तो आपस का पत्र-व्यवहार हिन्दी में करने का समझौता कर सकते हैं।[4]

किसी राज्य में अल्पसंख्यकों की भाषा के लिए विशेष व्यवस्था— किसी राज्य की जनसंख्या के किसी पर्याप्त बड़े अंश की माँग पर राष्ट्रपति कुछ विशिष्ट कार्यों के लिए उस समुदाय की भाषा को भी राज्य सरकार द्वारा मान्यता दिये जाने का आदेश दे सकते हैं।[5] संघ शासन (सरकार) के किसी भी पदाधिकारी या प्राधिकारी

---

[1] सप्तम संशोधन कानून १९५६ द्वारा जोड़ी गई ३५० (अ) तथा ३५० (ब) धाराएँ। [2] अनु० ३४८ (२) और (३), [3] अनु० ३४५, [4] अनु० ३४६, [5] अनु० ३४७

को राज्य में प्रयुक्त होने वाली किसी भी भाषा में प्रार्थनापत्र या आवेदनपत्र दिये जा सकते हैं।[1] किसी विधानमण्डल का सदस्य यदि अपने अभिप्राय को वहाँ की सरकारी भाषा में प्रकट नहीं कर पाता तो सदन के अध्यक्ष या सभापति द्वारा उसे अंग्रेजी या अपनी मातृभाषा में भाषण देने की अनुमति दी जा सकती है।

हिन्दी का भावी विकास—हम ऊपर बतला आये हैं कि संविधान में संघ सरकार का यह कर्तव्य निर्धारित किया गया है कि वह हिन्दी का प्रसार तथा विकास करे। हिंदी का विकास इस प्रकार होना चाहिए कि वह भारत की संयुक्त संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक कि हिंदी के मौलिक रूप को हानि पहुँचाये बिना उसके भण्डार को यथासम्भव भारत की सभी प्रमुख भाषाओं की शैलियों, शब्दावलियों और मुहावरों से सुसम्पन्न बनाया जाय। जिन भाषाओं से हिन्दी के भण्डार को बढ़ाने में सहायता ली जायगी उनकी संख्या १४ है, और वे हैं—आसामी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, काश्मीरी, मलायलम, मराठी, उड़िया, हिंदी के पंजाबी, संस्कृत, तामिल, तेलगू और उर्दू। हिंदी के शब्द-भण्डार का प्रधान मूलस्रोत संस्कृत, भाषा होगी।[2]

इसका यह अर्थ है कि राजभाषा हिंदी उत्तरप्रदेश तथा अन्य हिंदी भाषाभाषी राज्यों में बोली जानेवाली हिंदी से मुहावरों तथा शब्दों आदि में कुछ विभिन्न हो सकती है। हिंदी के भावी स्वरूप पर सभी प्रादेशिक भाषाओं का थोड़ा बहुत असर पड़ेगा। कुछ लोगों ने इस भाषा के लिए एक नया नाम भी गढ़ लिया है अर्थात् 'भारती' जिससे इसका और आजकल की हिंदी का अन्तर स्पष्ट किया जा सके।

कुछ विशेष वर्गों को संरक्षण

यद्यपि संविधान में राजनीतिक अल्पसंख्यकों को किसी भी प्रकार का प्रश्रय न देने का निश्चय कर लिया गया था। परन्तु कुछ ऐसे वर्गों को विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है जो अपनी लघु संख्या या पिछड़ी हुई दशा के कारण अन्यों के साथ समानता के आधार पर खड़े नहीं हो सकते। जिन वर्गों को विशेष संरक्षण देने के लिए चुना गया वे हैं: अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित आदिम जातियाँ, तथा एँग्लो इण्डियन। इन वर्गों को दिया गया विशेष संरक्षण भी केवल १० वर्षों के लिए अस्थायी रूप से है और उक्त काल के बाद कुछ विशिष्ट बातों के अतिरिक्त समाप्त कर दिया जायगा।

अनुसूचित और आदिम जातियाँ—अनुसूचित और आदिम जातियों के लिए उनकी जनसंख्या के आधार पर लोकसभा तथा विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं में स्थान

[1] अनु०३५०, [2] अनु० ३५१

सुरक्षित कर दिये गये हैं। संविधान के लागू होने की तिथि से १० वर्ष बाद ये संरक्षण स्वयमेव समाप्त हो जायँगे।[1] कार्यक्षमता को आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए सार्वजनिक नौकरियो मे इन जातियों के उचित भाग का ध्यान रखा जायगा।[2]

संविधान के निर्देशानुसार राष्ट्रपति को एक ऐसे विशेष अधिकारी की नियुक्ति करना आवश्यक है जो उन्हे समय-समय पर रिपोर्ट द्वारा सूचित करता रहे कि अनुसूचित और आदिम जातियों को प्रदान किये गये संरक्षण किस प्रकार क्रियान्वित किये जा रहे हैं।[3] इस अधिकारी की नियुक्ति कर दी गई है और उसे 'अनुसूचित और आदिम जातियों का आयुक्त या कमिश्नर' कहा जाता है। राष्ट्रपति संविधान लागू होने के १० वर्ष बाद या जब भी वे उचित समझेंगे एक आयोग नियुक्त करेंगे जो अनुसूचित क्षेत्रो के प्रशासन और जनजातियो के कल्याण कार्य के सम्बन्ध मे अपना प्रतिवेदन देगा।[4] संघ सरकार को अनुसूचित जनजातियो के कल्याण की योजनाओ के निर्माण और क्रियान्वय के सम्बन्ध मे राज्यो को निर्देश देने का अधिकार है। इसी प्रकार राष्ट्रपति सामाजिक तथा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की स्थिति की जाँच और उस विषय मे सिफारिशे करने के लिए भी आयोग की नियुक्ति कर सकते हैं।[5]

राष्ट्रपति राज्यपालो तथा राजप्रमुखो के परामर्श से यह तय कर सकते हैं कि विभिन्न राज्यो मे किन-किन जातियो, समुदायो या आदिम जातियो को अनुसूचित या आदिम जातियो की संज्ञा दी जाय। राष्ट्रपति द्वारा बनाई गई इनकी तालिका मे संसद विधि द्वारा परिवर्तन कर सकती है; अन्यथा नही।[6]

ऐंग्लो इण्डियन समुदाय—अनुसूचित जातियो तथा जन-जातियो के अतिरिक्त ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय को भी कुछ बातो मे विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है। इस समुदाय के सदस्यो की संख्या बहुत थोडी है और दीर्घकाल से ये लोग अपने निर्वाह के लिए राजसेवाओ पर निर्भर रहे हैं। सीमाकर (Customs), डाक और तार विभाग, रेल आदि केन्द्रीय विभागो की नौकरियो मे इस समुदाय के लोगो की संख्या अधिक रही है। यदि उक्त सेवाओ में इन लोगो की विशेष स्थिति में कोई सहसा परिवर्तन कर दिया जाता तो इन्हे बड़ी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। फलतः संविधान मे यह व्यवस्था रक्खी गई है कि उसके लागू होने के दो वर्ष बाद तक सीमाकर, डाक और तार आदि विभागो की नौकरियो में ऐंग्लो-इण्डियनों की भरती उसी आधार पर होगी जिस प्रकार १५ अगस्त १९४७ के पहले हुआ करती थी। इसके बाद हर दूसरे वर्ष उनके लिए

---

[1] अनु० ३३०, ३३२, ३३४; [2] अनु० ३३५। [3] अनु० ३३८, [4] अनु० ३३९, [5] अनु० ३४०, [6] अनु० ३४१ और ३४२

सुरक्षित स्थानों में से १० प्रतिशत की कमी होती जायगी और संविधान के लागू होने के १० वर्ष बाद संरक्षण का अन्त हो जायगा।[1]

राज्यों की विधान सभाओं तथा लोकसभा में भी इस समुदाय के प्रतिनिधित्व की विशेष व्यवस्था की गई है। यदि राष्ट्रपति यह समझें कि इस समुदाय का लोकसभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वे इसके दो प्रतिनिधियों को उक्त सभा का सदस्य नामांकित कर सकते हैं। इसी प्रकार की स्थिति में राज्यपाल या राजप्रमुख भी राज्य विधान सभा मे उचित संख्या में ऐंग्लोइण्डियन सदस्यों को नामांकित कर सकते हैं।[2] यह व्यवस्था भी संविधान के लागू होने के १० वर्ष बाद समाप्त हो जायगी।

अन्त में; ऐंग्लोइण्डियन समाज को शिक्षा सम्बन्धी अनुदानों (Grants) के विषय मे विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है। ३१ मार्च १९४८ को विभिन्न राज्यों में ऐंग्लोइण्डियन समाज को जो शिक्षा सम्बन्धी आर्थिक सहायता प्राप्त थीं वे ३ वर्षों तक ज्यों की त्यों बनी रही। इसके बाद हर तीसरे वर्ष इनमें १०% की कमी होती जायगी तथा १० वर्ष बाद यह संरक्षण भी समाप्त हो जायगा। इस अनुदान की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि ऐंग्लोइण्डियन शिक्षा-संस्थाओं की वार्षिक छात्र-प्रवेश संख्या मे कम से कम ४०% स्थान अन्य समुदायों के बालकों को भी दिया जाय।[3]

अनुसूचित क्षेत्रों और आदिम जातियों का शासन और नियंत्रण

अनुसूचित क्षेत्रों से राज्यों के उन क्षेत्रों से अभिप्राय है जिनमें आदिम जातियाँ रहती हैं तथा जिनको राष्ट्रपति ने आदेश द्वारा अनुसूचित क्षेत्र घोषित कर दिया है। इन अनुसूचित क्षेत्रों की प्रशासन-व्यवस्था राज्य के अन्य भागों की व्यवस्था से भिन्न है। इन क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में संघ सरकार राज्यों को निर्देश दे सकती है। इन क्षेत्रों में 'आदिमजाति परामर्शदात्री परिषदें' (Tribal Advisory Council) बनाई जायँगी। ये परिषदें राज्य मे रहने वाली आदिम जातियों की उन्नति तथा भलाई सम्बन्धी उन बातों पर परामर्श देंगी जिन पर राज्यपाल उनकी राय माँगें। राज्यपालों को यह शक्ति है कि वे संसद या राज्य विधानमण्डल द्वारा बनाई गई किसी भी विधि या अधि-नियम के सम्बन्ध मे यह आदेश दे दें कि वह अनुसूचित क्षेत्रों मे लागू नहीं होगी अथवा कुछ निश्चित अपवादों और संशोधनों सहित लागू होगी। राज्यपालों को यह भी अधिकार है कि वह अनुसूचित आदिम जातियों मे भूमि के हस्तांतरण को वर्जित घोषित करें या उस पर प्रतिबन्ध लगा दें तथा इसी प्रकार वे इन जातियों में भूमि-वितरण तथा इनके साथ लेन-देन के व्यवसाय पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। ये सारे नियम

[1]अनु० ३३६, [2]अनु० ३३१ और ३३३, [3]अनु० ३३७

ठन की विस्तृत बातों का नियमन प्रथमतः राज्यपाल द्वारा बनाये नियमो तथा बाद में इन परिषदो के बनाये गये नियमों के अनुसार होता है।[1]

इन परिषदों के कार्य तथा कर लगाने के अधिकार उसी उसी प्रकार के हैं जैसे अन्यत्र स्थानीय संस्थाओं के होते हैं। जिस प्रकार स्थानीय संस्थाओ पर राज्य सरकार का नियंत्रण रहता है उसी प्रकार इन परिषदों पर आसाम के राज्यपाल का नियंत्रण है। अर्थात् वह इनके प्रस्तावो को निलंबित कर सकता है, तथा परिषदों को विघटित कर सकता है। तथापि, इन परिषदो और स्थानीय सस्थाओ में यह अन्तर है कि इन परिषदो को कुछ विषयो मे विधायिनी शक्तियां (Legislative Powers) भी प्राप्त है जैसे कृषि भूमि वितरण, वनो तथा जलपथो का प्रबंध, झूम कृषि ग्राम समितियो, सरदारो और मुखियों के उत्तराधिकार, विवाह और सामाजिक प्रथाओं आदि के सम्बन्ध मे। इन सभी विधियो के लिये राज्यपाल की सम्मति आवश्यक है।[2] कुछ विशेष प्रकार के मुकद्दमों का फैसला करने के लिए ये परिषदे ग्राम न्यायालय भी बना सकती हैं। इन न्यायालयो के निर्णयो की अपील परिषदों में और परिषदो से उच्च तथा उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है।[3]

इन आदिम जातियों से व्यापार करने वाले अथवा उनको ऋण देने वाले बाहरी लोगो के इन प्रकार के व्यापारो के नियंत्रण के लिए ये परिषदे विनियम बना सकती हैं।[4]

इन परिषदों की विधायिनी शक्ति के अन्तर्गत विषयो के सम्बन्ध में राज्य विधान-मण्डल की कोई विधि इन क्षेत्रों मे उस समय तक लागू नही हो सकती जब तक सम्बन्धित जिला या क्षेत्रीय परिषद् उसके लिए निर्देश न दे दे। राज्यपाल को यह शक्ति है कि वे अन्य विषयो से भी संबधित किसी संसदीय या राज्यविधान मण्डल की विधि अथवा अधिनियम को उक्त क्षेत्रो मे लागू होने से रोक दें या कुछ अपवादो और संशोधनो के उपरान्त ही उसे लागू होने दे[5]

---

[1]वही अनु० १, [2]वही अनु० ३, [3]वही अनु० ४, [4]वही अनु १०, [5]वही अनु० १२।

संघ और राज्यों की वित्तीय व्यवस्था

अध्याय १३

भारतीय वित्त-व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—भारत के वित्तीय (Financial) इतिहास में समय-समय पर भारत की सवैधानिक रूप-रेखा मे होने वाले परिवर्तनो की झलक दिखाई देती है। ब्रिटिश शासन के प्रारंभिक काल मे जब यहां तीन प्रेसीडेन्सियां अलग-अलग और स्वतन्त्र एककों (units) के रूप में मानी जाती थी तब, उनमे से प्रत्येक की अपनी स्वतन्त्र वित्तीय व्यवस्था भी हुआ करती थी, यद्यपि उस पर इंगलैण्ड स्थित कपनी के अधिकारियो का नियन्त्रण रहता था। सन् १७७३ से केन्द्रीय सरकार का विकास प्रारंभ हुआ और उसके विकास के साथ प्रान्तीय स्वतन्त्रता का ह्रास होता गया और अन्त में सन् १८३३ मे प्रेसीडेन्सियो को किसी भी प्रकार की विधियां बनाने की शक्ति नही रही और सारी विधायिका शक्तियां कलकत्ता मे स्थित इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल मे केन्द्रित हो गई। विधायिनी शक्तियो के केन्द्रण के साथ वित्तीय-व्यवस्था का भी केन्द्रण हुआ। सारे देश का एक ही आयव्ययक (बजट) बनने लगा और प्रान्तीय आय-व्यय के अनुमान (Estimates) उस के भाग मात्र रह गये। सारा राजस्व, चाहे वह केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किया जा ताया प्रान्तीय सरकारो द्वारा, एक ही केन्द्रीय कोष (Imperial Exchequer) मे जमा होता था। प्रान्तीय व्यय की हर रकम के लिये चाहे वह कितनी ही छोटी क्यो न हो, केन्द्रीय सरकार की अनुमति आवश्यक थी।

शीघ्र ही यह पद्धति असुविधाजनक सिद्ध हुई और उसके अनुसरण में कठिनाइयों का अनुभव होने लगा। फलतः सन् १८७० से लार्ड मेयो के वित्तीय प्रस्ताव द्वारा विकेन्द्रण आरम्भ हुआ। इस वित्तीय विकेन्द्रण का लॉर्ड रिपन ने १८८० तथा लॉर्ड कर्जन ने १९०४ के अपने वित्तीय प्रस्तावों द्वारा और भी आगे बढाया। वित्तीय विकेन्द्रण का मूल तत्व यह था कि प्रान्तों को राजस्व के कुछ स्रोत दे दिये गये थे और कुछ विषयों से संबंधित व्यय, और उससे कहा गया कि जैसे भी बने वे इस आय और व्यय का सन्तुलन कर ले। लेकिन जब शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़को आदि पर प्रान्तों का व्यय उनकी आय से अधिक होने लगा तो केन्द्र को अपने आय में से उन्हे

अतिरिक्त धनराशि देनी पड़ी। विभिन्न प्रान्तों को केन्द्र से प्राप्त धन की राशि पंचवर्षीय समझौतों द्वारा निश्चित की जाती थी। यह स्थिति प्रथम महायुद्ध के अन्त तक बनी रही।

सन् १९१९ के अधिनियम द्वारा प्रान्तों को आंशिक स्वाधीनता या उत्तरदायी शासन व्यवस्था प्राप्त हुई जो इतिहास में यह आंशिक स्वायत्त शासन (Autonomy) द्वैध शासन (Dyarchy) के नाम से प्रसिद्ध है। वित्तीय स्वाधीनता के बिना अन्य प्रकार की स्वाधीनता असंभव है। अतः १९१९ के सुधारों के अन्तर्गत भारत सरकार और प्रांतीय सरकारों के बीच शासन के विषयों के बँटवारे के साथ-साथ राजस्व के विषयों का भी एक प्रकार से विभाजन किया गया। तथापि, राजस्व का ऐसा विभाजन संभव न हो सका कि केन्द्र तथा राज्य अपने-अपने क्षेत्रों में वित्तीय दृष्टि से स्वयं पर्याप्त तथा आत्मनिर्भर हो जाते। अतः तथाकथित मेस्टन-निर्णय (Meston Award) के अनुसार एक अस्थायी अंतर्कालीन व्यवस्था स्थापित की गई जिसके अनुसार प्रान्तों को प्रतिवर्ष भारत सरकार को ९३८ लाख रुपया अनुदान के रूप में देना पड़ता था। केन्द्रीय सरकार से यह आशा की गई कि वह अपनी वित्त-व्यवस्था में इस प्रकार के परिवर्तन करे जिससे यथासंभव शीघ्र ही उसे प्रान्तों से सहायता लेने की आवश्यकता न रह जाय। भारत सरकार ने सन् १९२८-२९ तक यह कर लिया और प्रान्तों से वित्तीय सहायता लेना बन्द कर दिया।

इसके बाद सन् १९३५ के शासन-सुधार हुए। यह सुधार संघीय शासन और संघीय वित्त व्यवस्था के आधार पर निर्धारित किये गये थे। संघ सरकार को सीमा कर (Customs), उत्पादन कर (नशीले पदार्थों को छोड़कर (Excise duty), निगम कर (Corporation Tax), आयकर (Income Tax), स्टैम्प (Stamp Duties), नमक कर (Salt Tax), आदि से होने वाली आय दी गई, तथा प्रान्तों को भू-राजस्व (Land Revenue), आबकारी (Excise), कृषि आयकर (Agricultural Income Tax), कृषिभूमि के उत्तराधिकार पर लगनेवाले कर और भोग-विलास की वस्तुओं तथा मनोरंजन पर लगाये जाने वाले करों की आय दी गई। इस वितरण द्वारा प्रान्तों को अपनी आवश्यकता के लिये पर्याप्त आय के साधन नहीं मिल सके। कुछ प्रान्तों की आय उनके आवश्यक व्यय से भी कम थी और ऐसा तो कोई भी प्रान्त न था जिसके पास राष्ट्रनिर्माण-योजनाओं में लगाने के लिये पर्याप्त बचत हो। घाटे वाले प्रान्तों (Deficit Provinces) की समस्या पर विचार करने के लिए सर ओटो निमेयर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति

ने अपने निर्णय (Award) में विभिन्न प्रान्तों को निम्न लिखित सहायताएँ दी जाने की सिफारिश की :—

बंगाल	७५ लाख रु० वार्षिक	
बिहार	२५ " " "	
मध्य प्रांत	१५ " " "	
आसाम	४५ " " "	(इसके अतिरिक्त ७ लाख रुपया आसाम राइफल्स के लिए भी दिया गया ।)
उत्तर पश्चिमी सीमाप्रांत	११० " " "	
उड़ीसा	५० " " "	(१६ लाख और केवल एक बार)
सिंध	१०५ " " "	(५ " ")
संयुक्त प्रान्त	२५ " " "	(केवल ५ वर्षों के के लिए)

इस प्रकार की सहायता प्राप्त करके प्रान्तों ने अपना स्वायत्त शासन आरम्भ किया । भविष्य में प्रान्तों की आय में ऐसी वृद्धि हो सके कि वे राष्ट्र निर्माण के कार्यों में भी कुछ रुपया लगा सकें, इस उद्देश्य से सन् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में कुछ केन्द्रीय करों से होने वाली पूरी आय के प्रान्तों में वितरण की व्यवस्था रक्खी गई थी । ये कर थे—उत्तराधिकार शुल्क, संघीय स्टैम्प कर, सीमान्त कर (Terminal Tax), नमक कर, उत्पादन कर तथा जूट कर । इन करों को भारत सरकार वसूल करती पर उनसे होने वाली पूर्ण आय प्रान्तों में बाँट दी जाती थी । इसके अतिरिक्त आयकर के प्रान्तीय स्रोतों से प्राप्त राशि के एक भाग को भी (जो एक निश्चित अधिकतम सीमा के अन्तर्गत आवश्यकतानुसार घटता-बढ़ता रहता था) प्रान्तों में बाँट देने की व्यवस्था थी । भारतीय संघ में सम्मिलित होनेवाले देशी राज्यों के लिए विशेष वित्तीय व्यवस्थाएँ रक्खी गई थी ।

संघीय वित्त की आदर्श व्यवस्था—संघीय वित्त की आदर्श व्यवस्था वह है जिसमे संघ और एककों के आय के स्रोत दो टूक विभक्त और एक दम अलग रहें, और जिसके द्वारा दोनों पक्षों को अपने अधीन कार्यों का व्यय-भार वहन करने के लिए पर्याप्त वित्त भी प्राप्त हो । परन्तु संसार का कोई संघ राज्य ऐसा नहीं है जिसकी

वित्तीय स्थिति ऐसी अच्छी हो कि वह इस आदर्श तक पहुँच सके। संयुक्त राज्य अमरीका ही एक ही मात्र ऐसा संघ राज्य है जो इस आदर्श के थोड़ा-बहुत समीप पहुँच सका है, पर अन्य संघ राज्यों में या तो संघ सरकार को अपनी आय का कुछ अंश सहायतानुदान के रूप में एककों को देना पड़ता है अथवा एकक राज्यों को अपनी आय का एक भाग संघ सरकार को देना पड़ता है। कनाडा और आस्ट्रेलिया में संघ सरकार राज्यों को वित्तीय सहायता देती है और स्विट्जरलैंड में कैण्टनों को संघ-शासन को यदा-कदा वित्तीय अनुदान देना पड़ता है। केन्द्र तथा एककों के बीच आय के स्रोतों का विभाजन हर संघ राज्य में पाया जाता है, लेकिन यह विभाजन नितान्त दो टूक या स्पष्ट कदाचित ही कहीं हो सका हो। जिस आदर्श को अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध और सम्पन्न राज्य नहीं प्राप्त कर सके वह भारत जैसे निर्धन देश के लिए असम्भव ही था। अतः यहाँ आय के साधनों के के विभाजन के होते हुए भी संघ सरकार द्वारा राज्यों को आवश्यकतानुसार सहायता देने की व्यवस्था रखी गई है।

राज्यों और संघों के बीच आय के स्रोतों का विभाजन—भारतीय संविधान की सप्तम अनुसूची में शक्ति विभाजन की जो तीन सूचियाँ दी हुई हैं उन्हीं में संघ तथा राज्यों के बीच राजस्व के स्रोतों का भी निम्नलिखित विभाजन दिया हुआ है—

क. संघीय आय-स्रोत

१. कृषि आयकर के अतिरिक्त अन्य प्रकार के आयकर।

२. निर्यात शुल्क सहित सीमा शुल्क।

३. तम्बाकू तथा भारत में बनी अन्य वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, परन्तु इनमें कुछ वस्तुयें अर्थात् (अ) मानव उपभोग के लिए बनाये गये मादक पेय और (ब) अफीम, भाँग, गाँजा और अन्य नशीले द्रव्य सम्मिलित नहीं हैं।

४. निगम कर।

५. कृषि भूमि के मूलधन को छोड़कर व्यक्तियों तथा कम्पनियों के सभी प्रकार की सम्पत्ति के मूलधन पर कर, कम्पनियों के मूलधन पर कर।

६. कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति शुल्क (Estate duty)।

७. कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर।

८. रेल या समुद्र या वायु से ले जाये जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमान्त कर (Terminal Tax), रेल के किराये और उनके द्वारा ले जाये जाने वाले माल के किराये पर कर।

९. स्टैम्प शुल्क को छोड़कर स्टॉक एक्सचेंज तथा वादा बाजारों के सौदों पर कर।

१०. विनिमय पत्रों (Bills of Exchange), चेकों, वचनपत्रों (Promissory notes), वहनपत्रों, प्रत्यक्ष पत्रों, कम्पनियों के हिस्सों (Shares) के हस्तान्तरण ऋण पत्रों, प्रतिपत्रों और रसीदों के सम्बन्ध में लगने वाले टिकटों (Stamps) पर कर।

११. समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर।

१२. समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं की खरीद तथा बिक्री पर लगे कर जब कि ऐसी खरीद व बिक्री अन्तर्राज्यीय व्यापार के अन्तर्गत हो।

१३. किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसों को छोड़कर संघ सूची में सम्मिलित विषय के सम्बन्ध मे शुल्क।

संघीय राजस्व के अन्य स्रोत—करों तथा शुल्कों के अतिरिक्त संघ-सरकार की आय के चार अन्य स्रोत भी है अर्थात् (१) सरकारी उद्योग और व्यवसाय से आय जैसे डाक, तार, नमक और अफीम का उत्पादन, लॉटरियों आदि से, (२) सम्प्रभुत्व के अधिकारों से प्राप्त आय जैसे मुद्रा के टंकन, संघीय सम्पत्ति, उत्तराधिकारविहीन सम्पत्ति आदि से, (३) विविध स्रोत जैसे वह धनराशि जो भूतपूर्व नरेशों को उनके निजी व्यय को देने के लिए संघ को भाग 'ख' राज्यों से मिलती है और (४) ऋण लेने से प्राप्त धन।

ख. राज्यों के आय-स्रोत

१. भू-राजस्व।

२. कृषि आयकर।

३. कृषि भूमि पर उत्तराधिकार शुल्क।

४. कृषि भूमि विषयक सम्पत्ति कर।

५. भूमि तथा भवनों पर कर।

६. संसद से विधि द्वारा खनिज-विकास के सम्बन्ध में लगाई गई परिसीमाओं के अन्तर्गत खनिज (Mineral) अधिकार पर कर।

७. मानवीय उपभोग के लिए निर्मित मादक पेयों, अफीम, भाँग तथा अन्य मादक वस्तुओं पर उत्पादन कर।

८. किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिए वस्तुओं के प्रवेश पर कर।

९. विद्युत के उपभोग, विक्रयादि पर कर।

१०. समाचारपत्रों के क्रय-विक्रय को छोड़ कर अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर।

११. समाचार पत्रो में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनो पर कर।

१२. सड़को या अन्तर्देशीय जलपथो से जानेवाली वस्तुओं तथा यात्रियो पर कर।

१३. सड़को पर चलने वाली गाड़ियों आदि पर कर।

१४. पशुओं तथा नौकाओं पर कर।

१५. पथकर (Tolls)

१६. वृत्तियों, व्यापारो, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर।

१७. व्यक्ति कर।

१८. विलास की वस्तुओं पर कर जिनके अन्तर्गत आमोद, विनोद, पण और जुआ खेलने पर लगने वाले कर भी शामिल हैं।

१९. संघ सूची में दिये गये स्टैम्प शुल्को को छोड़ कर अन्य दस्तावेजों पर लगने वाले स्टैम्प शुल्क सम्बन्धी कर।

२० राज्य सूची मे वर्णित किसी भी विषय के सम्बन्ध में शुल्क।

राज्य की आय के अन्य स्रोत—करों के अतिरिक्त राज्यो की आय के भी चार अन्य स्रोत हैं, अर्थात् (१) राजकीय उद्योगों व व्यापारों से जैसे यातायात, मीनपालन आदि से, (२) खानो के होने वाला लाभांश, वन राजस्व तथा निखात निधियों (Treasure trove) आदि से, (३) सङ्घ सरकार से प्राप्त होने वाले सहायक अनुदान, और (४) ऋण

संघीय तथा राज्यों के समवर्ती स्रोत—(१) स्टाम्प शुल्क पर लगाई दरों तथा न्यायालयो सम्बन्धी स्टाम्प शुल्को को छोड़कर अन्य प्रकार के स्टाम्प शुल्क और (२) समवर्ती सूची मे दिये गये विषयो मे से किसी पर शुल्क, सङ्घ और राज्यो के समवर्ती आय-स्रोत हैं।

संघ तथा राज्यों की वित्तीय स्थिति—आय के विभिन्न स्रोतो के जिस विभाजन की चर्चा हम कर आये हैं उससे यह न समझना चाहिए कि जो आय स्रोत जिस पक्ष को सौंप दिया गया है उस स्रोत से होनेवाली सम्पूर्ण आय अनिवार्य रूप से उसी पक्ष को मिलती है। इस विभाजन से केवल यह प्रकट होता है कि कौन-कौन कर संघ सरकार लगा और वसूल कर सकती है, और कौन राज्य सरकारें। जहाँ तक राज्यसूची में वर्णित करों का सम्बन्ध है, उनसे होने वाली समस्त आय राज्यों (या स्थानीय संस्थाओं) के

कोष में जाती है। लेकिन यह बात संघीय करों से होने वाली आय के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती, क्योंकि संघ के बहुत से ऐसे कर हैं जिनकी आय पूर्णतः या अंशतः राज्यों को दी जाती है। इस प्रकार आय के स्रोतों का विभाजन एक दम दो टूक या स्पष्ट नहीं है, कि जो स्रोत जिस पक्ष को दिया गया वह पूर्णतः उसी का हो गया। कई संघीय करों में राज्यों का भी हिस्सा है। इसके अलावा राज्यों को केन्द्र से कई प्रकार की वित्तीय सहायता तथा अनुदान भी मिलते हैं। इस प्रकार सामान्य रूप से भारतीय वित्तीय व्यवस्था की उसी प्रकार की रूप-रेखा है जैसी १६३५ के अधिनियम तथा नीमेयर निर्णय (Niemeyer Award) के अन्तर्गत थी।

इसका कारण यह है कि आय के स्रोतों का ऐसा स्पष्ट विभाजन सम्भव न था जिससे सङ्घ और राज्यों को अपनी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त साधन मिल जाते। चाहे जिस प्रकार से आय के स्रोतों का स्पष्ट विभाजन किया जाता, उसके एक न एक पक्ष को अपनी आवश्यकता से कम मिलना अनिवार्य सा था। इस सम्बन्ध में सबसे टेढ़ी समस्या थी आय-कर की। संघीय वित्त-व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्यक्ष कर होने के कारण यह कर राज्यों को दिया जाना चाहिए, परन्तु यदि ऐसा कर दिया जाता तो सङ्घ की वित्तीय स्थिति गड़बड़ हो जाती और जैसा मेस्टन निर्णय के अन्तर्गत हुआ था, सङ्घ सरकार को राज्य सरकारों के अनुदान (Contributions) पर निर्भर रहना पड़ता। सम्पूर्ण स्थिति पर भली-भाँति विचार के पश्चात् यही उचित समझा गया कि संघ सरकार की वित्तीय स्थिति स्वस्थ रहे और राज्यों से अनुदान लेने के बदले वही उन्हें आवश्यक अनुदान और सहायता दे। संघीय सरकार समस्त देश की एकता की संरक्षक है। उसे वित्तीय मामलों में राज्यमुखापेक्षी बनाना वाञ्छनीय न था।

वित्त के सम्बन्ध में राज्यों की स्थिति कुछ अजीब-सी है। एक ओर तो शिक्षा, लोक स्वास्थ्य और विकास आदि जैसे राष्ट्रनिर्माण के कार्य उन्हें सौंपे गये हैं जिसमें अधिकाधिक व्यय की आवश्यकता पड़ेगी और दूसरी ओर उनको जो आय-स्रोत दिये गये हैं उनसे आय बढ़ने के बजाय घटने, कुछ विषयों में तो बिल्कुल ही लुप्त हो जाने की सम्भावना है। राष्ट्रीय जनमत बहुत दिनों से मद्यनिषेध और भूमि राजस्व में पर्याप्त कमी की माँग करता रहा है। ये दोनों ही राज्य-सूची के बड़े महत्त्वपूर्ण कर हैं और उनकी आय में कमी होने का राज्यों की वित्तीय स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए संघ कोष से राज्यों के कोषों में धन का आना परमावश्यक है। सङ्घीय आय के साधन जैसे सीमा कर, उत्पादन कर और आय कर आदि से बड़ी आमदनी होती है और भविष्य में इस आमदनी के बढ़ते ही जाने की सम्भावना है घटने की नहीं। अतः केन्द्र से राज्यों की सहायता की आशा करना उचित ही है।

करों से होनेवाली आय का वास्तविक वितरण—वास्तविक आय की दृष्टि से हम संघीय करो को पांच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम वर्ग में वे कर आते हैं जिन्हें संघ लगाता और वसूल करता है और जिनमे से होने वाली समस्त आय संघ ही के कोष में जमा होती है। इस वर्ग में संघसूची में दिये हुए वे सभी कर आ जाते हैं, जिनके विषय में किसी दूसरे प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई है।

द्वितीय वर्ग में वे कर हैं जिनको लगाती तो भारत सरकार है लेकिन जिन्हें राज्य-सरकारें वसूल करती हैं और जिनसे होने वाली पूरी आय राज्यों को दे दी गई है। इस वर्ग मे वे स्टाम्प शुल्क और औषधियो एवं प्रसाधन सामग्री पर लगने वाले वे कर हैं जिनका उल्लेख संघसूची मे है।[1]

तृतीय वर्ग में वे कर और शुल्क हैं जिनको संघ लगाता और वसूल करता है, परन्तु जिनसे होने वाली शुद्ध आय राज्यों को दे दी जाती है। इस वर्ग में (क) कृषि भूमि को छोड़कर सम्पत्ति उत्तराधिकार पर लगाये गये कर, (ख) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति (Estate) पर कर, (ग) रेलपथ, समुद्र या वायु से जाने वाले यात्रियों या वस्तुओ पर सीमान्त कर, (घ) रेलों के किराये और भाड़े पर कर, (ङ) स्टॉक एक्सचेंज या बाजारो के सौदो पर लगे हुए स्टाम्प शुल्क के अतिरिक्त अन्य कर, और (च) समाचारपत्रो के क्रय-विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनो पर कर, सम्मिलित हैं।[2]

चतुर्थ वर्ग में वे कर हैं जिनको संघ ही लगाता है और वसूल करता है; परन्तु जिनसे होनेवाली आय राज्यों और संघ के बीच बाँट ली जाती है। इस वर्ग में कृषि आयकर को छोड़कर अन्य प्रकार के आयकर[3] तथा यदि संसद विधि द्वारा निश्चय कर दे तो औषधियों तथा प्रसाधन सामग्री के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ पर लगाये उत्पादन कर भी सम्मिलित हैं।[4] आयकर के वितरण की प्रणाली का आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

पंचम तथा अंतिम वर्ग मे वे अतिरिक्त कर (Surcharges) सम्मिलित हैं जिन्हें संघीय सरकार ऊपर वर्णित तृतीय और चतुर्थ वर्गों के करों पर लगा या जोड सकती है। यद्यपि तृतीय और चतुर्थ वर्गों में वर्णित करों की आय राज्यों को दी जाती है अथवा उनमे और संघ में बँट जाती है, तथापि इन करों पर लगाये अतिरिक्त करों (Surcharges) की पूरी आय संघीय या केन्द्रीय सरकार को मिलती है।[5]

[1]अनु० २६८, [2]अनु० २६९, [3]अनु० २७० (१), [4]अनु० २७२, [5]अनु० २७१

आयकर का बँटवारा—जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में बतलाया जा चुका है आयकर (Income Tax) सङ्घ सरकार द्वारा लगाया और वसूल किया जाता है, परन्तु उससे होने वाली आय सङ्घ और राज्यों में बंट जाती है। इस बँटवारे या वितरण की प्रणाली संविधान मे दी हुई है। इसके सम्बन्ध की कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि आयकर के प्राप्त होने वाली शुद्ध आय का ही वितरण होता है; अर्थात् सम्पूर्ण आय मे से वसूली करके जो कुछ शेष रहता है उसका। दूसरे, सम्पूर्ण शुद्ध आय भी वितरित नही की जाती किन्तु उसमें से संघीय राजकोष से दिये जाने वाले वेतन तथा पेन्शनो आदि पर लगनेवाले आय कर से प्राप्त अंश घटा देने के बाद जो बच रहता है, केवल वही वितरित होता है। तीसरे, इन कमियों को करने के बाद आय कर की शुद्ध आमदनी में से जो कुछ बच रहता है उसका उतना ही प्रतिशत राज्यो मे वितरित होता है जितना राष्ट्रपति निश्चित कर दें।[1] राष्ट्रपति यह निश्चय अनुच्छेद २८० के अनुसार नियुक्त वित्त आयोग (Finance Commission) की सिफारिशों के आधार पर करते हैं।[2] संविधान प्रारंभ होने के दो वर्ष के भीतर और तदनन्तर प्रत्येक पाँचवें वर्ष या जब भी आवश्यक हो, राष्ट्रपति को वित्त आयोग नियुक्त करने का अधिकार है।

अन्तर्कालीन व्यवस्था और देशमुख निर्णय—वित्त आयोग की नियुक्ति होने और उसकी सिफारिशे मिलने तक के लिए किसी अन्तर्कालीन व्यवस्था का होना आवश्यक था। यद्यपि संविधान के अनुसार आयकर की राशि के वितरण का प्रतिशत निर्धारित करने का अधिकार प्रारंभिक वर्षों में अकेले राष्ट्रपति को ही दिया गया था तो भी यह ठीक न समझा गया कि ऐसे जटिल तथा विवादास्पद विषय के निर्णय को केवल राष्ट्रपति (अर्थात् संघ-सरकार) की मरजी पर ही छोड़ दिया जाय। आयकर के बँटवारे मे राज्यों के स्वार्थ और हित का प्रश्न निहित था। अतः वे इस में बड़ी दिलचस्पी ले रहे थे और वितरण संबंधी तरह-तरह के सिद्धातो को प्रस्तुत कर रहे थे। फलतः इस प्रश्न पर एन० आर० सरकार तथा वी० सी० भ्रडारकर की अध्यक्षता में नियुक्त दो विशेषज्ञ समितियों द्वारा विचार किया गया और अन्त में इसे रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर तथा बाद मे भारत सरकार के वित्तमंत्री श्री सी० डी० देशमुख के निर्णय पर छोड़ दिया गया। उनका इस समस्या का अन्तर्कालीन निर्णय देशमुख निर्णय (Deshmukh Award) के नाम से प्रसिद्ध है।

स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि वितरण समस्या में दो मूलभूत प्रश्नों का निर्णय आवश्यक था। इनमे पहला प्रश्न तो यह था कि आय कर से प्राप्त

[1] अनु० २७० (२), [2] अनु० २७० (४)

विभाज्य धनराशि का कितना प्रतिशत राज्यों में वितरित किया जाय, और दूसरा प्रश्न यह था कि विभिन्न राज्यों में विभाज्य धनराशि किस आधार पर और किस अनुपात में बाँटी जाय।

इनमें से प्रथम प्रश्न का निर्णय अपेक्षाकृत सरल था। संघ-सरकार को केवल इतना ही निश्चय करना था कि अपनी तथा राज्यों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, आय कर से प्राप्त विभाज्य धन राशि के कितने भाग को राज्यों मे वितरित किया जा सकता है, परन्तु दूसरा प्रश्न अर्थात् विभाज्य धनराशि के निश्चित भाग को विभिन्न राज्यों मे किस आधार पर और किस अनुपात में बांटा जाय, बड़ा ही जटिल और विवादास्पद था। इस सम्बन्ध में स्वाभाविक रूप से ही प्रत्येक राज्य अपने स्वार्थानुकूल आधार का समर्थन करता था जिससे उसे ही अधिक से अधिक धन मिल सके। संक्षेप मे तीन प्रतिद्वंद्वी सिद्धातो में मान्यता के लिए संघर्ष हो रहा था। पहला सिद्धात यह था कि जिस राज्य से जितना आयकर वसूल होता है, उसी के अनुपात से विभाज्य धनराशि का राज्यो मे वितरण भी हो। सामान्य दृष्टि से यह सिद्धांत ठीक जान पड़ता है कि जिस राज्य से जितना आयकर मिलता हो उसी अनुपात से विभाज्य राशि का राज्यों में वितरण भी हो, अर्थात् जो राज्य जिस अनुपात में आयकर दे, उसी अनुपात मे उसके विभाज्य अंश को पावे भी, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस सिद्धात मे कई कठिनाइयां दिखलाई पड़ती हैं। इसके अनुसरण से मुख्यतः उन राज्यो को लाभ होता जिनमे उद्योग तथा व्यापार केन्द्रित हैं, जैसे बम्बई को, जो अपेक्षाकृत समृद्ध है और जिसे वित्तीय सहायता की अपेक्षाकृत कम आवश्यकता है और अपेक्षाकृत निर्धन राज्यों को जिन्हे सहायता की अधिक आवश्यकता है, अपेक्षाकृत कम मिलता है। दूसरे, उद्योगो की आय तथा उससे प्राप्त आयकर की मात्रा, उनके बनाये माल को खरीदने और उपभोग करने वाले सर्वसाधारण लोगो की जेब से आते हैं। अतः आयकर के वितरण का लाभ उत्पादक राज्य को नही, किन्तु उपभोक्ता राज्यों को मुख्यतः मिलना चाहिए। यदि इस बात को माना जाय तो आयकर की विभाज्य राशि विभिन्न राज्यो की जनसंख्या के अनुपात से वितरित की जानी चाहिए। वितरण सम्बन्धी दूसरा सिद्धांत यही था, परन्तु यह भी कठिनाई से मुक्त न था। जनसख्या का आधार मध्य-प्रदेश और आसाम सरीखे निर्धन और बिखरी हुई आबादी वाले राज्यो के हित में न था, जिन्हें बड़े-बड़े भू-भागों के लिए शासन-व्यवस्था करनी पड़ती है। इन राज्यों के साथ तभी न्याय हो सकता था जब वितरण प्रथम दो सिद्धातों के अनुसार न होकर विभिन्न राज्यों को आवश्यकता के आधार पर हो। जैसा कि पण्डित कुंजरू ने कहा था, सामाजिक कल्याण के लिए अमीरों के पास से गरीबों के पास धन का जाना आवश्यक है। अतः धनी राज्यों को अपने न्यायानुकूल

भाग के भी एक अंश को निर्धन राज्यों के कल्याण के लिए उन्हें देने को तैयार रहना चाहिए। अतः वितरण सम्बन्धी किसी ऐसे सूत्र की आवश्यकता थी जिसमें उपरोक्त सभी सिद्धांतों का समन्वय हो।

एन० आर० सरकार समिति ने सिफारिश की थी कि जिस राज्य से जितना आयकर मिलता हो उसी के अनुपात के अनुसार विभाज्य धनराशि विभिन्न राज्यों में वितरित कर दी जाय लेकिन भारत सरकार ने इस सिद्धांत को सन्तोषजनक न मानकर अस्वीकृत कर दिया। अम्बारकर समिति ने वितरण के तीन सिद्धांतों—वसूली, जनसंख्या और क्षेत्रफल के सम्मिलित सूत्र के अनुसरण की सिफारिश की थी। सभी पक्षों को सन्तोषजनक कोई सूत्र तत्काल न मिलने के कारण यह तय किया गया कि उसका अन्तिम निर्णय भावी वित्त-आयोग ही पर छोड़ दिया जाय और तब तक के लिए श्री देशमुख का दिया हुआ अन्तर्कालीन निर्णय मान्य समझा जाय। श्री देशमुख ने सर ओटो निमेयर की सिफारिशों के आधार पर अपना निर्णय दिया, परन्तु पंजाब, बंगाल तथा आसाम के विभाजन से जो नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थी उनको ध्यान में रखते हुए यथावश्यक हेर फेर के साथ। १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत आयकर से होने वाली आय का ५० प्रतिशत विभाज्य माना जाता था। देशमुख निर्णय में भी यही माना गया।

सर ओटो ने विभिन्न प्रांतों को विभाज्य धनराशि के निम्नलिखित प्रतिशत दिये जाने की सिफारिश की थी—

मद्रास	१५%
बम्बई	२०%
बंगाल	२०%
यू० पी०	१५%
पंजाब	८%
बिहार	१०%
मध्य प्रदेश	५%
आसाम	२%
उड़ीसा	३%
सिंध	२%
सीमाप्रान्त	१%

श्री देशमुख ने भी विभिन्न राज्यों के लिए इन्हीं प्रतिशतों को मान्यता दी, परन्तु अब बंगाल, आसाम तथा पंजाब का विभाजन हो गया था। इसलिए उक्त राज्यों का

जितना भाग पाकिस्तान में चला गया था उसके अनुपात में उन्होंने इन राज्यों को मिलने वाले अंश में कमी कर दी और इस कमी को उन्होंने 'डूबे हुए प्रतिशतों' (Lapsed Percentages) की संज्ञा दी। इन डूबे हुए प्रतिशतों को उन्होंने शेष प्रांतों (अ ब राज्यों) मे उनके हिस्सो के अनुपात से बाँट दिया। आसाम के हिस्से में कोई कमी नहीं की गई क्योंकि उसे पहले से ही बहुत कम मिलता था। पंजाब तथा बंगाल के डूबे हुए प्रतिशतो को क्रमश: ४ और १० मान लिया गया। इनमें सिंध और सीमाप्रांत के डूबे हुए प्रतिशतों को जोड़ने पर पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध प्रतिशतों की संख्या १७ हो गई। इनको निमेयर वितरण के आधार पर विभिन्न राज्यों में बाँट दिया गया। फलस्वरूप विभाज्य आयकर का निम्नलिखित प्रतिशत विभिन्न राज्यो के भाग में आया—

राज्य	निमेयर निर्णय के अन्तर्गत प्राप्त मूल प्रतिशत	डूबे प्रतिशतों में से जोड़ा हुआ प्रतिशत	कुल प्रतिशत
मद्रास	१५	२·५	१७·५
बम्बई	२०	१	२१
बंगाल	१२·५ (२०—७·५)	१	१३·५
यू० पी०	१५	३	१८
पंजाब	४ (८—४	१·५	५·५
बिहार	१०	२·५	१२·५
मध्य प्रदेश	५	१	६
आसाम	२	१	३
उड़ीसा	२	१	३

देशमुख निर्णय द्वारा आयकर की आमदनी के विभाज्य अंश में विभिन्न राज्यों को ऊपर लिखे हुए कुल प्रतिशत के अनुसार भाग मिला, अर्थात् मद्रास को विभाज्य धनराशि का १७·५ प्रतिशत, बम्बई को २१ प्रतिशत और इसी प्रकार अन्यों को भी। यह व्यवस्था १ अप्रैल सन् १९५० से प्रारम्भ हुई और लगभग दो वर्षों तक अर्थात् वित्त आयोग की रिपोर्ट के आने तक चली। देशमुख निर्णय मे सघांतरित राज्यों मे विलीन भूतपूर्व देशी रियासतों की ओर कोई ध्यान नही दिया गया था। इस कारण देशमुख निर्णय में आवश्यक संशोधन सरकार के विचाराधीन रक्खे गये।

आयकर के वितरण के सम्बन्ध में वित्त आयोग की सिफारिशें—संविधान में दी गई व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति ने सन् १९५१ मे ३० नवम्बर को वित्त आयोग की नियुक्ति की और ३१ दिसम्बर सन् १९५२ को इस आयोग की रिपोर्ट सरकार को मिल गई। आयोग का मौलिक दृष्टिकोण यह था कि यद्यपि राज्य-सरकारों के साधनो में पर्याप्त वृद्धि की आवश्यकता प्रत्यक्ष है तथापि, केन्द्र को उन्हें सहायता देने

की क्षमता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। केन्द्र की आय से राज्यों को केवल इतना ही दिया जाना चाहिए जिससे केन्द्र की वित्तीय स्थिति पर अधिक बोझ न पड़े।

जहाँ तक आयकर के वितरण का सम्बन्ध है आयोग ने सिफारिश की कि उसकी विभाज्य राशि (Divisible Pool) का ५५% वितरित किया जाय। इस राशि के विभिन्न राज्यों में वितरण के आधार के सम्बन्ध में आयोग ने 'वसूली' और 'जनसंख्या' के सिद्धान्तों के बीच का मार्ग ढूंढ़ निकाला अर्थात् वितरित की जाने वाली धनराशि का ८० प्रतिशत भाग १९५१ की गणना के अनुसार जनसंख्या और २०% विभिन्न राज्यों को आयकर की वसूली के आधार पर वितरित हो। इस प्रकार राज्यों को आयकर की विभाज्य राशि का निम्नलिखित प्रतिशत मिला—

राज्य	देश मुख के निर्णय के अनुसार भाग	वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार भाग
आसाम	३.%	२.२५%
बिहार	१२.५%	९.७५%
बम्बई	२१.%	१७.५०%
हैदराबाद		४.५०%
मध्य भारत		१.७५%
मध्य प्रदेश	६.%	५.२५%
मद्रास	१७.५%	१५.२५%
मैसूर		२.२५%
उड़ीसा	३%	३.५%
पेप्सू		०.७५%
पंजाब	५.५%	३.२५%
राजस्थान		३.५%
सौराष्ट्र		१.००%
त्रिवांकुर कोचीन		२.५%
उत्तर प्रदेश	१९.%	१५.७५%
पश्चिमी बंगाल	१३.५%	११.२५%

इन सिफारिशों को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया और ये पूर्ववर्ती प्रभाव (With Retrospective Effect) से १ अप्रैल सन् १९४७, से लागू कर दी गई। यह व्यवस्था ५ वर्षों अर्थात् मार्च १९५२ ई० तक चालू रहेगी और इसके उपरान्त स्थिति पर पुनर्विचार किया जायगा।

कुछ संघीय उत्पादन करों से होने वाली आय का वितरण—औषधीय तथा प्रसाधन (Toilet) सामग्री की वस्तुओं पर उत्पादन कर को छोड़कर, अन्य वस्तुओं पर उत्पादन कर संघ ही लगाता है और वसूल करता है, परन्तु यदि ससद विधि द्वारा इस आशय की व्यवस्था कर दे तो इन उत्पादन करो की समस्त आय अथवा उसका एक अंश उन राज्यो में, जिनमें ये कर लगाये गये हैं, वितरित किया जा सकता है। वितरण के सिद्धान्त भी संसद ही अपनी विधि द्वारा निर्धारित करेगी।[1]

सघीय उत्पादन करों की आय-राशि का वितरण कुछ राज्यों के वित्त के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ आसाम के लिए चाय, पेट्रोल और मिट्टी के तेल पर लगने वाला उत्पादन कर महत्वपूर्ण है। इस कर से केन्द्र को लगभग ८ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष मिलता है और आसाम के प्रतिनिधियों का कहना था कि यदि इसमें उक्त राज्य को ५०% भी प्रतिवर्ष मिलता जाय तो उसकी वित्तीय कठिनाइयाँ काफी हद तक दूर हो सकती हैं। इसी प्रकार उड़ीसा के लिए तम्बाकू पर उत्पादन कर महत्वपूर्ण है और उसके प्रतिनिधि इससे होने वाली आय राशि का एक अंश मांगते हैं। इन राज्यों का कहना है कि उत्पादन कर का वितरण संसद की कृपा और विधि पर निर्भर न होकर, राज्यो के अधिकार रूप में होना चाहिए।

वित्त आयोग ने केवल तीन वस्तुओं पर के उत्पादन कर की राशि को राज्यों में वितरित करने की सिफारिश की, अर्थात् तम्बाकू (जिसमे सिगरेट तथा सिगार आदि भी शामिल हैं) दियासलाई और वनस्पति घी के इनसे प्राप्त होने वाले उत्पादन-कर की धनराशि का ४०% भाग विभिन्न राज्यो मे निम्नलिखित अनुपात से वितरित होना चाहिये—

राज्य	प्रतिशत
आसाम	२.६१
बिहार	११.६०
बम्बई	१०.३७
हैदराबाद	५.३६
मध्य भारत	२.२६
मध्य प्रदेश	६.१३
मद्रास	१६.४४
मैसूर	२.६२

[1] अनु० २७२

उड़ीसा	४.२२
पेप्सू	१.००
पंजाब	३.६६
राजस्थान	४.४१
सौराष्ट्र	१.१६
तिर्वांकुर कोचीन	२.६८
उत्तर प्रदेश	१८.२३
पश्चिमी बंगाल	७.१६

इस व्यवस्था को लागू किये जाने के लिये संसदीय विधि की आवश्यकता थी। अतएव वित्त आयोग ने सिफारिश की कि यह विधि तुरन्त बना दी जाय।

राज्यों को संघीय अनुदान—राज्यों को संघीय अनुदान चार उद्देश्यों के लिए आवश्यक समझे गये। प्रथम तो कुछ राज्यों के राजस्व के पहिले के कुछ स्रोत कम हो गये थे और उनके बदले या मुआवजे में अनुदान देना आवश्यक था। दूसरे, संविधान द्वारा कुछ राज्यों को कुछ नये उत्तरदायित्व दिये गये थे। इन उत्तरदायित्वों की पूर्ति होने वाले अतिरिक्त व्यय के लिए केन्द्र से रुपया दिया जाना जरूरी था। तीसरे, अनुसूचित आदिम जातियों के लिए कल्याण की योजनाएँ प्रारम्भ करने और अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए राज्यों को उत्साहित करने के लिए भी उन्हें केन्द्रीय सहायता आवश्यक समझी गई। चौथे, निर्धन और अभावग्रस्त राज्यों की आय की वृद्धि के लिए केन्द्रीय अनुदान आवश्यक थे। प्रथम दो उद्देश्यों के लिए केन्द्रीय अनुदान अनिवार्य है अर्थात् संघ सरकार राज्यों को ये अनुदान देने के लिए संविधान द्वारा ही बाध्य है, परन्तु शेष दो प्रकार के अनुदान ऐच्छिक हैं अर्थात केन्द्र उन्हें अपनी सुविधानुसार दे या न दे।

जूट निर्यात कर के बदले सहायक अनुदान—प्रथम वर्ग अर्थात् प्रतिकर या मुआवजे के रूप में दिये जाने वाले अनुदान का उदाहरण है जूट या जूट के सामान पर निर्यात शुल्क (Export Duty) के बदले में दिया जानेवाला अनुदान। आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल में मुख्यतः जूट का उत्पादन होता है और सन् १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत जूट निर्यात शुल्क की आय के कम से कम १०% को इन राज्यों में वितरित करने की व्यवस्था थी। वस्तुतः इन राज्यों को उसका ६१½% मिलता था और यह भाग जूट उत्पादन प्रान्तों में प्रत्येक में, होनेवाले जूट के उत्पादन के अनुपात से बांट दिया जाता था। १७ मार्च सन् १६४८ के बाद जूट निर्यात शुल्क से होने वाली आय पहले की केवल २०% ही रह गई क्योंकि अधिकांश जूट उत्पादन क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये।

नये संविधान में जूट निर्यात कर या शुल्क का कोई निश्चित प्रतिशत या भाग राज्यों को देना उचित नही समझा गया क्योंकि ऐसा करने से अन्य राज्य भी अपने-अपने क्षेत्रो में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के निर्यात पर के शुल्क के एक भाग का दावा करने लगते। अस्तु, जिन राज्यों को जूट शुल्क के वितरण के लुप्त हो जाने से क्षति हुई थी उन्हें उसके मुआवजे या बदले में अनुदान देने की व्यवस्था की गई, और श्री देशमुख से कहा गया कि वे विभिन्न राज्यो के उस अनुदान की राशियां निश्चित कर दें। श्री देशमुख के निर्णय (Award) के अनुसार संबंधित राज्यों को निम्नलिखित अनुदान देने की व्यवस्था हुई :—

राज्य	वार्षिक अनुदान (लाख रुपयों मे)
पश्चिमी बंगाल	१०५
आसाम	४०
बिहार	३५
उड़ीसा	५

राज्यो को इन अनुदानो को तब तक दिये जाने की बात थी जब तक भारत सरकार जूट तथा जूट के सामान पर निर्यात कर लगाती रहे या संविधान प्रारंभ होने के १० वर्ष बाद तक, इन मे से जो भी अवधि पहले समाप्त हो जाय।[1]

वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार जूट निर्यात कर के बदले में निम्नलिखित राज्यो को नीचे लिखे अनुसार अनुदान मिलते हैं :—

राज्य	अनुदान (लाख रुपयो मे)
पश्चिमी बंगाल	१५०
आसाम	७५
बिहार	७५
उड़ीसा	१५

आसाम को अतिरिक्त व्यय के लिये अनुदान—दूसरे वर्ग मे वे अनुदान है जो आसाम के अनुसूचित क्षेत्रो के प्रशासन के व्यय के लिये उक्त राज्य को दिये गये हैं। छठवी अनुसूची के अनुच्छेद २० मे भाग 'क' तालिका मे वर्णित छः अनुसूचित क्षेत्रो के प्रशासन का कार्य आसाम को दिया गया है। संविधान के प्रारंभ होने के बाद दो वर्षों में इन क्षेत्रो से उत्पन्न आय और उनके शासन पर व्यय मे जो औसत अन्तर होगा, उतना अनुदान संघ आसाम राज्य को प्रतिवर्ष देता रहेगा। इसके अतिरिक्त भारत

[1]अनु० २७३।

सरकार की अनुमति से इन क्षेत्रों के प्रशासन को राज्य के शेष भागों के प्रशासन के स्तर पर लाने तथा उनकी विकास-योजनाओं में आसाम जो कुछ खर्च करेगा वह भी उसे केन्द्रीय सरकार देगी। इस अनुदान को संसद विधि द्वारा स्वीकृत (Authorise) करेगी पर जब तक वह ऐसा न करे तब तक राष्ट्रपति के आदेश द्वारा ही अनुदान निश्चित होगा।[1]

कुछ सरकार की कल्याण और विकास योजनाओं के व्यय-संबंधी अनुदान—तीसरे वर्ग में वे अनुदान आते हैं जो भारत-सरकार राज्य-सरकारों को उन योजनाओं के व्यय-भार को वहन करने के लिए देगी जिन्हें राज्य सरकारें केन्द्रीय शासन (सरकार) की सहमति से अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण तथा अनुसूचित क्षेत्रों के प्रासन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए लागू करेंगी।[2] ये अनुदान द्वितीय वर्ग के अनुदानों से इस बात में भिन्न हैं कि द्वितीय वर्ग के अनुदानों को देने के लिए भारत सरकार बाध्य है जब कि इस तृतीय वर्ग के अनुदानों का देना न देना, उसकी इच्छा और सुविधा पर निर्भर है। इन अनुदानों को देने के लिए भारत सरकार तभी बाध्य है जब वह किसी राज्य की कल्याण या विकास-योजना को अपनी स्वीकृति दे चुकी हो। इन अनुदानों का उद्देश्य भी आसाम को दिये जाने वाले अनुदानों से भिन्न है क्योंकि इनका संबंध अनुसूचित क्षेत्रों की विकास-योजनाओं मात्र से न होकर आदिम जातियों की कल्याण-योजनाओं से भी हैं। इन अनुदानों के लिए भी संसद की विधि द्वारा स्वीकृति आवश्यक है और जब तक वह न हो, तब तक के लिए राष्ट्रपति का आदेश जरूरी है।

सामान्य सहायतानुदान (General Assistance Grants)—अंतिम वर्ग में वे सहायतानुदान (Assistance Grants) आते हैं जो संसद विधि द्वारा वित्तीय अभावग्रस्त राज्यों के राजस्व की वृद्धि के लिए दे सकती है। इन अनुदानों मे एक राजस्वाभाव अनुदान (Revenue-Gap Grant) भी है। किसी राज्य का ऐसे अनुदान की आवश्यकता है या नहीं इसका निर्णय संसद करेगी और विभिन्न राज्यों को विभिन्न राशियों के अनुदान दिये जा सकते है।[2] यह अनुदान ऊपर वर्णित दो अनुदानों से इस बात में भिन्न है कि वे किसी उद्देश्य विशेष के लिए नहीं दिये जाते और सर्वथा ऐच्छिक (Optional) हैं। संसद की विधि द्वारा व्यवस्था होने तक ये अनुदान भी राष्ट्रपति के आदेश द्वारा निश्चित किये जा सकते हैं।

---

[1]अनु० २७५ (१) की व्यवस्था और २७५ (२), [2]अनु० २७५ (१) प्रथम व्यवस्था, [2]अनु० २७५ (१)

सहायता-अनुदानों के सम्बन्ध में वित्त आयोग की सिफारिशें—ऊपर हम कुछ राज्यों को जूट निर्यात कर की राशि के बदले दिये हुए सहायता अनुदान का वर्णन कर आये हैं। इसके अतिरिक्त वित्त आयोग ने कुछ राज्यों को निम्नलिखित अन्य अनुदानों के दिये जाने की भी सिफारिश की है—

राज्य	अनु० २७५ के अन्तर्गत सामान्य सहायता अनुदान लाख रुपयों में	राजस्वाभाव अनुदान (लाख रुपयों में)	प्राथमिक शिक्षा अनुदान (लाख रुपयों में)
आसाम	१,००		
बिहार			५०
हैदराबाद			२४
मध्य भारत			१०
मैसूर	४०	१,५८	
उड़ीसा	७५		१९
पेप्सू			५
पंजाब	१,२५		१७
राजस्थान			२४
सौराष्ट्र	१,८७		
तिर्वांकुर कोचीन	४५	९८	
पश्चिमी बंगाल	८०		

प्रत्येक राज्य को दिया जानेवाला सामान्य सहायता अनुदान उसकी आय के समस्त स्रोतों और आयकर में से मिलने वाले भाग पर विचार कर लेने के बाद निर्धारित किया गया। इस विचार के उपरान्त वित्त आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि *मद्रास, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, हैदराबाद राजस्थान, मध्य भारत और पेप्सू* को सहायता की आवश्यकता नहीं है। बम्बई, पश्चिमी बङ्गाल, उड़ीसा और सौराष्ट्र की सीमान्त (Marginal) स्थिति थी अर्थात् वे ज्यों-त्यों अपना काम चला सकते थे, और पञ्जाब और आसाम को निश्चित रूप से सहायता की आवश्यकता थी। किसी प्रकार अपना काम चला सकने की सीमांत स्थिति वाले राज्यों में से एक बम्बई भी था परन्तु उसकी उन्नत अर्थ व्यवस्था को और बड़े आयव्ययिक को देखते हुए उसे सहायता देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। अतः सीमांत स्थितिवाले वर्ग में पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और सौराष्ट्र शेष रह गये, और अभावग्रस्त राज्यों के वर्ग में आसाम और पञ्जाब

इन्हो के लिए सहायता आवश्यक थी। विभाजन के कारण उत्पन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए पश्चिमी बंगाल को ८० लाख वार्षिक का सामान्य अनुदान दिया गया। उड़ीसा को भी ७५ लाख का सामान्य अनुदान दिया गया क्योंकि उसमें बहुत से पिछड़े और अविकसित क्षेत्र विलीन किये गये थे। इसी कारण सौराष्ट्र को भी ४० लाख का अनुदान दिया गया। पंजाब और आसाम देश की सीमा पर स्थित राज्य थे। पंजाब को भी विभाजन से बड़ी हानि हुई थी। इसलिए इन दो राज्यों को क्रमशः १ करोड़ रुपया १$\frac{1}{4}$ करोड़ का अपेक्षाकृत बड़ा अनुदान दिया गया। त्रिवांकुर और कोचीन तथा मैसूर राज्यों को क्रम से ४५ और ४० लाख रुपया वार्षिक के अनुदान इस उद्देश्य से दिये गये कि उनकी उन्नति भविष्य में भी पूर्ववत् हो जारी रहे। यह तो हुई सामान्य अनुदानों की बात जो अनुच्छेद २७५ के अन्तर्गत दिये गये। इसके अतिरिक्त सौराष्ट्र, मैसूर, और त्रिवांकुर-कोचीन को क्रमानुसार ११८,१८७ और ६८ लाख रुपयों वार्षिक के राजस्वाभाव अनुदान भी दिये जाते हैं जिससे भारतीय संघ के साथ वित्तीय एकीकरण से उत्पन्न इन राज्यों की आय की कमी पूरी हो जाय। प्रारम्भ में इन तीन राज्यो की आय में कुल मिलाकर १२.७४ करोड़ रुपयो का घाटा था किन्तु केन्द्र द्वारा आयकर तथा कुछ अन्य आय-स्रोतों के वितरण के बाद वह ४.४३ लाख मात्र रह गया।

अन्त में उपरोक्त अनुदानों के अतिरिक्त वित्त आयोग ने प्राथमिक शिक्षा के लिए एक नवीन प्रकार के अनुदान की सृष्टि की। प्राथमिक शिक्षा अनुदान, बिहार, मध्य प्रदेश हैदराबाद, राजस्थान, उड़ीसा, पञ्जाब, मध्य भारत, पेप्सू आदि जैसे प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़े हुए राज्यो को दिया गया है। यह अनुदान आगामी ४ वर्षों के लिए उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राशि मे दिया गया। सन् १९५३-५४ मे इस अनुदान के रूप मे १॥ करोड़ रुपये देने की व्यवस्था थी, किन्तु सन् १९५६-५७ मे यह राशि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ३ करोड़ रुपयो तक पहुँच जायगी।

ऊपर लिखे अनुदानो के अतिरिक्त आसाम तथा अन्य राज्यों को जिनमें अनुसूचित क्षेत्र और अनुसूचित आदिम जातियाँ हैं, इनके सम्बन्ध में अनु० २७५ (१) के प्रतिबन्ध के अन्तर्गत विशेष अनुदान भी मिलते हैं।

वित्त आयोग का इन विभिन्न सिफारिशो के फलस्वरूप राज्यों को केन्द्र से मिलनेवाली कुल राशि ६५.१२ करोड़ से बढ़ कर ८५.९३ करोड़ रुपया हो गई अर्थात् राज्यों को आय तथा अन्य करो की वापसी तथा अनुदानों के रूप मे केन्द्र से पहिले की अपेक्षा २१ करोड़ अधिक मिलने लगा।

वित्त आयोग (Finance Commission)—संविधान में दी गई व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति को संविधान प्रारम्भ होने के दो वर्ष के अन्दर तथा इसके बाद प्रति

पाँचवें वर्ष या आवश्यकतानुसार उसके पूर्व वित्त-आयोग नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है।

वित्त आयोग में चार सदस्य और एक अध्यक्ष होने चाहिए। इन सबकी नियुक्ति राष्ट्रपति के आदेश द्वारा होती है। सदस्यों और अध्यक्ष की योग्यता (Qualifications) तथा चयन की पद्धति (Mode of Selection) संसद की विधि द्वारा निर्धारित होती है।

वित्त आयोग को नियुक्ति करने का उद्देश्य समय-समय पर संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों पर विचार तथा उस विषय में आवश्यक संशोधन-परिवर्तन की सिफारिशें करना है। यह बतलाया जा चुका है कि संविधान द्वारा संघ तथा राज्यों के वित्तीय-सम्बन्ध की बहुत सी महत्वपूर्ण बातों का निर्णय संसदीय विधि या राष्ट्रपति के आदेश द्वारा होने के लिए छोड़ दिया गया है। संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों को स्थायी रूप से निर्धारित करना सम्भव नहीं है। उभय पक्षों की वित्तीय परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर पुनर्विचार और परिवर्तन आवश्यक है। उनके पारस्परिक वित्तीय सम्बन्ध के विषय में उदाहरण के लिए आयकर को ही लिजिए। आरम्भ में आयकर से होने वाली शुद्ध आमदनी (Net proceeds) का ५०% भाग संघ और ५०% भाग राज्यों के लिए निश्चित किया गया था परन्तु क्या केन्द्र को इस कर से होने वाली शुद्ध आय के ५०% भाग की सदा आवश्यकता बनी रहेगी विशेषतः उस दशा में जब तक राज्यों को धन की अधिक आवश्यकता है और जब कि सिद्धान्त की दृष्टि से आयकर राज्यों को मिलना चाहिए था। केन्द्र से राज्यों को कितना अनुदान मिलना चाहिए ? ऐसे प्रश्नों का थोड़े समय के लिए ही उत्तर दिया जा सकता है। अतः वित्त आयोग जैसी विशेषज्ञ समिति की, जो परिस्थिति के अनुसार संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध पर समय-समय पर पुनर्विचार कर के, उसमें आवश्यक संशोधन परिवर्तन के सुझाव दे सके, आवश्यकता है।

वित्त आयोग का कर्तव्य राष्ट्रपति को निम्नलिखित विषयों पर अपनी सिफारिशें देना है—

(क) संघ और राज्यों के बीच करों से होनेवाली प्राप्तियों की शुद्ध आय के कितने भाग को विभक्त राज्यों में वितरित किया जाय तथा राज्यों के बीच उसके वितरण का आधार या सिद्धांत क्या हो।

(ख) राज्यों को संघीय कोष से दिये जाने वाले सहायतानुदानों के क्या सिद्धान्त होने चाहिए।

(ग) किसी वर्तमान वित्तीय समझौते को जारी रखा जाय या उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

(घ) अन्य विषय जिन पर आयोग की राय माँगी जाय।[1]

राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि वह वित्त आयोग की रिपोर्ट की सिफारिशों तथा उनको कार्य रूप में परिणत करने के लिए सरकार ने जो कुछ किया हो उसका विवरण संसद के दोनों सदनों के समक्ष रक्खे। राष्ट्रपति वित्त-आयोग की सिफारिशों को मानने के लिए बाध्य नहीं है परन्तु उपरोक्त विषयो के सम्बन्ध मे वह वित्त आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के बाद ही निर्णय कर सकता है, अन्यथा नही।[2]

प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सन् १६५१ में ३० नवम्बर को हुई थी। इस आयोग के अध्यक्ष श्री के० सी० नियोगी और सदस्य श्री बी० एल० मेहता, न्यायाधीश श्री आर० कौशलेन्द्र राव, श्री बी० के० मदन और श्री एम० वी० रंगाचारी थे। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट दिसम्बर सन् १६५१ में दी। वित्त आयोग सम्बन्ध मे एक मनोरंजक सवैधानिक यह विवाद उठा कि रिपोर्ट देने के बाद वह स्वयमेव विघटित हो जायगा या स्थायी निकाय के रूप में पांच वर्षों अर्थात् राष्ट्रपति द्वारा पुनर्गठन तक कार्य करता रहेगा। संसद के कुछ अनुभवी सदस्यो का मत था कि निर्वाचन तथा लोकसेवा आयोगो की भाँति वित्त आयोग भी स्थायी निकाय के रूप मे निरन्तर कार्य करता रहे। इस सम्बन्ध में आस्ट्रेलिया के वित्त आयोग का उदाहरण दिया गया जो स्थायी निकाय है। इस मत के पक्ष मे तर्क यह था कि संविधान के अन्तर्गत वित्त आयोग के सुपुर्द जो प्रश्न किये गये थे और जिनके सम्बन्ध मे उसने अपना प्रतिवेदन दिया, वह उसके कृत्यों का केवल एक भाग है तथा राज्यो के प्रति वित्तीय न्याय के लिए वित्त आयोग का समस्त वित्तीय वितरण कार्य को निरन्तर देखते रहना और कोई अनुचित वित्तीय असमानता न उत्पन्न होने देना आवश्यक है। तथापि आयोग की स्थिति तथा कृत्यों के सम्बन्ध मे यह मत स्वीकार नही किया गया।

भारत की वित्त व्यवस्था में भाग 'ख' राज्यों की स्थिति—स्वतन्त्रता के पूर्व भाग 'ख' राज्य अथवा वे रियासते जिन्हे मिला करके बनाये गये हैं, स्वतन्त्र राजनीतिक और वित्तीय इकाइयां थे। अतः उन्हे राजस्व के न केवल वह स्रोत प्राप्त थे जो ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को मिले हुए थे, किन्तु वे आय स्रोत के भी जो ब्रिटिश भारत में भारत सरकार के पास थे; यथा, सीमा शुल्क (Customs Duties), डाक और तार से होने वाली आय, मुद्रा टंकण आदि से होने वाली आय, उनकी सीमाओ से गुजरने वाले सामान पर लिये जाने वाले शुल्क आदि। सन् १६३५ के भारत शासन अधिनियम की संघीय व्यवस्था मे भी भारतीय देशी रियासतो के लिए प्रान्तों से भिन्न वित्तीय व्यवस्था रखी गई थी। यद्यपि भारतीय संघ मे सम्मिलित होने पर देशी रियासतों को कुछ संघीय राजस्व के स्रोतों का परित्याग करना पड़ता, तो भी शेष संघीय स्रोत उनके ही हाथ में

[1]अनु० २८०, [2]अनु० २८१।

रहते। उदाहरणार्थ संघ सरकार इन राज्यों में आयकर या सम्पत्ति-कर न लगा सकती और ये कर रियासतों के ही पास रहते।

स्वाधीनता के बाद जब देशी राज्य भारतीय संघ में सम्मिलित हो गये तब यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि देश की वित्त-व्यवस्था में उनका क्या स्थान रहे। राष्ट्रीय सुदृढ़ता और एकरूपता की दृष्टि से यह आवश्यक था कि इन राज्यों (जिन्हें अब भाग 'ख' राज्य कहा जाता है) का भी संघ से वही सम्बन्ध है जो भाग 'क' के राज्यों का था लेकिन प्रतीत काल से चली आने वाली परम्परा का तत्काल ही अन्त कर देने से गम्भीर वित्तीय कठिनाइयाँ होने की आशंका थी। अतः तत्काल तो कुछ आवश्यक हेर-फेर के साथ 'ख' राज्यों की वित्त व्यवस्था को पूर्ववत् ही रहने दिया गया। इस प्रकार उस समय भाग 'ख' राज्यों की वित्तीय विलगता बनी रही, परन्तु वित्तीय एकीकरण का आदर्श ध्यान में रक्खा गया और संविधान के २७८ वे अनुच्छेद में उसके लिए आवश्यक व्यवस्था भी कर दी गई। इस अनुच्छेद में भारत सरकार को यह शक्ति प्रदान की गई कि वह भाग 'ख' राज्यों से संघ सूची विषयक किसी भी कर या शुल्क तथा उससे होने वाली आय के वितरण के सम्बन्ध में कोई भी समझौता कर सकती है चाहे वह भाग 'क' राज्यों के साथ की गई व्यवस्था से भिन्न भी हो। ऐसे समझौते में भूत-पूर्व नरेशों की निजी वृत्ति के लिए भाग 'ख' राज्यों से आवश्यक धन लेने तथा वित्तीय एकीकरण से उत्पन्न इन राज्यों की आय की कमी को पूरा करने के लिए संघीय सहायता की व्यवस्था भी रक्खी जा सकती थी। ऐसे समझौते संविधान के प्रारम्भ होने के बाद १० वर्ष बाद तक जारी रह सकते थे, परन्तु राष्ट्रपति के आदेश से इन्हें पाँच वर्ष बाद भी परिवर्तित या समाप्त किया जा सकता था।

कृष्णमाचारी समिति का प्रतिवेदन और वित्तीय एकीकरण (Financial Integration)—अक्टूबर १९४८ में श्री वी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में नियुक्त एक समिति को भाग 'ख' राज्यों के वित्तीय एकीकरण की समस्या की जाँच करके उस पर रिपोर्ट देने का काम सौंपा गया। समिति ने जम्मू काश्मीर तथा हैदराबाद को छोड़कर सभी भाग 'ख' राज्यों के विषय में विचार किया। इन दोनों राज्यों की समस्या बाद में विचार करने के लिए छोड़ दी गई थी। कृष्णमाचारी समिति का मत था कि भाग 'ख' राज्यों का क्रमशः वित्तीय एकीकरण न होकर सभी आवश्यक बातों में अप्रैल सन् १९५० तक ही हो जाय। केवल कुछ संक्रमण कालीन व्यवस्थाओं के क्रियान्वय के लिए १० वर्षों की अवधि दी गई जिससे वित्तीय एकीकरण सुविधाजनक सोपानों में बाँटा जा सके और सहसा परिवर्तन से उत्पन्न कठिनाइयों का सामना न करना पड़े।

समिति के अनुसार एकीकरण का मूल तत्व यह था कि भाग 'ख' राज्यों का भी संघ से वही प्रशासनिक एवं वित्तीय सम्बन्ध स्थापित हो जाय जो भाग 'क' राज्यों का है। अभी तक भाग 'ख' राज्यों को अपने क्षेत्र में संघ और राज्य दोनों की शक्तियां तथा राजस्व-स्रोत प्राप्त थे। अतः एकीकरण के लिए इन राज्यों के कार्यों और राजस्व स्रोतो का विभाजन करके उनके संघीय भाग को संघ सरकार को हस्तातरित कर देना आवश्यक था। एकाएक ऐसा करने से कठिनाई व गड़बड़ी उत्पन्न होने की आशंका थी। अतः इस कार्य को १० वर्षों में क्रमशः पूरा करने की व्यवस्था रक्खी गई। नये संविधान के अनुसार इन राज्यो की जो सम्पत्ति संघीय क्षेत्राधिकार में आवे वह संघ सरकार के कब्जे मे हो लेकिन उसके लिए संघ सरकार को कोई मुआवजा नही देना था क्योंकि वह इस सम्पत्ति को राज्यो से खरीद नही रही थी। वह तो केवल उस संघीय सम्पत्ति का जो उस समय तक राज्यो के अधीन थी, एकत्रीकरण मात्र था।

एकीकरण योजना की विस्तार की बाते इस प्रकार थी—

प्रथम, १ अप्रैल १९५० से संघ सरकार को भाग 'ख' राज्यों में आयकर वसूल करने की व्यवस्था की गई। भाग 'ख' राज्यो मे आयकर की दर उस समय तक बहुत कम थी। उसे दो या तीन बार में, शेष भारत मे प्रचलित आयकर की दरो के बराबर लाने की व्यवस्था रक्खी गई। आयकर के वितरण के सम्बन्ध मे भाग 'ख' राज्यों के लिए भी वही सिद्धान्त माने गये जो भाग 'क' राज्यो के लिए थे। परन्तु संक्रमण काल में जब तक इन राज्यो के आयकर की दर भाग 'क' राज्यो की दर से कम रहे, उसके वितरण मे तदनुसार ही विभिन्नता रक्खी गई।

दूसरे, राजस्थान तथा मध्य भारत को छोड़कर अन्य भाग 'ख' राज्यो में १ अप्रैल सन् १९५० से सीमा कर समाप्त कर दिया गया। राजस्थान तथा मध्य भारत में इसको शनैः-शनैः समाप्ति होने की व्यवस्था की गई।

तीसरे, भाग 'ख' राज्यो के अधीन सभी संघीय सेवाएँ और विभाग तथा उनसे होने वाली आमदनी संघ सरकार के हाथो मे चली गई। इस प्रकार सीमा, रेल, डाक और तार विभाग (तिर्वांकुर कोचीन के अतिरिक्त), तथा राज्यों की सेनाएँ आदि संघ सरकार को हस्तातरित कर दिये गये। भूतपूर्व देशी नरेशों की निजी वृत्ति (Privy Purse) के सम्बन्ध मे समिति ने अपना कोई मत नही दिया, क्योकि वह एक राजनीतिक प्रश्न था। चौथे, इस वित्तीय एकीकरण के फलस्वरूप कुछ राज्यो को घाटा होने की सम्भावना थी क्योंकि उनकी आय के मुख्य साधन संघीय सूची में लिखित स्रोतो में से थे। फलतः समिति ने इन घाटों को पूरा करने की भी सिफारिशें कीं। घाटे की पूर्ति की

यह व्यवस्था रक्खी गई कि अगले पाँच वर्षों तक संघीय सरकार घाटे की पूर्ति के बराबर धनराशि इन राज्यों को देती रहे अथवा संघीय आय के विभाज्य अंश में से इन्हे इनका भाग निश्चित रूप से (Guaranteed) देती रहे। इन दो उपायों में से जिससे इन राज्यो को अधिक धन मिल सके, उसी का अनुसरण आवश्यक रखा गया। पाँच वर्ष बाद सहायता की राशि क्रमशः घटती जाकर १० वें वर्ष में प्रारम्भ होने वाली राशि का ६०% अथवा संघीय आय के विभाज्य अंश मे सम्बन्धित राज्य के भाग के बराबर (जो भी अधिक हो) ही रह जायगी। आतरिक सीमा कर की समाप्ति से होने वाली क्षति की पूर्ति स्वयं ये राज्य ही विक्रय कर आदि लगा कर करेंगे।

वित्तीय एकीकरण से यदि किसी राज्य को लाभ ही हो तो वह लाभ उस राज्य के पास ही रहेगा। उसमें से संघ कोई भाग नही माँग सकता।

कृष्णमाचारी समिति की ये सिफारिशे भारत-सरकार ने स्वीकार कर ली और १ अप्रैल १९५० से जम्मू-काश्मीर के अतिरिक्त अन्य राज्यो का संघ के साथ वित्तीय एकीकरण हो गया। बाद मे मई सन् १९५४ के राष्ट्रपति के आदेश द्वारा जम्मू और काश्मीर राज्य का भी भारत के साथ वित्तीय एकीकरण हो गया।

पुनर्गठन और उसके उपरान्त—राज्यो के पुनर्गठन तथा कई पुराने राज्यों के मिट जाने से वित्त आयोग द्वारा राज्यो को दी जाने वाली आर्थिक सहायताओं और आय तथा चुङ्गी करो के वितरण के प्रतिशतो का पुनर्निर्धारण आवश्यक हो गया। राज्य पुनर्गठन कानून १९५६ की चतुर्थ अनुसूची में निहित नियमों द्वारा १९५६-५७ के वित्तीय वर्ष के लिए यह व्यवस्था अस्थायी तौर पर की गई। इसी बीच जी० सथानम के सभापतित्व में द्वितीय वित्त आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा कर दी गई जो कि स्थिति का पुनर्निरीक्षण करके अगले पाँच वर्षों के लिए सिफारिशें दें।

द्वितीय वित्त आयोग (Finance Commission) की रिपोर्ट नवम्बर १९-५७ मे प्रकाशित हुई। इसकी सिफारिश थी कि आयकर की विभाज्य राशि (divisible pool) मे राज्यो का भाग ५५ प्रतिशत से बढाकर ६० प्रतिशत कर दिया जाय। विभाज्य राशि का वितरण ९० प्रतिशत जनसंख्या के और १० प्रतिशत वसूली (Collection) के आधार पर किया जाय।

इसके अतिरिक्त वित्त आयोग ने निम्नलिखित अन्य सिफारिशें की—

(१) दियासलाई, वनस्पति और तम्बाकू के उत्पादन करके अतिरिक्त काफी, चाय, चीनी, कागज और वनस्पति तेल पर के उत्पादन करों की आय का भी २५ प्रतिशत राज्यों को दिया जाय।

(२) आसाम और बिहार को ७५ लाख वार्षिक, उड़ीसा को १५ लाख वार्षिक और पश्चिमी बंगाल को १½ करोड़ वार्षिक अनुदान जो जूट कर के बदले मिलता था,

३१ मार्च १९६० तक जारी रक्खा जाय। इसके बाद उनको जो सामान्य अनुदान (general grant in aid) मिलती है उस पर पुनर्विचार किया जाय।

(३) १४ में से ११ राज्यों को स्थायी अनुदान (Substantive grant) दिया जाय जो इस प्रकार हैं— आंध्र ४०० लाख, आसाम ३७५ लाख, बिहार ३५० लाख, केरल १७५ लाख, मध्य प्रदेश ३०० लाख, मैसूर ६०० लाख, उडीसा ३२५ लाख, पंजाब २२५ लाख, राजस्थान २५० लाख, पश्चिमी बंगाल ३२५ लाख और जम्मू और काश्मीर २०० लाख, वार्षिक।

(४) उत्तराधिकार सम्पत्ति कर (Estate duty) का १ प्रतिशत संघीय भू-भागों के लिए रख कर शेष राज्यों में वितरण कर दिया जाय। इसमें जितना कर अचल सम्पत्ति से आता हो वह उस अनुपात से वितरित होगा जो विभिन्न राज्यों में स्थित ऐसी सम्पत्ति का अनुपात हो और शेष जनसंख्या के आधार पर।

(५) रेल-भाड़ा कर का ½ प्रतिशत सङ्घीय भू-भागों के लिए केन्द्र रख ले और शेष राज्यों में वितरित कर दिया जाय।

(६) मिल के बने कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर जो अतिरिक्त उत्पादन कर लगाया जाय उसमें से राज्यों को प्रथम तो उतना दिया जाय जितना उन्हें इन वस्तुओं पर बिक्री-कर न लगाने से हानि होती हो और इसके बाद जो बच रहे उसमें से १ प्रतिशत सङ्घीय भू-भागों और १½ प्रतिशत काश्मीर के लिए अलग करके, शेष को राज्यों में निश्चित अनुपात में बांट दिया जाय। इस अनुपात के प्रतिशत अगले पृष्ठ के कोष्ठक में दिये हुए हैं।

(७) राज्यों ने जो केन्द्रीय सरकार से ऋण लिया है उसे दो समूहों में एकत्र करके उसके ब्याज आदि के विषय में भी कुछ छूट दी गई है।

भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है। इनके फलस्वरूप राज्यों को अब केन्द्र से ९३ करोड़ वार्षिक के स्थान में १४० करोड़ वार्षिक मिलेगा और ५ करोड़ वार्षिक की छूट ऋणों के भी सम्बन्ध में मिलेगी। इसके अतिरिक्त धनराशि की सहायता से वे द्वितीय पंचवर्षीय योजना को पूरी कर सकेंगे, ऐसी आशा की जाती है।

भूतपूर्व देशी नरेशों के निजी व्यय की राशियों का भुगतान—जिन राज्यों या रियासतों के भूतपूर्व नरेशों से भारत सरकार संविधान आरम्भ होने के पूर्व आयकर मुक्त धनराशियों के देने का लिखित समझौता कर चुकी है, उन्हें वे धनराशियां संघीय कोष में से दी जायेंगी, परन्तु इन नरेशों की भूतपूर्व रियासतों अथवा उन राज्यों को जिनमें से रियासतें अब भी सम्मिलित हैं, नरेशों को निजी वृत्ति के रूप में दी जाने वाली राशियों को पूर्णतः या अंशतः सङ्घ सरकार को देना पड़ेगा। विभिन्न

द्वितीय वित्तीय आयोग की सिफारिशों के सारांश का कोष्ठक

	आयकर का भाग	केन्द्रीय उत्पदान कर का भाग	२७३ अनु० के अनुसार अनुदान	२७५ अनु० के अनुसार स्थायी अनुदान	उत्तराधिकार सम्पत्ति कर का भाग	रेल भाडा कर का भाग	अतिरिक्त उत्पादन कर: निश्चित आय	अतिरिक्त उत्पादन कर: शेष का वितरण
राज्यों का भाग	६०%	२५%	—	—	९९%	९९·७५%	—	९७·७५%
वितरण	प्रतिशत	प्रतिशत	लाख रु०	लाख रु०	प्रतिशत	प्रतिशत	लाख रु०	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	८·१२	९·३८	—	४००	८·७६	८·८६	२३५	७·८१
आसाम	२·४४	३·४६	७५·००	३७५	२·५३	२·७१	८५	२·७३
बिहार	९·९४	१०·५७	७२·३१	१५०	१०·८६	९·३६	१३०	१०·०४
बम्बई	१५·९७	१२·१७	—	—	१३·५२	१६·२८	९६०	१७·५२
केरल	३·६४	३·८४	—	१७५	३·७६	१·८१	९२	३·१५
मध्य प्रदेश	६·७२	७·४६	—	३००	७·३०	८·३१	१५५	७·१६
मद्रास	८·४०	७·५६	—	—	८·४०	६·४६	२८५	७·७४
मैसूर	५·१४	६·५२	—	६००	५·४३	४·४५	१००	५·१८
उड़ीसा	३·७३	४·४६	१५·००	३२५	४·१०	१·७८	८५	३·२०
पंजाब	४·२४	४·५९	—	२२५	४·५२	८·११	१७५	५·७१
राजस्थान	४·०९	४·७१	—	२५०	४·४७	६·७७	९०	४.३२
उत्तर प्रदेश	१६·३६	१५·९४	—	—	१७·७१	५८·७६	५७५	१७·१८
पश्चिमी बंगाल	१०·०८	७·५९	१५२·६९	३२५	७·३७	६·३१	२८०	८·३१
जम्मू और काश्मीर	१·१३	१·७१	—	२००	१.२४	—	—	—

भाग 'ख' राज्य इस सम्बन्ध में कितना और कब तक दें इसका निश्चय संविधान के २७८ वें अनुच्छेद के अनुसार किये गये समझौतो के अन्तर्गत राष्ट्रपति के आदेश द्वारा होता ?[1] कृष्णमाचारी समिति ने इसे राजनीतिक प्रश्न मान कर इसके सम्बन्ध मे अपना कोई मत नही दिया।

संघ और राज्यों की एक दूसरे के करों से छूट—सङ्घ की सम्पत्ति राज्यों के करों से सामान्यत: मुक्त है। इसी प्रकार राज्यों की सम्पत्ति भी सङ्घ के करों के सामान्यत: मुक्त हैं। तथापि, सङ्घ की जिस सम्पत्ति पर राज्य संविधान के प्रारम्भ होने के पूर्व से कर लगा रहे हैं, उस पर वे अब भी कर लेते रहेंगे तथा संसद की विधि द्वारा दी गई अनुमति से अन्य संघीय सम्पत्ति पर भी। राज्य यदि ऐसा कोई व्यापार या व्यवसाय करता है वह शासन के कृत्यों के प्रसंग में नही है तो संघ उस पर कर लगा सकता है।

राज्यों के कुछ विशिष्ट करों के विषय में प्रतिबन्ध और छूटें—भारत के आयात-निर्यात व्यापार के हित तथा अन्तर्राज्य व्यापारिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से राज्यों को अपनी सीमा के बाहर वस्तुओं के क्रय विक्रय अथवा अन्तर्राज्य व्यापार-वाणिज्य के सिलसिले में किये गये क्रय-विक्रय पर कर लगाने का अधिकार नही है। जिन वस्तुओं को संसद जीवन की आवश्यक सामग्रियाँ घोषित कर दे, उन पर राज्य तब तक कर नही लगा सकते जब तक तत्सम्बन्धी पारित विधेयक, सुरक्षित रखे जाने के बाद, राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न कर ले। भारत सरकार के प्रयोग में आनेवाली बिजली के क्रय-विक्रय पर भी राज्य संसद की विधि द्वारा नियत प्रतिबन्धों के अन्तर्गत ही कर लगा सकते हैं।[2] अन्तराज्यिक नदियों या नदी घाटियो (River-Valley) के विनिमय या विकास के लिए संस्थापित अधिकारियो द्वारा उत्पादित, संगृहीत, उपभुक्त वितरित या बिक्री की हुई बिजली या जल पर भी राज्य सरकारें तब तक कर नही लगा सकती जब तक तत्सम्बन्धी विधेयक सुरक्षित रखे जाने के बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति न प्राप्त कर ले।[3]

भारत-सरकार की ऋण लेने की शक्तियाँ—भारत सरकार भारतीय संचित निधि की साख पर संसद की विधि द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर ऋण ले सकती है।[4] वह राज्य सरकारों को भी दे सकती है अथवा संसद द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर राज्यों द्वारा लिए जाने वाले ऋणो की प्रत्याभूति (Guarantee) कर सकती है ?[5] भारत सरकार देश-विदेश, जहाँ से चाहे वहाँ से ऋण ले सकती है।

---

[1] अनु० २८५ और २८६, [2] अनु० २८७, [3] अनु० २२८, [4] अनु० २९२, [5] अनु० २९३ (२)

राज्यों के ऋण लेने की शक्तियाँ—राज्य विधान-मण्डल की विधि द्वारा निर्धारित सीमा के अन्तर्गत राज्य-सरकारें भी अपनी संचित निधि की साख पर ऋण ले सकती हैं। राज्यों को विदेशों से ऋण लेने का अधिकार नहीं है। यदि किसी राज्य ने पहले से ही केन्द्रीय सरकार से ऋण ले रखा है या कुछ ऐसे ऋण ले रखे हैं जिनकी प्रत्याभूति भारत सरकार ने दे रखी है, तो उन्हें और ऋण लेने के लिए भारत-सरकार की पूर्वानुमति प्राप्त करनी आवश्यक है।[1]

स्थानीय वित्त-व्यवस्था और संविधान

स्थानीय संस्थाओं के हित के लिए संविधान में वृत्तियों, व्यवसायों, व्यापारों तथा नौकरियों आदि पर कर लगाने (Impose) की अनुमति दी गई है। इस कर की व्यवस्था करने वाली राज्य की विधि राज्य इस आधार पर अवैध घोषित नहीं की जा सकती है कि व्यवसाय आदि पर के कर का सम्बन्ध आय-कर से है। तथापि वृत्ति या व्यवसाय कर के रूप में किसी एक व्यक्ति या करदाता (Assessee) से २५०) वार्षिक से अधिक नहीं लिया जा सकता। यदि कोई स्थानीय संस्था संविधान प्रारम्भ होने के पूर्व से ही इस अधिकतम राशि से अधिक दर पर व्यवसाय कर लगा रही हो तो वह तब तक ऐसा करती रह सकती है जब तक संसद इसके प्रतिकूल कोई विधि नहीं बनाती है ?[2]

संविधान ने ऐसे समस्त करों, शुल्कों, दरों या फीसों को बना रहने दिया है जो राज्य-सरकारें या स्थानीय संस्थाएँ संविधान के प्रारम्भ होने के पहले से लगाती चली आ रही हैं। ये कर आदि उस समय तक चलते रहेंगे जब तक संसद इनके प्रतिकूल कोई विधि निर्मित नहीं करती। इन करों आदि के लागू होने पर इस बात से कोई बाधा नहीं पड़ेगी कि अब वे संघ-सूची में सम्मिलित कर लिये गये हैं।।[3] संविधान की इस व्यवस्था के आधार पर स्थानीय संस्थाएँ अन्त्य कर (Terminal Tax), यात्री कर (जो रेल भाड़े के साथ ले लिया जाता है), हैसियत कर[4] (जहाँ वह आय के आधार पर लगाया जाता है) आदि अब भी लगा रही हैं। अब ये संघ सूची के विषय हैं और यदि संविधान में उपरोक्त छूट न दी गई होती तो वे स्थानीय संस्थाओं (Local Bodies) के हाथ से निकल गये होते।

तृतीय वित्त आयोग—१९६० में तृतीय वित्त आयोग की नियुक्ति की गई। लिखने के समय तक (मार्च १९६१) इसकी प्रारंभिक कार्यवाही ही चल रही थी और इसके निर्णय प्रकाशित न हुए थे।

---

[1]अनु० २९३ (१) और (२), [2]अनु० २७६, [3]अनु० २७७, [4]अनु० २७७

भारत में राजनीतिक दल | अध्याय १४

राजनीतिक दल और प्रजातंत्र—पारिभाषिक अर्थ में से राजनीतिक दलो का अस्तित्व प्रजातंत्र ही में संभव है। राजनीतिक दल से हमारा आशय ऐसे संगठन से है जिसके सदस्यो के राजनीतिक सिद्धान्त या लक्ष्य समान हो और जो उन सिद्धान्तो और लक्ष्यो की पूर्ति के लिए, संवैधानिक साधनो द्वारा कार्य करते हो। राजनीतिक समूह या दल अप्रजातात्रिक शासन-व्यवस्था (Regimes) मे भी पाये जाते हैं परन्तु उस दशा मे उसकी कार्य-पद्धति विशुद्ध राजनीतिक दलो की कार्य-पद्धति से भिन्न होती है। अप्रजातन्त्रीय व्यवस्था के राजनीतिक समूहो का प्रमुख उद्देश्य प्रधानतया नकारात्मक होता है अर्थात् सत्तारूढ़ सरकार को पदच्युत करना। ये सरकार-विरोधी लोगो की समष्टि मात्र होते हैं तथा उन मे समान उद्देश्य तथा रचनात्मक नीति वाले शुद्धि राजनीतिक दलो की सी एकता नही होती। अप्रजातंत्रीय सरकार को सवैधानिक साधनो से पदच्युत करने का कोई उपाय न होने के कारण ऐसे समूहो को अन्ततोगत्वा असंवैधानिक साधनो या प्रत्यक्ष प्रहार की नीति अपनानी पड़ती है। सरकार भी उन्हे शत्रुभाव से देखती तथा उन्हे नष्ट करने का प्रयत्न किया करती है।

भारतीय राजनीतिक दलों का विकास—भारत में राजनीतिक दलों के विकास का इतिहास मुख्यतः भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास है। हमारे यहाँ की जनता और नरेशों ने विदेशी शासन को कभी भी नतमस्तक होकर स्वीकार नही किया। ज्यो ही उन्होंने समझा कि वे दासता के पाश से जकड़े जा रहे हैं त्यों ही उन्होंने विदेशियों को निकाल देने के प्रयत्न आरंभ कर दिये। इस दिशा में सबसे पहले नरेशो और शासकों ने नेतृत्व ग्रहण किया। प्लासी के युद्ध के कुफल को उलटने की चेष्टा करने वाले मीर-कासिम से प्रारंभ होकर विदेशी राज्य को उखाड़ फेकने के लिए निरन्तर प्रयत्न होते रहे। मराठों, जाटो और सिखों ने एक के बाद विदेशियो की प्रभुता को चुनौती दी और उसका विस्तार रोकने की चेष्टा की। जब नरेश वर्ग अंतिम प्रयत्न करके परास्त हो गया और उसका स्वतंत्र अस्तित्व जाता रहा तो जनता तथा सेना ने स्वातन्त्र्य संग्राम को अपने हाथ में लिया और फलस्वरूप सन् ५७ का भीषण विद्रोह हुआ। इन प्रयत्नों की असफलता

के कारण नये प्रकार के नेतृत्व और कार्य-पद्धति की आवश्यकता पड़ी। स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व शासकों के हाथ से निकल कर बुद्धिजीवी वर्ग के हाथ मे चला गया क्योंकि इस वर्ग में पुरानी पद्धति की असफलता के कारणों को समझने और परिस्थितियों के अनुकूल नई पद्धति का निर्माण करने की क्षमता थी।

नेताओं के इस नये वर्ग मे मुख्यत: अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त तथा यूरोप के इतिहास तथा राजदर्शन से परिचित लोग थे। इन लोगों ने पाश्चात्य शिक्षा, इतिहास और राजनीति से यह सीखा था कि संगठन और जन-आन्दोलन के अस्त्रों द्वारा ही वर्तमान समय के निरंकुश शासकों को हटाना सम्भव है। फलतः इन नेताओं ने यही मार्ग अपनाया। इस नई पद्धति के विकसित होने मे कुछ समय लगा और १९१९-२० में महात्मा गांधी के राजनीतिक क्षेत्र में अवतीर्ण होने तक वह पूर्णता को प्राप्त न कर सकी थी, परन्तु यह निस्सन्देह है कि इस पद्धति का अनुसरण सिपाही-विद्रोह के शीघ्र बाद से ही प्रारंभ हो चुका था।

लोक-संगठन का प्रारंभिक रूप पूना की सार्वजनिक सभा, मद्रास की महाजन-सभा, कलकत्ते के इंडियन एसोसिएशन आदि सरीखे स्थानीय संगठनों का था, परन्तु शीघ्र ही एक अखिल भारतीय संगठन की अत्यन्त आवश्यकता जान पड़ने लगी और फलतः सन् १८८५ मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई। प्रारंभ में कांग्रेस की स्थापना का अभिप्राय किसी राजनीतिक दल की सृष्टि न होकर उससे देश की एक प्रकार की गैरसरकारी संसद का सा काम लेना था। अतः इन दिनों उसका काम भारत मे ब्रिटिश शासन की नर्म आलोचना करना और सुधारविषयक कुछ प्रस्ताव पारित करना मात्र था। इस समय ब्रिटिश शासक कांग्रेस को जनता के भावों और विचारों को जानने का एक उपयोगी साधन समझ कर उससे सहानुभूति रखते और उसका समर्थन भी करते थे। परन्तु कुछ ही समय बाद कांग्रेस की आलोचनाओं और माँगों का पहले वाला स्वरूप न रह गया और फलतः सरकार का रुख भी उसके प्रति बदल गया। अब सरकार कांग्रेस के प्रभाव को घटाने के लिए उसके प्रतिद्वन्द्वी संगठनों को प्रोत्साहन देने लगी। कांग्रेस का विरोध करने वालों में देश के सम्पत्तिशाली वर्गों के कुछ लोग और सर सैयद अहमद खाँ तथा अलीगढ की मुस्लिम राजनीतिक विचारधारा के अनुयायी मुसलमान थे।

आगे चल कर कांग्रेस मे ही दो दल हो गये। इन दलों मे लक्ष्य विषयक मतभेद न हो कर कार्यपद्धति विषयक मतभेद था। एक ओर तो दक्षिणपंथी उदार दल था जो कांग्रेस के समय-समय पर होने वाले अधिवेशनों मे तत्कालीन भाषण देने और प्रस्ताव पारित करने की वर्तमान पद्धति को ही उपयुक्त समझते थे। दूसरी ओर वामपन्थी या उग्रतावादी थे जो इस प्रकार की कार्य-पद्धति को प्रभावहीन 'राजनीतिक भिखमगापन' कहते थे और संगठित जन आन्दोलन की आवश्यकता पर जोर देते थे। सन् १९०७ में

सूरत अधिवेशन के अवसर पर कांग्रेस के इन दो दलों में खुले तौर से फूट पड़ गई। नरम और उग्रदल अलग-अलग हो गये। कुछ समय बाद सन् १६१६ के लखनऊ अधिवेशन में अल्पकाल के लिए दोनों पक्षों में पुनः एकता हो गई किन्तु महात्मा गांधी के भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में आते ही तथा उनकी प्रत्यक्ष कार्रवाई की योजना के सन् १६२० में नागपुर के अधिवेशन में स्वीकृत होते ही, दोनों पक्ष सदा के लिए अलग हो गये। दक्षिण-पन्थियों ने एक नये राजनीतिक दल की स्थापना की और उसका नाम 'लिबरल पार्टी' रखा। सन् १६०६ मे अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और उसके बाद मुसलमानों की ओर से कांग्रेस का खुला और संगठित विरोध होने लगा। मुसलमानों की इस साम्प्रदायिक संस्था की स्थापना की हिन्दुओं मे भी प्रतिक्रिया हुई और उनके एक वर्ग ने भी एक प्रतिद्वन्द्वी साम्प्रदायिक संस्था की स्थापना कर डाली। यह थी हिन्दू महासभा। प्रारंभ में बहुत वर्षों तक हिन्दू महासभा अत्यन्त निर्बल थी और उसका संगठन भी ढीला-ढाला था। कांग्रेसविरोधी सम्पत्तिशाली वर्ग मे स्वार्थों की इतनी अधिक विभिन्नता थी कि वे किसी एक दल में मिल-जुल कर काम नही कर सकते थे। अतः ये अनेक छोटे-छोटे वर्गीय और स्थानीय संगठनों के द्वारा काम करते थे जैसे जमींदारों, एंग्लो-इंडियनों, यूरोपियन व्यापारियो आदि के संघो द्वारा।

सन् १६०६ के बाद ३० वर्षों तक कांग्रेस नरम दल या लिबरल पार्टी, मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा ही भारतीय राजनीतिक मत के विभिन्न पक्षो के मुख्य प्रतिनिधि समझे जाते थे। सन् १६१६ और १६३५ ई० के सुधारो से उत्पन्न शासनाधिकार तथा मन्त्रित्व और अन्य उच्चतर पदो की प्राप्ति के प्रलोभन से भारतीय राजनीतिक-क्षेत्र में बहुत छोटे-छोटे दल बरसाती मेढकों की तरह पैदा हो गये। ये राजनीतिक दल स्थानीय, साम्प्रदायिक या किसी वर्ग अथवा श्रेणी विशेष के व्यक्तियों के हितों के आधार पर बने थे। मुसलिम कान्फ्रेंस, परिगणित जातियों के अनेक दल, मद्रास की जस्टिस पार्टी, बंगाल की कृषक लोक प्रजा पार्टी, यू० पी० की नेशनल एग्रीकल्चरिस्ट पार्टी, पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी, बम्बई और मध्य प्रदेश की डेमोक्रेटिक स्वराज पार्टी आदि ऐसे दलों के कुछ उदाहरण हैं। परन्तु ये सब दल अल्पजीवी सिद्ध हुए और इनमे से बहुतेरे शीघ्र लुप्त हो गये।

सन् १६३५ के बाद वामपंथी दलों के विकास का युग आया। इनमें से साम्यवादी दल की स्थापना तो सन् १६२४ में ही हो चुकी थी परन्तु १६४३ ई० तक सरकार ने इसे गैरकानूनी घोषित कर रखा था। सन् १६४३ के बाद जब रूस द्वितीय महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर सम्मिलित हो गया और इस दल ने इस कारण सरकारी युद्धनीति का समर्थन करना प्रारंभ किया, तभी इस पर से प्रतिबंध हटा। समाजवादी दल की स्थापना १६३४ ई० में हुई थी परन्तु यह दल कई वर्षों तक कांग्रेस के अन्दर ही काम करता रहा

और मार्च सन् १९४८ के बाद उससे अलग होकर स्वतंत्र दल बना। स्वधीनता प्राप्ति के बाद कांग्रेस का सर्वदलीय रूप जाता रहा और उसने एक सुसंबद्ध दल के रूप में कार्य करना प्रारंभ किया। समाजवादियों और साम्यवादियो के अतिरिक्त नाना नामधारी बहुत से अन्य वामपंथी दल भी उत्पन्न हुए, जैसे रिपब्लिकन सोशलिस्ट दल, फारवर्ड ब्लाक, पीजेंट एण्ड वर्कर्स पार्टी इत्यादि। ये सब दल सन् १९३७ ई० के बाद बने। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से ही देश में एक आतंकवादी दल भी था जिसकी शाखाएँ बंगाल, पंजाब आदि में फैली थी। सन् १९३७ में प्रान्तों मे कांग्रेसी मंत्रिमंडलो के बन जाने के बाद इस दल ने अपने को समाप्त कर दिया।

नये सविधान के अन्तर्गत हुए प्रथम सार्वजनिक निर्वाचनो के अवसर पर कांग्रेस दल से असन्तुष्ट और उसकी नीति मे मौलिक परिवर्तन चाहने वाले कुछ अन्य व्यक्तियो ने आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता मे कृषक-मजदूर प्रजा पार्टी नाम का एक नया दल बनाया। बाद मे इस दल मे समाजवादी भी मिल गये और इस संयुक्त दल को प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का नाम दिया गया।

विभिन्न राजनीतिक समुदायों और दलों के इस संक्षिप्त इतिहास से प्रकट है कि भारतीय जनता स्वभावतः अपने देश मे फ्रांस की भाँति बहुत से राजनीतिक दलों का होना अच्छा नही समझती। यद्यपि समय-समय पर यहाँ छोटे-छोटे दल बनते रहे और उन्होने कुछ दिनो काम भी किया, परन्तु वे चिरस्थायी न हो सके। इसके विपरीत जिन दलो का अखिल-भारतीय संगठन, स्पष्ट नीति तथा सिद्धान्त थे, उनसे इस देश के निवासी प्रभावित हुए। ऐसे बडे और सिद्धान्तमूलक दलो ने अद्भुत जीवन-शक्ति का परिचय दिया। इस बात से यह अनुमान पुष्ट होता है कि कालान्तर मे भारत मे भी इगलैंड और अमेरिका की ही भाँति दो ही सुदृढ राजनीतिक दल रह जायँगे।

विभिन्न दलों के संगठन और सिद्धान्त

१. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस—देश के राजनीतिक दलो मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस सदैव से सबसे बड़ी, सर्वोत्तम रूप से संगठित और सर्वाधिक शक्तिशाली दल रही है और आज भी है। केन्द्रीय ससद और राज्यो के विधान मण्डलो के भीतर कांग्रेस बाहर से भी अधिक शक्तिशाली है क्योकि उनमे कोई ऐसा शक्तिशाली अन्य दल है ही नही जो कांग्रेस का सक्षम विरोध कर सके। केन्द्र तथा अधिकाश राज्यो मे भी कांग्रेस ही के मन्त्रिमडल हैं।[1] समाजवादियो तथा अन्य सगठित दलो को अपने से अलग कर

[1] ये पक्तियाँ लिखते समय (जुलाई १९५४) त्रिवांकुर-कोचीन मे सन् १९५४ मे हुए सार्वजनिक चुनावो के फलस्वरूप प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का मन्त्रिमंडल कांग्रेस दल के समर्थन से पदारूढ़ है।

देने के बाद कांग्रेस केवल समान नीति में विश्वास रखने वालों की एक दल बन गई है। विदेशी राज्य के विरुद्ध संघर्ष करते समय कांग्रेस राष्ट्रीय जनमत का एक प्रकार का संयुक्त मोर्चा थी, परन्तु अब वह एक राजनीतिक दल ही रह गई है।

कांग्रेस की नीति और कार्य पद्धति—स्वाधीनता के बाद कांग्रेस का लक्ष्य "भारत की जनता का कल्याण और उन्नति तथा शांतिपूर्ण और न्यायोचित उपायों से देश मे एक ऐसे सहयोगमूलक राज्य की स्थापना करना है जिसका आधार राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की समानता, सभी को उन्नति के समान अवसर देना और विश्वशान्ति और विश्व बंधुत्व की स्थापना करना" है। यह लक्ष्य, आन्तरिक क्षेत्र मे, वर्ग-संघर्ष, वर्ग-युद्ध अथवा हिंसा या क्रान्ति के उपायो द्वारा सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन करने का विरोधी है। अतीत में कांग्रेस प्रत्यक्ष कार्रवाई (Direct Action) मे विश्वास करती थी। लेकिन अब लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना के उपरान्त, जब सरकार को जनता के मत से बदला जा सकता है, तो कांग्रेस नेता किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष कार्रवाई या जन-आन्दोलन को निषिद्ध कहने लगे हैं। आन्तरिक क्षेत्र मे 'सर्वोदय' अर्थात् सभी वर्गों, समुदायो और जनता के प्रत्येक अंग का कल्याण कांग्रेस की मूलभूत नीति है। कांग्रेस धनी और निर्धन या पूंजीपतियों अथवा श्रमिको के हितो मे किसी मौलिक विरोध के अस्तित्व मे विश्वास नही करती। इस बात में कांग्रेस का उन वाम-पक्षीय दलो से जो वर्ग-युद्ध अथवा वर्ग-अधिनायकत्व में विश्वास करते है, सैद्धान्तिक मत-भेद है। सिद्धान्त की बात तो दूसरी है, पर व्यवहार में निर्धन और शोषित वर्गों, विशेष कर किसानो, मजदूर और अछूत वर्गो की उन्नति की ओर कांग्रेस का सदैव प्रबल झुकाव रहा है। दूसरे, कांग्रेस असाम्प्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष राज्य की समर्थक है और कड़े विरोध के होते हुए भी उसे स्थापित भी किया है। तीसरे, देश के आर्थिक विकास के सम्बन्ध मे कांग्रेस किसी 'वाद' के फन्दे मे नहीं फंसी है। उसका मत है कि देश मे निजी और सार्वजनिक—दोनो प्रकार के उद्योगों के लिए सदैव स्थान रहेगा। अतः उसने पूंजीपतियो को १६४८ ई० मे आश्वासन दिया कि 'राष्ट्रीकरण' का प्रश्न तत्काल या शीघ्र नहीं उठाया जायगा। देश की आर्थिक उन्नति में विदेशी पूंजी के उपयोग को कांग्रेस उचित समझती है, परन्तु ऐसी शर्तो पर जिनसे पूँजी लगाने वालो और भारतवासियों दोनों को लाभ हो। कांग्रेस की कृषि-भूमि सम्बन्धी यह नीति है कि राज्य और भूमि जोतने-बोने वालो के बीच कोई मध्यस्थ वर्ग न रहे। फलतः उसने जमींदारी उन्मूलन की नीति अपनायी है। कांग्रेस की दृष्टि में सहकारिता के आधार पर कृषि ही भारत के विकास का लक्ष्य है। देश के कृषि सम्बन्धी और औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में कांग्रेस मे दो विचार-धाराओं के व्यक्ति हैं। एक पक्ष महात्मा गांधी के विचारो से प्रेरणा ग्रहण करके कहता है कि देश मे बड़ी-बड़ी मशीनो का प्रयोग तथा बड़े केन्द्रित उद्योगों की

स्थापना उन्हीं क्षेत्रों में होनी चाहिए जहाँ उनके बिना काम न चल सकता हो, अन्यथा वे शारीरिक श्रम तथा विकेन्द्रित कुटीर उद्योगों के आधार पर देश का आर्थिक विकास करना चाहते हैं। दूसरा पक्ष पाश्चात्य रीति से देश का उद्योगीकरण और कृषि-विकास करना चाहता है। वर्तमान प्रवृत्ति उद्योगीकरण तथा कृषि के यंत्रीकरण की तरफ ही अधिक है। खादी तथा अन्य कुटीर उद्योगों पर अपेक्षाकृत कम बल दिया जा रहा है।

अन्त में, विदेशी नीति के क्षेत्र में कांग्रेस विश्व-शान्ति तथा उसके साधन, संयुक्त राष्ट्र संघ, पश्चिमी राष्ट्रों के गुटों में से किसी भी एक में सम्मिलित न होकर तटस्थता की नीति, साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसे एशियायी देशों की मुक्ति तथा स्वतंत्र अस्तित्व और भारत तथा दक्षिण-पूर्वी ऐशिया के राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध की पुनः स्थापना की समर्थक है। तटस्थता की नीति का यह अर्थ है कि भारत आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की पोषक शक्तियों से सहयोग न करे। नेहरू सरकार की कोरिया सम्बन्धी नीति से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

कांग्रेस का संगठन—भूतकाल में कांग्रेस को मुख्यतः मध्य और निम्न वर्गों का समर्थन प्राप्त था जैसे दूकानदारों, व्यापारियों, वकीलों, नौकरी पेशे वालों तथा किसानों और मजदूरों आदि का। भारतीय उद्योगपति भी कांग्रेस की स्वदेशी नीति के कारण उसका समर्थन करते थे। सामन्त तथा जमींदार वर्ग कांग्रेस के विरुद्ध था क्योंकि कांग्रेस की किसानों की माँगों के समर्थन की नीति स्पष्टतः उनके हितों के प्रतिकूल थी। परन्तु अब कांग्रेस की प्रवृत्ति अधिकाधिक दक्षिणपंथी होती जा रही है जिससे उग्रतावादी क्षेत्रों में उसकी लोकप्रियता कम होती जा रही है।

कांग्रेस की सदस्यता दो प्रकार की है : प्रारम्भिक और सक्रिय। कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसकी आयु १८ वर्ष या इससे अधिक हो कांग्रेस का सदस्य बन सकता है। सदस्य बनने के लिए उसे इस आशय का लिखित वक्तव्य देना पड़ता है कि वह कांग्रेस के उद्देश्यों में विश्वास करता है। प्रारंभिक सदस्यों को चार आना वार्षिक चन्दा देना पड़ता है।

कोई भी प्रारंभिक सदस्य क्रियाशील या सक्रिय सदस्य बन सकता है। इसके लिए उसे इस आशय के एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ता है कि वह २१ वर्ष या इससे अधिक आयु का है, हाथ की कती-बुनी खादी अभ्यासतः पहनता है, मद्यपान नहीं करता, सब की समानता तथा सब को समान अवसर दिये जाने के सिद्धांत और अन्तर-साम्प्रदायिक एकता में विश्वास रखता है, कांग्रेस के नियमों के अनुसार सामाजिक और रचनात्मक कार्य करता है, तथा किसी साम्प्रदायिक या अन्य राजनीतिक दल का सदस्य नहीं है। सक्रिय

सदस्यों को एक रुपया वार्षिक और भी चन्दा देना पड़ता है। प्रारंभिक और सक्रिय सदस्यों के अधिकारों में महत्वपूर्ण अन्तर है। प्रारंभिक सदस्य यदि उनको सदस्यता कम से कम दो वर्ष की हो गई हो, तो प्रतिनिधियों के निर्वाचन में भाग ले सकते हैं और ग्राम या मुहल्ला कांग्रेस कमेटी के सदस्य चुने जा सकते हैं। लेकिन वे प्रतिनिधि या ग्राम और मुल्लाह् कांग्रेस कमेटियों से उच्चतर कांग्रेस कमेटियों के सदस्य नही चुने जा सकते। केवल सक्रिय सदस्य इन पदों पर निर्वाचित हो सकते हैं।

ग्राम या मुहल्ला कांग्रेस कमेटी कांग्रेस सगठन की आधारभूत इकाई (Basic (Unit) हैं। ऐसी कमेटी कम से कम ५०० की आबादीवाले प्रत्येक ग्राम या मुहल्ले अथवा ग्राम-समूहो या कई मोहल्लों के लिए बनाई जा सकती है। जिला और ग्राम कांग्रेस कमेटियों के बीच मे कांग्रेस कमेटियों का एक और वर्ग होना आवश्यक है। इस बीचवाले वर्ग की कमेटी का नाम और अधिकार क्षेत्र प्रदेश कांग्रेस कमेटियों द्वारा निर्धारित होती है। कांग्रेस संगठन के तृतीय सोपान पर जिला कमेटियाँ आती हैं और उनके भी ऊपर प्रदेश कमेटियाँ होती हैं।

ग्राम या मुहल्ला कांग्रेस समितियों के ऊपर प्रायः तालुका या तहसील कांग्रेस समितियाँ होती हैं। इनके भी ऊपर जिला समितियाँ और जिला समितियो के ऊपर प्रान्तीय कांग्रेस समितियाँ होती हैं। कांग्रेस के संगठन की दृष्टि से सम्पूर्ण देश २५ प्रदेशो या प्रान्तो में विभक्त है। इन प्रदेशो की सीमा संघान्तरित राज्यो की सीमा से भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश राज्य तीन कांग्रेसीय प्रदेशों में विभक्त है; महाकौशल, नागपुर और विदर्भ। प्रान्तीय कांग्रेस समितियों के ऊपर कांग्रेस का राष्ट्रीय या अखिल भारतीय संगठन होता है जो एक अध्यक्ष, एक कार्यकारिणी समिति, एक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति और कांग्रेस के खुले वार्षिक अधिवेशन से मिलकर बना है। इसके अतिरिक्त कांग्रेस की कई सहयोगी संस्थाएँ भी हैं जो उस से सम्बद्ध हैं।

कांग्रेस प्रतिनिधि—कांग्रेस सगठन के विभिन्न अंग एक दूसरे से जटिल रीति से सबद्ध हैं। प्रत्येक प्रदेश अपनी जनसंख्या के प्रत्येक लाख के पीछे वार्षिक कांग्रेस अधिवेशन मे एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये प्रतिनिधि यथासम्भव कम से कम एक लाख जनसंख्या और कम से कम ५०० प्रारंभिक सदस्यों वाले एक सदस्यीय भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश से कुछ पदेन और विनियुक्त (Co-opted) प्रतिनिधि भी होते हैं, जैसे कांग्रेस के भूतपूर्व सभी अध्यक्ष तथा संबद्ध संस्थाओं के प्रतिनिधि आदि।

प्रदेश कांग्रेस समितियाँ—प्रदेश कांग्रेस समिति मे ऊपर बतलाये हुए सभी प्रतिनिधि अर्थात् विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रो से चुने प्रतिनिधि और प्रदेश निवासी पदेन प्रति-

निधि होते हैं। इनके अतिरिक्त कांग्रेस के अध्यक्ष और भूतपूर्व अध्यक्ष जिस प्रदेश कांग्रेस समिति के अधिकार क्षेत्र में रह रहे हों, उसके सदस्य होते हैं।

प्रदेश कांग्रेस समिति अपने क्षेत्र के कांग्रेस-कार्य का संचालन करती है। यह अपना संविधान स्वयं ही बना सकती है परन्तु उसे अखिल भारतीय कांग्रेस संविधान के अनुकूल होना चाहिए तथा उसको कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की स्वीकृति की प्राप्ति होनी चाहिए। जब कोई प्रदेश समिति कांग्रेस संविधान के प्रतिकूल कार्य करती है तो कार्यकारिणी समिति उसे निलंबित करके उसके कार्यों को एक विशेष समिति (Ad hoc Committee) को सौंप सकती है।

जिला और माध्यमिक कांग्रेस समितियाँ—प्रान्तीय कांग्रेस समिति के अन्तर्गत प्रत्येक प्रान्त में जिला और माध्यमिक (Intermediate) समितियाँ होती है। इनका क्षेत्र प्रदेश कांग्रेस समिति निर्धारित करती है। इन समितियों के क्षेत्र में रहने वाले प्रदेश कांग्रेस समिति के सदस्य इनके भी पदेन (Ex Officio) सदस्य होते हैं।

अखिल भारतीय कांग्रेस समिति—अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में तीन प्रकार के सदस्य होते हैं: (१) निर्वाचित, (२) पदेन और (३) संबद्ध संस्थाओं के प्रतिनिधि। निर्वाचित सदस्यों को प्रत्येक प्रान्त के कांग्रेस प्रतिनिधि अपनी संख्या के अनुपात से अपने में से चुनते है। निर्वाचन अनुपातीय प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा होता है। सबद्ध सस्थाओं के प्रतिनिधि वे होते है जिन्हे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति उन संस्थाओं मे से चुने, किन्तु इनकी सख्या निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या के ५% से अधिक नहीं हो सकती। पदेन सदस्यो मे कांग्रेस के वर्तमान तथा सभी भूतपूर्व अध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष ही अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का अध्यक्ष होता है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति कांग्रेस के संविधान के अनुकूल नियम बना सकती है और यह नियम प्रदेश कांग्रेस समितियो सहित सभी अधीन कांग्रेस समितियो पर लागू होते हैं।

अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का कार्यालय—अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का अपना एक केन्द्रीय कार्यालय भी होता है। यह कार्यालय सचिवालय की भाँति कार्य करता है। पहले यह कार्यालय जहाँ कांग्रेस का तत्कालीन मन्त्री मुख्य सचिव रहता था उसी स्थान मे हुआ करता था। परन्तु सन् १६३० मे जब पण्डित मोतीलाल नेहरू ने अपना सुप्रसिद्ध निवास स्थान आनन्द भवन इस कार्यालय के लिए दे दिया तब से सन् १६४७ तक यह वहीं स्थिर रहा। परन्तु सन् १६४७ में इसे स्थायी रूप से दिल्ली में स्थानांतरित कर दिया गया। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के कार्यालय में लगभग १२ विभाग हैं अर्थात् सामान्य (General), लेखा (Accounts), संसदीय

(Parliamentary), संगठन (Organization), राजनीतिक और आर्थिक शोध (Political And Economic Research), श्रम (Labour) युवक (Youth), वैदेशिक सम्बन्ध (Foreign Relations), प्रकाशन, वाचनालय (Library), योजना और सेवादल (Planning And Seva Dal Deptts.) और समाचार पत्र सूचना विभाग (Press Information Bureau) । मुख्य सचिव सामान्य देख-रेख का कार्य करते हैं और उनके नीचे प्रत्येक विभाग का एक सचिव होता है जो उसके दैनिक कार्य का संचालन करता है । इस कार्यालय में ६० से अधिक कर्मचारी काम करते हैं । यह कार्यालय कांग्रेस बुलेटिन के अतिरिक्त कई पत्रिकाएँ, सूचना पुस्तिकाएँ तथा समय-समय पर पुस्तकें भी प्रकाशित करता रहता है ।

विषय समिति (The Subjects Committee)—कांग्रेस के अधिवेशन दो दिन पूर्व अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की विषय समिति के रूप में बैठकें होती है । विषय समिति का कार्य कांग्रेस अधिवेशन का कार्यक्रम तथा उसके समक्ष रक्खे जाने वाले प्रस्तावों के प्रारूप (Draft) तैयार करती है । यदि कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव हो गया होता है तो विषय समिति की बैठकों की अध्यक्षता भी वही करता है ।

कांग्रेस अध्यक्ष—पहले कांग्रेस अध्यक्ष का वार्षिक निर्वाचन हुआ करता था पर कांग्रेस ने विधान के एक नये संशोधन द्वारा उसकी अवधि २ वर्षों की कर दी है। कोई भी १० प्रतिनिधि मिल कर किसी प्रतिनिधि या किसी भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष का नाम अध्यक्ष पद के अभ्यर्थी के रूप मे प्रस्तावित कर सकते हैं । निर्वाचन वैकल्पिक (Preferential or Alternative) मत द्वारा होता है । निर्वाचित होने के लिए उम्मीदवार को समस्त शुद्ध मतों का कम से कम ५० प्रतिशत मिलना आवश्यक है । यदि प्रथम मत गणना में किसी भी उम्मीदवार को अपेक्षित मत संख्या नहीं मिलती तो सबसे कम मत प्राप्त उम्मीदवार का नाम हटा दिया जाता है और उसके मतो को उन पर लिखे द्वितीय विकल्पों के अनुसार विभिन्न उम्मीदवारो को हस्तांतरित कर दिया जाता है । यह प्रक्रिया उस समय तक बार-बार दुहराई जाती है जब तक किसी उम्मीदवार को अपेक्षित अर्थात् कम से कम ५० प्रतिशत बहुमत नही प्राप्त हो जाता । प्रत्येक मतदाता को मतपत्र पर उम्मीदवारों के नाम के सामने १, २, ३ आदि लिखकर अपने विभिन्न विकल्प (Preferences) प्रकट करना अनिवार्य है । जब केवल दो ही उम्मीदवार होते हैं तो मतों के इस प्रकार हस्तान्तरित किये जाने की आवश्यकता नही पड़ती । यदि कांग्रेस अध्यक्ष का आसन अकस्मात रिक्त हो जाय तो उसके लिए इसी पद्धति से पुनः चुनाव होता है; किन्तु यदि किसी कारण से यह सम्भव न हो तो अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ही अध्यक्ष को चुनकर रिक्त स्थान को पूर्ति कर सकती है ।

(Shadow Cabinet) का निर्माण करते हैं। दल के नेता के चुनाव की पद्धति भिन्न-भिन्न दलो मे अलग-अलग होती है। ब्रिटेन में लिबरल और मजदूर दलो में प्रतिवर्ष दल के बाह्य संगठन के सम्मेलन या अधिवेशन में नेता का चुनाव होता है। इसके प्रतिकूल अनुदार दल के नेता का वार्षिक निर्वाचन नही किया जाता। दल द्वारा एक बार चुन लिये जाने पर अनुदार दल का नेता अपने पद पर उस समय तक बना रहता है जब तक वह स्वेच्छा से या परिस्थितियों की विवशता के कारण उस पद से अलग न हो जाय। जब कोई दल सत्तारूढ़ होता है तो उसका नेता प्रधानमन्त्री तथा उसके अन्य मुख्य-मुख्य सदस्य मन्त्री बन जाते हैं। प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियो से बना हुआ मन्त्रिमण्डल ही दल के सत्तारूढ़ रहने के समय उसकी नीति तथा दाव-पेच निर्धारित करता है। जब दल-विरोधी पक्ष में होता है तो वही सब 'छाया मन्त्रिमण्डल' (Shadow Cabinet) बनाते हैं और अपने दल की नीति का संचालन करते हैं। मजदूर दल में मन्त्रिमण्डल के साथ ही दल की एक कार्यकारिणी समिति भी होती है जो दल के देशवाले बाह्य संगठन की और मन्त्रिमण्डल की नीतियों पर नियंत्रण व देख-रेख रखती है। यह कार्यकारिणी समिति मंत्रिमण्डल को बगल का स्थायी कांटा है और श्री रैमजे मैकडॉनल्ड के द्वितीय प्रधान मन्त्रित्व काल में इसी के कारण दल में फूट पड़ गई थी। नेता और मन्त्रिमण्डल के अतिरिक्त ब्रिटेन मे सत्तारूढ दल के चार 'सचेतक' (Whips) भी होते हैं, जिनका कार्य यह देखते रहना है कि प्रत्येक मत-विभाजन (Division) के समय संसद में अपने दल के इतने सदस्य उपस्थित रहें कि सरकार के पक्ष मे बहुमत बना रहे। ये सचेतक दल के नेताओ के निर्देशो को प्रत्येक सदस्य के पास पहुँचाते हैं और इस कार्य के लिए उन्हें भी मन्त्रियो ही की भाँति राजकोष से वेतन मिलता है। मुख्य सचेतक को भविष्य में मन्त्रि-पद का उम्मीदवार भी समझा जाता है। विरोधी दल मे प्रायः दो सचेतक होते हैं और उनको वेतन नहीं दिया जाता।

कांग्रेस का संसदीय संगठन लगभग ब्रिटेन के दलों जैसा है। राज्य विधान मण्डलों के नेता का चुनाव हर सार्वजनिक चुनाव के बाद होता है, परन्तु दल जब कभी किसी नये नेता को चुनना चाहे तभी चुन सकता है। केन्द्र में प्रारम्भ में पं० नेहरू को बिना किसी औपचारिक चुनाव के ही नेता मान लिया गया था। सन् १९४६ में उनको कांग्रेस दल के सार्वमान्य नेता की हैसियत से कार्य-कारिणी परिषद् का पुनर्गठन करने के लिए निमन्त्रित किया गया था और तभी से वे अपने उस पद पर बने हुए हैं। परन्तु अभी यह कहना कठिन है कि भविष्य के लिए उनका उदाहरण नजीर (Precedent) माना जायगा। नेता अर्थात् प्रधानमन्त्री या मुख्य मंत्री तथा मन्त्रिमण्डल के अतिरिक्त, कांग्रेस संसदीय दलों की, केन्द्र तथा राज्यों दोनों ही मे, कार्यकारिणी समितियाँ भी होती हैं। इन

कार्यकारिणी समितियों के सदस्यों का निर्वाचन संसदीय दल ही करता है, बाहर वाला दलीय संगठन नहीं। अभी यह कहना कठिन है कि इन कार्यकारिणी समितियों का मन्त्रिमण्डल से वस्तुतः सम्बन्ध क्या है लेकिन साधारणतया यह जान पड़ता है कि कार्यकारिणी समितियाँ मन्त्रिमण्डलों के सामने गौण हैं तथा उसके अधीन ही कार्य करती हैं। संघीय संसद में काग्रेस दल का एक मुख्य सचेतक होता है और उसकी सहायता के लिए अन्य तीन सचेतक होते हैं। इसी प्रकार की व्यवस्था राज्य विधानमण्डलों में भी पाई जाती है। राज्य सचेतको को कोई वेतन नहीं मिलता परन्तु केन्द्र में मुख्य सचेतक को मन्त्रि पद प्राप्त है और वह मन्त्रि पद की कोटि का ससदीय विषयों का मन्त्री (Minister of Cabinet Rank for Parliamentary Affairs) है। कांग्रेस के संसदीय दल मे एक उपनेता, नो सचिव और एक कोषाध्यक्ष भी होते हैं।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों का कांग्रेस के बाहरी संगठन से सम्बन्ध—दलों के ससदीय संगठन के प्रधान अंग मन्त्रिमण्डल तथा उनके बाह्य संगठन के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या दलीय राजनीति का सबसे जटिल और नाजुक प्रश्न है। इस विषय मे विभिन्न प्रथा पाई जाती है। पुरानी प्रथा यह थी कि दल के संसदीय अंग की, नीति तथा वित्तीय विषयो मे प्रधानता रहती थी और संसद के बाहर वाला संगठन मुख्यतः प्रचार कार्य करता, दल सम्बन्धी साहित्य को प्रकाशित और वितरित करता, सदस्य भरती करता, दल के कोष के लिए धन एकत्रित करता और चुनाव लड़ता था। ब्रिटेन के अनुसार दल और जब तक वह सशक्त रहा तब तक उदार दल में भी दल के बाहरी संगठन के नीति आदि पर प्रभुत्व स्थापित करने के प्रयत्न सदा विफल हुए। वैसा ही दल का कोषाध्यक्ष होता था और उसके कोष पर पूरा अधिकार रखता था। परन्तु मजदूर दल की बात अलग है। उसके संसदीय अंग पर बाह्य संगठन का, विशेष रूप से ट्रेड यूनियन कांग्रेस का, यदि नियंत्रण नही तो कम से कम, दबाव रहता है। आस्ट्रेलिया के मजदूर दल के बाह्य संगठन का मन्त्रिमण्डल पर और भी कठोर नियंत्रण रहता है।

केन्द्र तथा राज्यो में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो के बन जाने के बाद उनमें तथा दल के बाह्य संगठन के सम्बन्ध का प्रश्न जोर-शोर से उठ खड़ा हुआ है। कांग्रेस का बाह्य संगठन यह शिकायत करने लगा है कि मन्त्री काग्रेस समितियो की अवहेलना करते हैं और उनकी शिकायतो, परामर्शों तथा सुझावों पर कोई ध्यान नहीं देते। मन्त्री तथा जनता कहती है कि काग्रेस के सदस्य और काग्रेस समितियाँ दैनिक प्रशासन-कार्य में हस्त-क्षेप करने का प्रयत्न करती हैं, जो शासन की क्षमता और प्रतिष्ठा दोनों के लिए हानि-कारी है। विलयित देशी राज्यो या राज्य समूहों में तो राज्य कांग्रेस समितियों ने हाई कमाण्ड द्वारा प्रस्थापित मन्त्रिमण्डलो के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव तक पारित कर दिये और उन मन्त्रिमण्डलों से पदत्याग करा लेने तक के अधिकार का दावा किया। कांग्रेस

कार्यकारिणी समिति और कांग्रेस अध्यक्ष ने इन समस्याओं पर विचार करके साधारणतया मन्त्रियों के दृष्टिकोण की ही पुष्टि की। कांग्रेस कार्यकर्ताओं को निर्देश दिये गये कि वे प्रशासन के कार्यों में हस्तक्षेप अथवा अधिकारियों पर प्रभाव डालने की चेष्टा न करें। यदि किसी कांग्रेस कार्यकर्ता को कोई शिकायत हो तो वह उसे अपनी जिला या प्रदेश कांग्रेस समिति के अध्यक्ष के सामने रखे जो उस शिकायत के सम्बन्ध में कार्रवाही करेंगे। यदि कोई रचनात्मक सुझाव हो तो वह अ० भा० कां० समिति के पास भेजा जाना चाहिए और वह उस सुझाव के संबन्ध में समुचित कार्रवाही करेगी। इस प्रकार कांग्रेस के निम्नतर स्तरों पर होनेवाले संघर्षों को दूर करने का उपाय निकाला गया, परन्तु यह हल सबको मान्य न हो सका। यह समस्या उस समय और भी गंभीर हो उठी जब यह प्रश्न उठा कि प्रधान मन्त्री और उनके मन्त्रिमण्डल तथा कांग्रेस अध्यक्ष तथा कांग्रेस कार्य-कारिणी के बीच क्या संबंध रहे। इनमें से कौन किसके आदेश माने? आचार्य कृपलानी ने जो १६४६-५० में कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे, इसी कारण पदत्याग कर दिया कि जिसे वह कांग्रेस की सच्ची नीति समझते थे उसे मन्त्रिमंडल से स्वीकार कराने में वे असमर्थ रहे। आचार्य कृपलानी के उत्तराधिकारी डा० पट्टाभि सीतारमैया हुए थे। वे अपने कार्य-काल भर मन्त्रिमंडल के साथ मेल-जोल से काम करते रहे परन्तु कार्यविरत होते समय अंत में उन्होंने भी कहा कि वे बिना राष्ट्र राष्ट्रपति अर्थात् शक्तिविहीन कांग्रेस के अध्यक्ष थे। कांग्रेस अध्यक्ष के अगले निर्वाचन के समय स्पष्ट रूप से प्रचार किया गया कि कोई ऐसा व्यक्ति अध्यक्ष निर्वाचित होना चाहिए जो प्रधानमंत्री के साथ मिलजुल कर काम कर सके, परन्तु यह सब होते हुए भी श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जिनका नेहरू जी से कई महत्वपूर्ण मामलों में सैद्धान्तिक मतभेद था और जो लोगों को भली भाँति ज्ञात था, कांग्रेस अध्यक्ष चुन लिये गये। कुछ समय तक ऐसा जान पड़ा कि बड़ा घोर संघर्ष छिड़ने वाला है और सितम्बर १६५० में कांग्रेस के नासिकवाले अधिवेशन में पंडित नेहरू ने अपनी नीति के प्रति कांग्रेस वस्तुतः विश्वास से प्रस्ताव की माँग की। कांग्रेस ने तत्काल ही यह कर दिया। टंडन जी के अध्यक्षीय भाषण से आलोचकों की आशंकायें निर्मूल सिद्ध हुई। परन्तु इससे समस्या का स्थायी हल नहीं हुआ और अन्त में टंडन जी को अपने कार्यकाल के बीच ही में त्यागपत्र देकर हट जाना पड़ा। इस कठिनाई को हल करने के तीन रास्ते हो सकते हैं; इनमें से पहला यह है कि संसदीय दल का नेता अर्थात् प्रधान मंत्री ही कांग्रेस का पदेन अध्यक्ष भी हो। दूसरा मार्ग यह है कि प्रधानमंत्री दल के बाह्य संगठन के प्रति निश्चित रूप से उत्तरदायी हो। तीसरा उपाय यह है कि दल का बाह्य संगठन केवल प्रचार और निर्वाचन सम्बन्धी कार्य करे। टंडन जी के बाद स्वयं प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का कांग्रेस अध्यक्ष भी बन जाना वस्तुतः पहलेवाले मार्ग का अनुसरण था, परन्तु इसमें कठिनाई यह है कि प्रधानमंत्री के कंधों पर एक ऐसा कार्यभार और आ लदता है जिसके लिए उसे

समय मिलना कठिन है। वास्तव में पंडित नेहरू सरीखे परिश्रमी और प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए भी दोनों पदों का भारवहन करना असह्य हो गया और लिखते समय (दिसम्बर १९५४ में) अध्यक्षपद के लिये एक पृथक व्यक्ति श्री ढेबर को चुन लिया गया है। दूसरा मार्ग इस संसदीय सिद्धान्त के प्रतिकूल है कि मन्त्रिमंडल सीधे संसद और उसके द्वारा जनता के प्रति उत्तरदायी हो। अब शेष रह जाता है तीसरा मार्ग, अर्थात् कांग्रेस को प्रचार और निर्वाचन कार्यों मात्र का यन्त्र बना देना। वर्तमान स्थिति मे यही संभव जान पड़ता है। यदि कांग्रेस को पुराने आदर्श के अनुसार आत्मत्यागी रचनात्मक कार्य करने वाले राष्ट्रसेवियों का संगठन समूह बनाए रखना है तो जैसा कि महात्मा गाँधी ने बहुत पहले कहा था तो उसे दलगत राजनीति से अलग को एक संस्था होना पड़ेगा। कांग्रेस राजनीतिक दल और राष्ट्रीय संस्था के दोहरे रूप मे कार्य नहीं कर सकती।

राजनीतिक दलो की दूसरी संगठन सम्बन्धी समस्या मन्त्रिमंडल में सम्मिलित नेताओं और संसदीय दल के सामान्य सदस्यो के सम्बन्ध की है। दूसरे शब्दो मे, प्रश्न यह है कि मन्त्रिमंडल को दल के साधारण सदस्यो का नेतृत्व करना चाहिए या उनके नेतृत्व में चलना चाहिए। पुरानी परम्परा के अनुसार जो ब्रिटिश राजनीतिक दलो मे दिखलाई पड़ती है, मन्त्रिमंडल ही संसदीय दल के सामान्य सदस्यों का नेतृत्व करता है। ब्रिटेन मे दल का नेता जो कुछ कह देता है उससे सम्पूर्ण दल बाध्य होता है और नीति सम्बन्धी समस्त प्रमुख बातें मन्त्रिमंडल ही निश्चित करता है। पिछली बेंचों पर बैठनेवाले सामान्य सदस्य तो उसकी पुष्टिमात्र करते हैं। इसकी ठीक उल्टी है गोष्ठी (Caucus) पद्धति जिसमे सभी महत्वपूर्ण निर्णय समस्त दल की बैठक में किये जाते हैं, और मन्त्रिमण्डल उन निर्णयो को क्रियान्वित करता है। इसका उदाहरण ऑस्ट्रेलिया के मजदूर दल मे मिलता है, जिसके समस्त सदस्यो की गोष्ठी या सभा न केवल नीति सम्बन्धी प्रश्न तै करती है, किन्तु मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को भी एक प्रकार, से चुनती है। उस दल का प्रधानमन्त्री केवल यह निश्चय करता है कि सहयोगियो मे से किस को कौनसा विभाग दिया जाय। कांग्रेस में साधारणतया ब्रिटिश पद्धति अर्थात् मन्त्रिमण्डल के नेतृत्व की प्रथा का ही अनुसरण हो रहा है। दल के सदस्यो से आशा की जाती है कि वे अपनी आलोचनाओं और शिकायतों को विभिन्न मन्त्रालयो से सबद्ध दल की स्थायी समितियो के समक्ष रखें और यदि उसका संतोषजनक परिणाम न निकले तो संसदीय दल की कार्यकारिणी समिति से अपील करें। कुछ भी हो, दल के सदस्यों को जनता या विधान मण्डल के सामने दलीय अनुशासन को भंग करने की स्वतन्त्रता नहीं है।

कांग्रेस दल के आन्तरिक सम्बन्धों का जो चित्र ऊपर उपस्थित किया गया है उससे प्रकट होता है कि अभी ये सम्बन्ध तरल अवस्था में हैं अर्थात् उन्हें अभी

कोई स्थायी रूप नहीं मिल सका है। अभी तक दल के संसदीय और बाह्य संगठनों में खुला संघर्ष इसलिए नहीं हो पाया है कि संसदीय नेताओं की ही कार्यकारिणी समिति में भी प्रधानता रहती है। यह ठीक है कि कांग्रेस के संविधान के अनुसार कार्यकारिणी समिति में कुल सदस्य-संख्या के एक-तिहाई से अधिक मन्त्री सदस्य नहीं रह सकते, परन्तु प्रभाव के विषय में अन्य सदस्य कार्यकारिणी समिति के मन्त्री सदस्यों के मुकाबले में बौनों जैसे जगते हैं। कांग्रेस के संसदीय तथा बाह्य दोनों संगठनों की मुख्य प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की ओर है अर्थात् उसमें निरन्तर समितियों की तुलना में उच्चतर समितियों और सामान्य सदस्यों के मुकाबले में नेताओं के हाथ में शक्ति का क्रमशः केन्द्रण पाया जाता है। दल के अनुशासन में संसदीय कार्यपद्धति की दृष्टि से इस प्रकार की व्यवस्था बहुत ही अच्छी है। ब्रिटेन में भी ऐसी ही परिपाटी है।

कांग्रेस के सहयोगी संगठन—कांग्रेस की अन्य बहुत सी सहायक सहयोगी या संबद्ध संस्थाएँ भी हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में उसके कंधे से कंधा मिला कर कार्य करती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं में एक भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस है, जिससे कांग्रेस से प्रभावित श्रमिक-संस्थाएँ संबद्ध हैं। इस संस्था का कांग्रेस से विचार-साम्य का सम्बन्ध है, संगठन सम्बन्ध नहीं। कांग्रेस से संबद्ध दूसरी संस्थाएँ हैं सर्व सेवा सङ्घ या सर्वोदय समाज। इस संस्था में पहिले महात्मा गांधी के नेतृत्व में रचनात्मक कार्य करने वाली ११ संस्थायें सम्मिलित हैं। जैसे अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सङ्घ, हरिजन सेवक संघ, गो सेवा संघ, आदिवासी सेवा संघ, हिन्दुस्तान मजदूर संघ आदि। इन सभी संस्थाओं की विचार-धारा विशुद्ध गांधीवादी है।

२. अखिल भारतीय हिन्दू महासभा

महासभा की नीति और कार्यक्रम—हम कह चुके हैं कि १९०६ में मुस्लिम लीग साम्प्रदायिकता के आधार पर सगठित की गई तो उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दू महासभा का भी जन्म हुआ। अनेक वर्षों तक हिन्दू महासभा की नीति हिन्दू समाज को संगठित करने और मुसलमान साम्प्रदायिकता के प्रहारों से रक्षा की थी। वह मुसलमानी साम्प्रदायिकता को दी जाने वाली विशेष सुविधाओं की विरोधी और विशुद्ध राष्ट्रीयता की प्रचारक तथा हिन्दुओं के अधिकारों की समर्थक थी। सन् १९४७ में भारत के विभाजन का हिन्दूमहासभा ने घोर विरोध किया और मुसलमानों को संतुष्ट करने की सरकारी नीति की निन्दा की। अपने एक पथभ्रष्ट सदस्य द्वारा महात्मा गांधी की हत्या के बाद कुछ समय के लिए हिन्दू महासभा जनता की घृणा व क्रोध का पात्र बन गई किन्तु जब गांधी हत्याकांड पर विचार करने वाले न्यायाधिकरण ने यह घोषित कर दिया कि गांधी जी की हत्या में हिन्दू

महासभा के नेताओं का कोई हाथ नहीं था तो उसमें फिर से जीवनसंचार हुआ। कुछ समय तक महासभा के राजनीति से अलग हो जाने की भी चर्चा रही, परन्तु दिसम्बर १९४८ में उसकी अखिल भारतीय परिषद् ने अपनी नीति और कार्यक्रम की घोषणा द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि वह राजनीतिक क्षेत्र से बिदाई नहीं ले रही है।

राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दू महासभा अखण्ड भारत की समर्थक है। इसका अर्थ है, देश के विभाजन का किसी प्रकार अन्त करना, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसा किस प्रकार किया जायगा। हिन्दू महासभा भारत में देश की संस्कृति और परम्पराओं के अनुसार बने सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना चाहती है। सामाजिक क्षेत्र में वह हिन्दू समाज से बाहर चले गये लोगों को फिर से ग्रहण करना और सामाजिक असमानताओं तथा भेदभाव को दूर करना चाहती है। गो रक्षा, देवनागरी लिपि में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाना तथा भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों को एक राष्ट्रीयता के सूत्र में गूंथ देना आदि हिन्दू महासभा के सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रम की कुछ अन्य बातें हैं।

हिन्दू महासभा का आर्थिक कार्यक्रम समाजवादियों ही के कार्यक्रम-सा है जिससे इन दोनों में भेद करना कठिन है। महासभा प्रमुख उद्योग-धंधों, बैंकों, यातायात तथा संचार के साधनों के राष्ट्रीकरण, देश के द्रुतगामी उद्योगीकरण, सामूहिक कृषि, पर्याप्त निम्नतम राष्ट्रीय आय के निर्धारण तथा थोड़े से व्यक्तियों के पास धन के केन्द्रण को न होने देने की समर्थक है। वह युवकों को अनिवार्य सैनिक शिक्षा दिये जाने की भी पक्षपाती है।

इस दल के समर्थक हिन्दू समाज के वे वर्ग हैं जो धार्मिक प्रवृत्ति के हैं और प्राचीन हिन्दू संस्कृति के पुनरभ्युदय को चाहते हैं। भौगोलिक दृष्टि से महासभा का प्रभाव मुख्यतः महाराष्ट्र तथा देश के विभाजन से प्रभावित पंजाब और बंगाल आदि राज्यों में है। उग्र आर्थिक कार्यक्रम के होते हुए भी महासभा के सदस्यों में जमींदार और धनिक वर्ग के लोग पर्याप्त संख्या में हैं। इसी कारण आलोचकों को उसके आर्थिक कार्यक्रम की सच्चाई और नीयत पर सन्देह होता है।

महासभा का संगठन—महासभा की विचारधारा में विश्वास रखने वाला कोई भी हिन्दू जिसकी आयु १८ वर्ष या इससे अधिक हो, उसका सदस्य बन सकता है। सदस्यता शुल्क चार आना वार्षिक है। महासभा के लिये हिन्दू का अर्थ हिन्दू धर्म का अनुयायी मात्र नहीं है। उसकी परिभाषा में सभी व्यक्ति जो सिंधु से लेकर सागर तक की समस्त भारत भूमि को अपनी जन्मभूमि और पुण्यभूमि मानते हों तथा भारत में उत्पन्न किसी भी धर्म के अनुयायी हों, हिन्दू ही हैं। सन् १९५० के अक्टूबर मास में महासभा की कार्यकारिणी समिति के एक निर्णय द्वारा अहिन्दुओं के लिए भी महासभा की सदस्यता

के द्वार खोल दिये गये, परन्तु अहिन्दू सदस्यों का कार्यक्षेत्र महासभा के संसदीय कार्यक्रम तक ही सीमित रक्खा गया है। इस निर्णय का उद्देश्य अहिन्दू अल्पसंख्यकों का समर्थन प्राप्त करना कहा जाता है।

शेष बातों में हिन्दू महासभा का संगठन कांग्रेस ही का अनुकरण है। इसमें (क) हिन्दू महासभा, (ख) महासभा की अखिल भारतीय समिति, (ग) कार्यकारिणी समिति, (घ) प्रान्तीय हिन्दू महासभाएँ, (ङ) तालुका, तहसील या सब-डिवीजनल हिन्दू सभाएँ और नगर तथा ग्राम हिन्दूसभाएँ सम्मिलित हैं।

महासभा में भी कांग्रेस की ही तरह प्रान्तों से भेजे गये प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक प्रान्त सभा अपने क्षेत्र से २५,००० हिन्दू जनसंख्या के लिए एक प्रतिनिधि भेजती है। प्रान्तीय सभाएँ अपने क्षेत्र से प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने के नियम बनाती हैं। सामान्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन उन विभिन्न हिन्दू सभाओं द्वारा होता है जिन्होंने हिन्दू महासभा को अपनी सदस्यता का चन्दा दे दिया हो। किसी हिन्दू सभा का कोई भी सदस्य प्रतिनिधि निर्वाचित किया जा सकता है। साधारण रूप से हिन्दू महासभा का अधिवेशन प्रतिवर्ष दिसम्बर के अन्तिम दिनों में होता है।

महासभा की अखिल भारतीय समिति में महासभा का अध्यक्ष, सभी भूतपूर्व अध्यक्ष, गत वर्ष के पदाधिकारी तथा प्रान्तीय हिन्दू सभाओं के १ से ५० प्रतिनिधि (उनके क्षेत्रों में हिन्दू महासभा के सदस्यों की सख्यानुसार) होते हैं।

महासभा की कार्यकारिणी समिति में महासभा के पदाधिकारी, अखिल भारतीय समिति द्वारा अपने ही सदस्यों में से चुने हुए २० सदस्य, और अखिल भारतीय समिति में से अध्यक्ष द्वारा नामांकित ३ सदस्य, होते हैं। पदाधिकारी वर्ग में अध्यक्ष, यदि आवश्यक हो तो एक कार्यवाहक अध्यक्ष अधिक से अधिक ६ उपाध्यक्ष, १ मुख्य सचिव और १ कोषाध्यक्ष होते है। अध्यक्ष को छोड़ कर अन्य सभी पदाधिकारी अखिल भारतीय समिति द्वारा अपने ही सदस्यों में से निर्वाचित किये जाते हैं। अध्यक्ष का निर्वाचन प्रान्तीय सभाओं द्वारा अनुमोदित अभ्यर्थियों में से होता है। जिस व्यक्ति को प्रान्तीय सभाओं की सबसे अधिक संख्या का समर्थन प्राप्त होता है वही अध्यक्ष निर्वाचित हो जाता है। जिस प्रान्त में अधिवेशन होने जा रहा है, उसका कोई व्यक्ति अध्यक्ष नहीं चुना जा सकता है।

जिस प्रान्त में अधिवेशन होने जा रहा है उसकी प्रान्तीय सभा एक स्वागत-समिति का सगठन करती है। कोई भी व्यक्ति ३) रु० चन्दा देकर स्वागत-समिति का सदस्य बन सकता है। अध्यक्ष के चुनाव में अन्य प्रान्तीय सभाओं की भाँति ही स्वागत समिति का भी एक मत होता है। यदि चुनाव में ग्रंथि पड़ जाय तो स्वागत समिति एक

समाजवादी दल एक अखिल भारतीय आर्थिक सेवा (Economic Service) की स्थापना का समर्थक है।

समाजवादी दल के आर्थिक कार्यक्रम में बैंकों, बीमा कम्पनियों, खानों, बिजली तथा देश में अँग्रेजों के स्वामित्व में चलने वाले उद्योगों का राष्ट्रीयकरण सम्मिलित है। उसकी माँग है कि प्रत्येक मजदूर को जीवन निर्वाह योग्य वेतन और मँहगाई भत्ता मिले, वस्तुओं की कीमतें घटें, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादनों के मूल्यों में समानता स्थापित हो, छोटे-छोटे और मध्यम वर्ग के उद्योगों को राजकीय सहायता दी जाय। औद्योगिक शिक्षा और शोध की पर्याप्त व्यवस्था रहे, नई भूमि में खेती के विस्तार के लिए जनता के सभी वर्गों के लोगों की एक भूमि-सेना बनाई जाय, कृषि भूमि सम्बन्धी स्वत्त्व-व्यवस्था में ऐसे व्यापक सुधार किये जायें कि जिससे किसानों को बेदखली और जमींदारों के अत्याचार का भय न रहे और भूमि का पुनर्वितरण इस प्रकार किया जाय कि किसी भी कृषक परिवार के पास ३० एकड़ से अधिक अथवा १२॥ एकड़ से कम भूमि न हो।

अन्त में समाजवादी चाहते हैं कि विकास सम्बन्धी व्यय ग्राम, जिला तथा सहकारी समितियों द्वारा हो और कालेजों के छात्रों के लिए एक वर्ष की राष्ट्रसेवा अनिवार्य बना दी जाय। राष्ट्रीय सेवा के इस वर्ष में छात्र भूमि-सेना में कार्य करें।

समाजवादियों की कांग्रेस शासन विषय में कई आलोचनाएँ हैं जैसे समुचित आर्थिक योजनाओं का अभाव, उद्योगपतियों तथा पूँजीपतियों को तुष्ट करने की नीति, औद्योगिक शान्ति की आड़ में मजदूर आन्दोलनों का दमन, जमींदारी उन्मूलन में शिथिलता तथा विलम्ब, कृषि के बजाय उद्योगों का पक्षपात तथा विशिष्ट और दमनात्मक विधियों द्वारा नागरिक-स्वतन्त्रता का निरन्तर निरोध आदि।

संगठन—समाजवादी दल के सदस्य दो प्रकार के हैं—व्यक्ति और सम्बद्ध संस्थायें। १८ वर्ष से अधिक आयु का कोई व्यक्ति जो और दल की नीति और सिद्धान्तों में विश्वास करता हो तथा जाति-पाँति व साम्प्रदायिक भेदभाव में विश्वास न रखता हो, इसका सदस्य हो सकता है। संस्थाएँ वे समूह या संगठन हैं जो दल के कार्यक्रम को स्वीकार करें जैसे मजदूर-सभाएँ, किसान-सभाएँ, युवक-सभाएँ आदि।

दल की मूलभूत इकाई वार्ड या स्थानीय समिति है जिसमें उस क्षेत्र में रहने वाले दल के समस्त सदस्य सम्मिलित रहते हैं। इसके ऊपर दल की निर्वाचन क्षेत्रीय शाखा, (विभिन्न विधानमण्डलीय निर्वाचन क्षेत्रों के लिए) और उसके ऊपर जिला, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय शाखायें होती हैं। इनमें से प्रत्येक स्तर के दलीय संगठन में एक परिषद् होती है जो नीति-निर्धारित करती है और एक अपेक्षाकृत छोटी होती है जो सम्बन्धित क्षेत्र में कार्यकारिणी का कार्य करती है।

समाजवादी दल के राष्ट्रीय संगठन के दो नहीं किन्तु तीन अंग हैं, अर्थात् राष्ट्रीय सम्मेलन, राष्ट्रीय महापरिषद् और राष्ट्रीय कार्यकारिणी। ये क्रमशः कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति तथा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के समतुल्य हैं। राष्ट्रीय-सम्मेलन में व्यक्ति तथा सम्बद्ध सामूहिक सदस्यों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। राष्ट्रीय सम्मेलन दल की सर्वोच्च संस्था है और तदनुसार वह संविधान का संशोधन तथा अध्यक्ष और अन्य पदाधिकारियों का निर्वाचन करता है। राष्ट्रीय परिषद् में सम्मेलन के प्रतिनिधियों की कुल संख्या के $\frac{1}{3}$ सदस्य होते हैं और इनका निर्वाचन राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रतिनिधि ही करते हैं। राष्ट्रीय कार्यकारिणी में सम्मेलन द्वारा निर्वाचित २३ सदस्य, एक मुख्य सचिव तथा एक कोषाध्यक्ष होते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय कार्यकारिणी में कुल २५ व्यक्ति होते हैं। मुख्य सचिव की सहायता के लिए ४ संयुक्त सचिव होते हैं। समाजवादी दल के संगठन की दो विशेषताएँ ये हैं कि प्रान्तों से आने वाले प्रतिनिधियों में से $\frac{1}{10}$ भाग महिलाएँ होनी चाहिए तथा सभी स्तरों या शाखाओं के सचिव, दल के कार्य में अपना समस्त समय देने वाले कार्मचारी होते हैं।

कांग्रेस की तुलना में समाजवादी दल की सदस्य संख्या बहुत थोड़ी-सी है और विभिन्न विधान मंडलों में उसका प्रतिनिधित्व भी अत्यल्प है। परन्तु समाजवादियों का दावा है कि उनकी सदस्य संख्या या विधान मण्डलीय प्रतिनिधित्व देश में उनके प्रभाव के परिचायक नहीं हैं। समाजवादी दल भावी चुनावों में अपनी स्थिति को पर्याप्त दृढ़ बना सकने की आशा करता है।

समाजवादी दल का संगठन अभी तक देश-व्यापी नहीं हो सका है। अभी वह ग्रामों में बहुत कम प्रवेश कर सका है। नगरों से बाहर के लोग उसकी विचारधारा से अपरिचित-से हैं। ये सब बातें समाजवादी दल की प्रधान कमजोरियाँ हैं। अब समाजवादी दल आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। प्रचार के लिए वह कई पत्रिकाएँ और समाचार पत्र प्रकाशित करता है तथा दल के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिए शिविरों का आयोजन भी किया जाता है। औद्योगिक केन्द्रों के मजदूर-संगठनों पर अधिकार जमाने के लिए वह विशेष रूप से प्रयत्नशील है।

४. भारत का साम्यवादी दल

नीति और कार्यक्रम—भारत के साम्यवादी दल का मूल लक्ष्य है, "काम करने वाली जनता की, साम्राज्यवादविरोधी और कृषकों की सफल क्रांति, पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति, श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में जनता के प्रजातन्त्रीय राज्य की स्थापना, सम्पत्तिविहीन श्रमजीवी वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना और मार्क्स तथा लेनिन की शिक्षाओं के

अनुसार समाजवाद के निर्माण के संघर्ष के लिए संगठित करना है" सन् १९४८ में साम्यवादी दल की कलकत्ते की कांग्रेस में यह कार्यक्रम निश्चित हुआ कि भारत का ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया जाय, भारत में रहने वाले विभिन्न राष्ट्रीय समुदायों को आत्म-निर्णय और यदि वे चाहें तो भारतीय संघ से पृथक होने का भी अधिकार दिया जाय, भारतीय संघ स्वेच्छा से सम्मिलित भाषावार राज्यों के आधार पर बने; अल्पसंख्यकों के अधिकारों विशेषतः भाषा और संस्कृति सम्बन्धी अधिकारों को सुरक्षित कर दिया जाय; सामन्तशाही और जमींदारी के सभी चिह्नों का बिना प्रतिकर दिये उन्मूलन किया जाय; भूमि किसानों में वितरित कर दी जाय; विदेशी पूँजीपतियों के भारत-स्थित स्वार्थों को जब्त कर लिया जाय; बड़े उद्योगों का राष्ट्रीकरण हो, उद्योगों पर श्रमिकों का नियंत्रण रहे, श्रमिकों के लिए जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त न्यूनतम वेतन की व्यवस्था हो, दैनिक कार्य के घन्टों की ८ से अधिक संख्या न हो; देश की प्राकृतिक सम्पत्तिका योजनाबद्ध विकास किया जाय, नौकरशाही प्रशासन को समाप्त करके जन-समितियों की देख-रेख में निर्वाचित अधिकारियों द्वारा शासन चलाया जाय; जनता को शस्त्र रखने का अधिकार देकर प्रजातन्त्रीय सेना बनाई जाय; स्त्रियों को समान अधिकार दिये जायें; अनुसूचित आदिम जातियों और पिछड़े क्षेत्रों को स्वायत्त शासन का अधिकार मिले और सैन्यरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध और आर्थिक बातों में पाकिस्तान के साथ सहयोग किया जाय।

दल की कार्य-पद्धति में श्रमिकों, कृषकों और विद्यार्थियों का संगठन करना तथा उनके बीच आन्दोलन करना सम्मिलित है। द्वितीय महायुद्ध में जब रूस मित्रराष्ट्रों के साथ हो गया तो भारत में साम्यवादी दल ने कांग्रेस की घोषित नीति के विरुद्ध, युद्ध में अंग्रेजी सरकार की सहयाता करने के पक्ष में खूब प्रचार किया। सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय साम्यवादियों पर ब्रिटिश अधिकारियों से मिल जाने, राष्ट्रीय हित के साथ विश्वासघात करने तथा राष्ट्रीय संघर्ष में लगे हुए कार्यकर्ताओं के विरुद्ध विदेशी ब्रिटिश सरकार के जासूसों के रूप में काम करने के लाछन लगाये गये। अभियोग सिद्ध तो नहीं किये जा सके, परन्तु इन्हीं आधार पर साम्यवादियों को कांग्रेस से निकाल दिया गया।

जब पंडित नेहरू ने राष्ट्रीय सरकार बनाई तो साम्यवादी दल ने उसका अत्यन्त उत्साहपूर्वक समर्थन किया किन्तु श्री बी० टी० रणदिवे के नेतृत्व में साम्यवादी दल में साम्यवादियों का एक अल्पसंख्यक गुट ऐसा भी था जो कांग्रेस के साथ किसी भी प्रकार के सहयोग का कट्टर विरोधी था। सन् १९४८ की कलकत्ता कांग्रेस में रणदिवे गुट को बहुमत प्राप्त हो गया और उसने भूतपूर्व बहुसंख्यक समूह के नेता श्री पी० सी० जोशी को उनके अनुयायियों सहित दल से निकाल बाहर किया। श्री रणदिवे साम्यवादी दल के मंत्री बन गये और उसके बाद सारे देश और विशेषकर दक्षिण में हिंसा, लूट-पाट,

ध्वंसात्मक कार्यों और हत्याओं की बाढ़-सी आ गई। फलतः पश्चिमी बंगाल में साम्यवादी दल अवैध घोषित हो गया और साम्यवादी नेताओं की देशव्यापी गिरफ्तारियां हुईं। हैदराबाद, मद्रास और मलाबार में साम्यवादी उपद्रव विशेष प्रबल था। इन क्षेत्रों में कठोर सुरक्षात्मक व्यवस्था करनी पड़ी किन्तु सन् १९५० में साम्यवादी दल ने अपनी नीति में पुनः परिवर्तन किया। श्री रणदिवे को मन्त्री पद से हटा दिया गया और उनकी जगह श्री एस० ए० डांगे चुने गये, जिन्होंने भूतकाल में किये गये हिंसात्मक कार्यों का स्पष्ट विरोध किया। असाम्यवादी क्षेत्रों में अब भी साम्यवादियों का यह नीति-परिवर्तन संदिग्ध समझा जाता है। आलोचकों का कहना है कि यह सरकार तथा जनता की आंखों में धूल झोंकने का बहाना मात्र है।

समान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और दृष्टिकोण के कारण भारत और सोवियत सङ्घ एक दूसरे के अधिक निकट आ गये। दोनों देशों के चोटी के नेता एक दूसरे के देश में गये। इस सब के फलस्वरूप साम्यवादियों के प्रति भारतीय जनता के दृष्टिकोण में वाञ्छनीय परिवर्तन हुआ और वह साम्यवादियों को भी देश के अन्य दलों की ही भांति समझने लगे हैं। दूसरी ओर भारतीय साम्यवादी दल ने भी अपने संसदीय और अन्य कार्यक्रमों की पूर्ति के लिए संवैधानिक उपायों और साधनों को ही स्वीकार कर लिया। १९५७ के आम चुनाव में केरल राज्य में विधान सभा के साम्यवादियों को अन्य किसी भी दल से अधिक स्थान मिले। फलतः वहां साम्यवादी दल की सरकार बनी। इस सरकार ने भूमि सम्बन्धी तथा अन्य सुधारों की उग्र वामपक्षीय योजना प्रस्तुत की, पर साथ ही साथ यह आश्वासन भी दिया की संविधान के अन्तर्गत ही कार्य किया जायगा, उसके बाहर नहीं। साम्यवादी दल ने अपनी सरकार बनने पर केरल में जिन नीतियों का अनुसरण किया उन से लोगों में बड़ा असन्तोष फैला। साम्यवादियों के विरुद्ध अन्य दलों का एक संयुक्त मोर्चा स्थापित हुआ और साम्यवादी सरकार को पदच्युत करने के लिए आन्दोलन चलने लगा। सरकार की ओर से तीव्र दमन होने लगा। अतः राष्ट्रपति ने अपनी संकट कालीन शक्तियों का उपयोग कर के साम्यवादी सरकार को पदच्युत कर दिया और केरल में गवर्नर का शासन स्थापित हो गया। फर्वरी १९६० में आम चुनाव हुए। उनके फलस्वरूप कांग्रेस दल सब से बड़े दल के रूप में प्रकट हुआ और उसकी तथा प्रजा-सोशलिस्ट दल की संयुक्त सरकार बनी।

भारत तथा चीन के सीमा-विवाद में अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण भी साम्यवादी दल को धक्का लगा है। साम्यवादी लोगों ने स्पष्ट रूप से चीन के आक्रमण की निन्दा नहीं की। फलस्वरूप जनमत उन्हें देशद्रोही भेदियों के रूप में देखने लगा। इस बात को लेकर स्वयं साम्यवादियों में भी फूट पड़ गई। इस समय भारतीय साम्य-

वादी दल अपनी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय निष्ठाओं में संघर्ष के कारण संकट की अवस्था में पड़ा हुआ प्रतीत होता है।

साम्यवादी दल का संगठन—साम्यवादी दल को मुख्यतः श्रमिकों और छात्रों के कुछ वर्गों और मार्क्सवादी विचारधारा मे विश्वास रखने वाले कुछ बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त है। भौगोलिक दृष्टि से बम्बई तथा उसके आसपास के उपनगर, कलकत्ता मद्रास के कुछ भाग, हैदराबाद तथा मलाबार आदि साम्यवादियों के प्रभाव-क्षेत्र हैं। कुछ रेलवे कर्मचारियों के संगठनों पर भी साम्यवादियों का प्रभाव है। कोई भी व्यक्ति जिसकी आयु १८ वर्ष या इससे अधिक हो और जो साम्यवादी विचारधारा में विश्वास रखता हो तथा दल का सक्रिय कार्यकर्ता बनने को तैयार हो, साम्यवादी दल का सदस्य बन सकता है। सदस्यता के प्रार्थी के प्रार्थनापत्र का दल के कम से कम दो सक्रिय सदस्यों द्वारा समर्थन आवश्यक है। प्रत्येक सदस्य को दल के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती, दल के कोष मे चन्दा देना पड़ता और दल का अनुशासन मानना पड़ता है। यह अनुशासन अत्यन्त कठोर होता है।

दल की सबसे छोटी इकाई 'सेल' या कोष कहलाती है। इसमें दो या तीन सदस्य भी हो सकते हैं और इसकी स्थापना किसी भी कारखाने या अन्य स्थान में हो सकती है जहाँ परिस्थितियाँ साम्यवाद के प्रचार के अनुकूल हो। 'सेल' का कर्तव्य है कि वह दल की विचार-धारा का प्रचार जनता में करे।

साम्यवादी दल के सगठन की सीढ़ी मे ग्राम, नगर, जिला और प्रान्तीय समितियाँ क्रमशः एक के ऊपर एक होती हैं। प्रत्येक स्तर पर कार्यकारिणी समिति भी होती है। कार्यकारिणी समितियों मे ५ सदस्य और एक निर्वाचित सचिव होता है। नीचे की समितियाँ समय-समय पर उच्चतर समितियो को अपने कार्यों का विवरण देती रहती हैं।

राष्ट्रीय सगठन के रूप मे साम्यवादी दल की एक अखिल भारतीय कांग्रेस है जिसका प्रतिवर्ष अधिवेशन होता है। यह कांग्रेस अपने वार्षिक अधिवेशन मे मुख्य सचिव (General Secretary) तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति (Central Executive Committee) का निर्वाचन करती है। केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति को सक्षेप मे केन्द्रीय समिति (The Central Committee) कहा जाता है। समिति का प्रत्येक सदस्य दल के कार्य के किसी न किसी विभाग का उत्तरदायित्व ग्रहण करता है, यथा, दलीय समाचार पत्रों, हिसाब-किताब (Accounts), दल के शिक्षालयो आदि का, केन्द्रीय समिति का एक अन्तरंग समूह (Inner Circle) होता है जिसे रूसी परिपाटी के अनुसार पालिट ब्यूरो कहते हैं। इसमे दल का मुख्य सचिव और कुछ अन्य सदस्य होते हैं। यही अन्तरग समूह दल का सचालन तथा उसकी नीति का निर्देशक होता है।

अन्य देशों के साम्यवादी दलों की भाँति भारत का साम्यवादी दल भी रूसी साम्य-वादी दल से बहुत प्रभावित है। साम्यवादी दल के शत्रु तो कहते हैं कि रूस से उसे नीतियों सम्बन्धी निर्देश और वित्तीय सहायता भी मिलती है। अभी तक यह अभियोग कभी सिद्ध नहीं किया जा सका है।

५. उदार दल

(The Liberal Party)

संगठित राजनीतिक दल के रूप में अब उदार दल का अन्त हो गया है। अखिल भारतीय उदार दल संघ का अन्तिम अधिवेशन सन् १९४५ मे लाहौर में हुआ था। तब से इसका कोई अधिवेशन नही हुआ। ऐसी अफवाह सुनाई पड़ी थी कि अपने अगले अधिवेशन में वह जब भी हो यह दल विघटित कर दिया जायगा।

ऐसा होना खेद की बात है। यद्यपि उदारदल वालों का जनता से विशेष सपर्क कभी नही रहा और न अन्य दलों की भाँति का उनका संगठन ही था तथापि उनमें कई बड़े प्रसिद्ध और देशभक्त व्यक्ति थे। इस दल के सदस्य व्यक्तिगत रूप से पहले देश की बड़ी सेवा कर चुके हैं और अब भी कर रहे हैं। उनकी यह सेवा महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्नो पर वक्तव्य, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो में देश के उत्कृष्ट प्रतिनिधित्व, विधानमण्डलो में निर्वाचित होने पर उसके वाद-विवादों में विद्वतापूर्ण योग आदि द्वारा होती थी और है। उनमें देश के कई सुविज्ञ राजनीतिज्ञ तथा शासक थे। सरकार तथा राजनीतिक दलों के बीच कोई संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न होने पर वे मध्यस्थ रूप से कार्य करते थे। जिन कारणों से ब्रिटेन में उदार दल का पतन हुआ उन्ही से भारत में भी। दोनों के ह्रास के कारण समान थे, अर्थात् अन्य दलो से स्पष्टतया भिन्न नीति व कार्यक्रम का अभाव।

६. स्वतन्त्रता के बाद मुस्लिम राजनीतिक दल

स्वाधीनता के पूर्व मुस्लिम राजनीतिक दलों को दो समूहों मे विभक्त किया जाता था। प्रथम समूह मे तो ऐसे मुस्लिम राजनीतिक दल थे जिनकी नीति स्पष्ट रूप से साम्प्रदायिक थी और दूसरे समूह मे वे दल थे जो मुसलमानो के न्यायोचित अधिकारो का संरक्षण चाहते हुए भी राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के थे और देश के हिन्दुओं तथा मुसलमानों के समान राजनीतिक भविष्य में विश्वास करते थे। मुस्लिम लीग के १९४० ई० के लाहौर अधि-वेशन में पाकिस्तान की माँग किये जाने के उपरान्त दोनों समूहों का यह अन्तर और भी स्पष्ट हो गया। उस समय से लेकर भारत के विभाजन तक मुस्लिम लीग का देश के मुसलमानों पर प्रभाव निरन्तर बढ़ता चला गया और ब्रिटिश सरकार ने उसे मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि-संस्था के रूप में स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग विरोधी

राष्ट्रवादी मुसलमानदलों में जमीयतउलउलेमा, मोमिन कान्फ्रेंस, शिया, तथा सीमाप्रान्त के खुदाई खिदमतगारों और मजलिस अहरार आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

जब भारत का विभाजन हो गया तो पुरानी मुस्लिम लीग के लिए भारत और पाकिस्तान दोनों देशों में काम करना असम्भव हो गया। दिसम्बर १९४७ में कराची के अपने अन्तिम अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने अपने को दो भागों में विभक्त कर लिया: पाकिस्तान मुस्लिम लीग और भारतीय मुस्लिम लीग। हमें यहाँ केवल भारतीय मुस्लिम लीग की चर्चा करनी है जिसके संयोजक मद्रास प्रान्तीय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष श्री मोहम्मद इस्माइल नियुक्त किये गये थे।

विभाजन के उपरान्त भारतीय मुसलमानों में मुस्लिम लीग का प्रभाव तेजी से घटना प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों ने शीघ्र ही समझ लिया कि साम्प्रदायिकता के आधार पर बनी मुस्लिम लीग जैसी संस्था उनकी अधिक सहायता नहीं कर सकती। मौलाना आजाद ने भारत के मुसलमानों से जोरदार अपील की कि वे पुराने ढंग से सोचना छोड़ें और अधिकाधिक संख्या में कांग्रेस के सदस्य बन जायें। दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई आदि में विभिन्न मतों के मुसलमानों के अनेक सम्मेलन हुए और मुस्लिम लीग के विभिन्न प्रान्तों में बचे-खुचे संगठनों ने अपने को विघटित कर देने का निश्चय किया। भूतपूर्व राष्ट्रवादी मुसलमान दलों ने राजनीति का परित्याग करके अपने कार्य को सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों तक ही सीमित कर लिया।

यह सब होते हुए भी मार्च १९४८ के मद्रास के अधिवेशन में भारतीय मुस्लिम लीग की परिषद ने लीग को बनाये रखने का निश्चय किया—यद्यपि भविष्य में मुख्यतः सामाजिक, सांस्कृतिक और शिक्षा में ही उसके कार्य करने की बात कही गई। मई मास के बाद के अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था को बनाये रखने की मांग की। भारतीय मुसलमानों ने लीग की इन कार्यवाइयों का तीव्र विरोध किया। लीग की परिषद् की मद्रास में जो बैठक हुई थी उसमें १४७ में से केवल ३० सदस्यों ने ही भाग लिया था। उत्तर भारत और विशेषतः उत्तर प्रदेश जैसे प्रांतों के प्रतिनिधि जिन्होंने लीग के पहिले वाले कार्यों में प्रमुख भाग लिया था, इस परिषद् में उपस्थित न थे। इसीलिए देश भर के मुसलमानों ने मद्रास में किये हुये निर्णयों का विरोध किया और कहा कि इन्हें करने वाले अपने सिवाय अन्य किसी भारतीय मुसलमान का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते थे।

इसीलिए आज की भारतीय मुस्लिम लीग एक उपेक्षणीय दल है और उसके उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा संविधान आदि के सम्बन्ध में अधिक चर्चा आवश्यक है। उसके पदाधिकारियों में एक अध्यक्ष, एक सचिव और एक कोषाध्यक्ष होते हैं।

इनके अतिरिक्त लगभग १२ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति भी है जिसके सदस्य मुख्यतः दक्षिणी भारत से लिये गये हैं। लीग का शेष संगठन अब छिन्न-भिन्न हो गया है।

७. सिखों के राजनीतिक समुदाय

सिखो में तीन राजनीतिक दल पाये जाते हैं। इनमे से एक वर्ग अकाली दल का है जिसके नेता मास्टर तारासिंह हैं और जो अलग सिखिस्तान की स्थापना की माँग करता है। दूसरा समुदाय पंथिकदरबार का है। यह अपने को अराजनीतिक दल कहता है। अन्तिम समूह उन सिखो का है जो कांग्रेस के समर्थक हैं और सिखों के अलग राजनीतिक दल बनाने के विरुद्ध हैं। पृथक् सिखिस्तान की माँग करने वाले दल का कहना है कि जिस प्रकार हिन्दुओं के लिए हिन्दुस्तान और मुसलमानों के लिए पाकिस्तान है, उसी प्रकार सिखो के लिए भी सिखिस्तान का स्वदेश होना चाहिए। यदि सिखिस्तान स्वतन्त्र राज्य के रूप मे न भी बने तो भारतीय संघान्तरित राज्यो मे एक ऐसा होना चाहिए जिसमे सिखो का बहुमत हो या कम से कम उनकी ऐसी स्थिति हो कि वे अन्य समुदायों के बीच में सन्तुलन रख सके। इसे पूर्वी पंजाब की रियासतो को मिलाकर या पंजाब से हिन्दू प्रधान गुड़गाँव जिले को अलग करके बनाया जा सकता है। इस प्रकार शेष पंजाब मे जन-संख्या की दृष्टि से सिख गैर सिखो के बराबर हो जायँगे, गुरुमुखी लिपि में पंजाबी ऐसे राज्य की सरकारी भाषा होनी चाहिए।

८. कुछ वामपक्षीय राजनीतिक दल

समाजवादियो और साम्यवादियों के अतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे वामपक्षीय राजनीतिक दल भी हैं। इन दलो के सम्बन्ध में भी संक्षेप में विचार कर लिया जाना चाहिये। ऐसे छोटे राजनीतिक दलो मे एक है, अग्रगामी दल (फारवर्ड ब्लाक)। यह दल नेता जी सुभाषचन्द्र बोस से प्रेरणा ग्रहण करता है। इसकी घोषित नीति समाजवादी है लेकिन इसकी कार्य पद्धति में संसदीय और असंसदीय दोनो प्रकार की गतिविधियो का मिश्रण है। यह दो पक्षो मे विभक्त है अर्थात् श्री आर० एस० रुईकर का पक्ष तथा श्री के० एस० जोगलेकर का।

दूसरा दल रिपब्लिकन सोशलिस्ट पार्टी। इसके नेता श्री शरत्चन्द्र बोस थे। इसके अनुयायी केवल पश्चिमी बंगाल तक ही सीमित हैं। श्री शरत्चन्द्र बोस की मृत्यु से यह दल और भी शक्तिहीन हो गया है।

तीसरा दल है पीजेन्ट एण्ड वर्कर्स पार्टी (कृषक और श्रमिक दल) नाम का।

इसके नेता श्री एस० एस० मोरे और के० एम० जेद्दे हैं। यह उन महाराष्ट्रियों का दल है जो कांग्रेस से भाषा के आधार पर संयुक्त महाराष्ट्र की स्थापना के प्रश्न पर अलग हो गये थे।

अन्त में १९४८ ई० तक श्री एम० एन० राय का रेडिकल डेमोक्रेटिक दल भी था। इसकी नीति और कार्यक्रम एक राजनीतिक पहेली की भांति थे। यह दल ट्राट्स्की-वादी साम्यवाद और साथ ही साथ कांग्रेस के राष्ट्रवाद का समर्थक था, पर यह सब होते हुए भी यह द्वितीय महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों का समर्थक था। सन् १९४८ में इसने राजनीति का परित्याग कर दिया और अब इसका लक्ष्य नवीन मानवतावाद (New Humanism) का प्रचार करना है।

इन वामपक्षीय राजनीतिक दलों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये किसी ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति या व्यक्तियों के अनुयायी हैं जो किसी विशेष प्रश्न पर मतभेद हो जाने के कारण कांग्रेस से अलग हो गये थे। इनमें सुस्थिर नीति व कार्य-क्रम का अभाव है, और इनके अनुयायियों की संख्या भी उंगलियों पर ही गिनने लायक है।

९. प्रजा शोशलिस्ट पार्टी

सन् १९५१-५२ के निर्वाचनों के उपरान्त छोटे-छोटे समान नीतिवाले दलों ने आपस में मिलजुल कर एक सबल विरोधीदल बनाने की चेष्टा की जिससे वे सत्तारूढ़ दल का सक्षम विरोध कर सके। इनमें सब से महत्वपूर्ण विलयन, चुनाव से कुछ ही पहले स्थापित आचार्य कृपलानी के किसान मजदूर प्रजा दल और भारतीय समाजवादी दल का था। यह संयुक्त दल प्रजासमाजवादी दल के नाम से विख्यात है। संक्षेप में इसे पी० एस० पी० भी कहा जाता है। आचार्य कृपलानी इस दल के प्रथम नेता थे, पर १९५४ ई० में उनके स्थान में आचार्य नरेन्द्र देव चुने गये। इस दल का उद्देश्य व कार्य-क्रम अधिकांश वही है जो समाजवादी दल के सम्बन्ध में बतलाया जा चुका है।

१०. भारतीय जनसंघ

भारतीय जनसंघ की स्थापना १९५२ के सार्वजनिक चुनाव के अवसर पर स्वर्गीय श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी के नेतृत्व में हुई थी। इसका उद्देश्य अनुसूचित जातियों; आदिम जातियों तथा अन्य दलित वर्गों की औद्योगिक तथा अन्य समृद्ध वर्गों के शोषण से रक्षा करना है। इसके कार्यक्रम में किसानों को तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा, गो-हत्या का निवारण, मिश्रित आर्थिक व्यवस्था, सम्पत्ति तथा आय की विषमता को दूर करना, मद्य-निषेध की नीति का त्याग या संशोधन, भाषावार राज्यों की रचना, सर्वोदय, ग्रामीण जनता के कर-भार को घटाना, विकेन्द्रीकरण आदि सम्मिलित

हैं। इस दल के प्रभाव-क्षेत्र मुख्यतः बंगाल और पंजाब हैं। यह दल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से विशेष प्रभावित है और एक प्रकार से उसी का राजनीतिक पक्ष कहा जा सकता है।

स्वतंत्र दल—१९५९-६० में श्री राजगोपालाचारी और प्रोफेसर रंगा ने स्वतंत्र दल नामक एक नये राजनीतिक दल को स्थापना की। इसका उद्देश्य व्यक्ति के जीवन व उद्योग मे राज्य के बढ़ते हुये हस्तक्षेप को रोकना और व्यक्ति को सभी क्षेत्रो में अधिक से अधिक स्वतंत्र छोड़ देना है। इस प्रकार यह दल उद्योगों के राष्ट्रीकरण तथा सहकारी खेती आदि के कार्यक्रमों का विरोध करता है।

इस दल को लोग गत शताब्दी के व्यक्तिवादी अनुदार दलों की भांति समझते हैं। इस दल में बड़े-बड़े उद्योगपति, व्यापारी, तथा भूतपूर्व राजा, जागीरदार आदि सम्मिलित हुये हैं। इस कारण लोग इसे अमीरों का प्रतिक्रियावादी दल भी समझते हैं। यह भी कहा जाता है कि इस दल की आर्थिक नीति समयानुकूल नही और मुख्यतः नकारात्मक है।

इस दल का भविष्य तो आगामी चुनाव ही निर्णय करेंगे, पर ब्रिटेन जैसे देशो मे यदि आज भी अनुदार दल के लिये स्थान है और उसके द्वारा देश और राष्ट्र की महत्वपूर्ण सेवा भी होती है तो कोई कारण नही है कि भारत मे भी ऐसे दल के लिये स्थान न हो सके। राज्य के कार्यों का बहुत विस्तार व बहुत अधिक हस्तक्षेप भी लोगो को क्षुब्ध कर देता है। स्वतन्त्रता की भावना आर्थिक लाभ व उन्नति की भावना से कम महत्वपूर्ण नही। इस दल के नेताओ में राजगोपालचारी सरीखे वयोवृद्ध तथा अनुभवी राजनीतिज्ञ है। अतः इस के द्वारा देश की एक सन्तुलित नीति के अपनाने में सहायता मिले ऐसी आशा की जा सकती है।

प्रथम सार्वजनिक निर्वाचन और विभिन्न राजनीतिक दल

सन् १९५२ के सार्वजनिक निर्वाचन मे सभी राज्यों मे कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप मे चुन कर आई। कांग्रेस को लोकसभा के कुल ४९९ स्थानों मे से ३६३ स्थान मिले। मद्रास मे तिर्वांकुर-कोचीन तथा पेप्सू को छोड़कर अन्य राज्यो में भी कांग्रेस पार्टी को विधानसभाओं में इतना बहुमत प्राप्त हो गया था कि वह अपने मन्त्रिमण्डल सुविधा-पूर्वक बना सके। समस्त दलो के सफल उम्मीदवारों के लिए लोक सभा के चुनावों में कुल ४९.४ प्रतिशत मतदान हुआ था। इसमे से ३९.१% मत कांग्रेस को मिले थे। अन्य दलों को जिनमे स्वतन्त्र उम्मीदवार भी सम्मिलित हैं, १३.३% मत प्राप्त हुए।

संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान साम्यवादी दल का था। साम्यवादी दल ने लोकसभा के लिए कुल ९१ उम्मीदवार खड़े किये थे और इनमें से २९ जीते और इस दल की सहायता से ७ स्वतन्त्र उम्मीदवार भी निर्वाचित हुए। राज्य-सभा में साम्यवादियों

को १३ स्थान मिले। निर्वाचन में साम्यवादी उम्मीदवारों को ६० लाख मत प्राप्त हुए जो कुल मतों के ६०% होते हैं। मद्रास (६१), हैदराबाद (४२), त्रिवांकुर-कोचीन (३२) और पश्चिमी बंगाल (२८) में कम्यूनिस्टों का दल कांग्रेस के बाद सबसे अधिक बलवान था।

समाजवादियों ने कांग्रेस के बाद सबसे अधिक उम्मीदवार खड़े किये थे। समाजवादी उम्मीदवारों को १,१० लाख मत प्राप्त हुए जो कुल मतों के ६·६२% होते हैं, किन्तु निर्वाचन के अन्तिम परिणाम उनके लिए सन्तोषजनक नहीं निकले। लोकसभा में उन्हें केवल १२ स्थान ही मिल पाये। राज्य विधान सभाओं में उनकी सबसे अधिक संख्या बिहार में थी; परन्तु वहाँ भी उसे केवल २३ स्थान मिले।

हिन्दू महासभा को भी निर्वाचनों में कोई विशेष सफलता नहीं मिली। लोकसभा मे हिन्दू महासभा को केवल ४ स्थान ही मिल पाये। फिर भी राजस्थान, मध्य भारत, भोपाल और विन्ध्य प्रदेश की राज्य विधान सभाओं मे उसे अच्छी सफलता मिली।

सिखों के दलों में अकाली दल की पंजाब मे हार हो गई और उसे वहाँ की विधान सभा में १२६ स्थानों में केवल १४ ही मिल पाये। परन्तु पेप्सू में अकाली दल को विधान सभा के ६० स्थानों में से २१ स्थान मिल गये।

सार्वजनिक निर्वाचनों के अवसर पर पुराने और सुस्थापित दलों के अतिरिक्त बहुत से नये छोटे-छोटे दल भी उत्पन्न हो गये। कुल मिलाकर अखिल भारतीय स्तर पर १४ दल थे, अर्थात् कांग्रेस, समाजवादी दल, कृषक मजदूर प्रजापार्टी, कम्यूनिस्ट पार्टी, पीपुल्स डेमोक्रेटिक फ्रन्ट, जनसंघ, परिगणित जाति संघ, रामराज्य परिषद्, कृषिकार लोक पार्टी, हिन्दू महासभा, अग्रगामी दल (मार्क्सवादी), क्रान्तिकारी समाजवादी दल, अग्रगामी दल (रुईकर), क्रान्तिकारी साम्यवादी दल और बोलशेविक पार्टी। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी दल थे जिन्होंने अपने उम्मीदवार केवल राज्यों की विधान सभाओं के लिए ही खड़े किये थे जैसे बिहार में झारखण्ड पार्टी, लोकसेवक संघ और छोटा नागपुर संथाल परगना जनता में पार्टी; बम्बई और हैदराबाद मे पीजेंट एण्ड वर्कर्स पार्टी; मद्रास में तामिलनाद टॉयलर्स पार्टी; कॉमनवील पार्टी और मद्रास मुसलिम लीग; उड़ीसा मे गणतन्त्र परिषद्; पंजाब और पेप्सू में अकाली दल तथा त्रिवांकुर-कोचीन में त्रावणकोर कोचीन तामिलनाड कांग्रेस।

सन् १९५१-५२ के सार्वजनिक निर्वाचन के उपरान्त केन्द्रीय तथा विभिन्न राज्य विधान मण्डलों में विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जायगी—

(१) लोक सभा

दल का नाम	सदस्यों की संख्या
कांग्रेस	३६२
कम्यूनिस्ट पार्टी	२३
सोशलिस्ट पार्टी	१२
किसान मजदूर पार्टी	६
जनसंघ	३
परिगणित जाति संघ	२
हिन्दू महासभा	४
अन्य दल	३३
स्वतन्त्र	४१
कुल निर्वाचित सदस्यो की संख्या	४८६
राष्ट्रपति द्वारा नामांकित	१०
लोक सभा में कुल सदस्य	४९६

(२) राज्यसभा

दल का नाम	सदस्यो की संख्या
कांग्रेस	१४६
प्रजासोशलिस्ट पार्टी	१०
कम्यूनिस्ट पार्टी	६
जनसंघ	१
हिन्दू महासभा	१
परिगणित जातिसंघ	२
अन्य दल	१२
स्वतन्त्र	१९
	२००
जम्मू तथा काश्मीर के प्रतिनिधियो सहित, राष्ट्रपति द्वारा नामांकित सदस्य	१६
राज्यसभा की कुल सदस्य संख्या	२१६

(३) राज्य विधान सभाएँ

राज्यों के नाम	कुल स्थान	कांग्रेस	सोशलिस्ट	कि० म० पार्टी	कम्यूनिस्ट	जनसंघ	अन्य	स्वतंत्र
भाग 'क'								
आंध्र ...	१४०	—	—	—	—	—	—	—
आसाम ...	१०८	७६	४	१	१	×	६	१४
बिहार ...	३३०	२४०	२३	१	×	×	५३	१३
बम्बई ...	३१५	२६६	६	×	×	×	१६	१८
मध्य प्रदेश ...	२३२	१९४	२	८	×	×	५	२३
मद्रास ...	२३०	—	—	—	—	—	—	—
उड़ीसा ...	१४०	६७	१०	×	७	×	३५	२१
पंजाब ...	१२६	९७	१	×	४	×	२०	४
उत्तर प्रदेश...	४३०	३९०	१९	१	×	२	४	१४
पश्चिमी बंगाल	२३८	१५१	×	१५	२८	९	२०	१५
भाग 'ख'								
हैदराबाद ...	१७५	९३	११	×	४२	×	१५	१४
मध्य भारत...	९९	७५	४	×	×	४	१३	३
मैसूर ...	१४०	—	—	—	—	—	—	—
पेप्सू ...	६०	२६	×	१	२	२	२१	[illegible]
राजस्थान ...	१६०	८२	१	१	—	८	३३	३५
सौराष्ट्र ...	६०	५५	२	—	—	—	×	२
तिरुवांकुर-कोचीन	[illegible]	४३	११४	—	—	—	१६	३८

राज्यों के नाम	कुल स्थान	कांग्रेस	सोशलिस्ट	कि० म० पार्टी	कम्यूनिस्ट	जनसंघ	अन्य	स्वतंत्र
भाग 'ग'								
अजमेर ...	३०	२०	×	×	×	३	३	४
भोपाल ...	३०	२५	×	×	×	×	१	४
कुर्ग ...	२४	१५	×	×	×	×	×	९
दिल्ली ...	४८	३६	२	×	×	३	१	२
हिमाचल प्रदेश	३६	२४	×	३	×	×	१	८
विन्ध्य प्रदेश ...	६०	४१	१०	३	×	२	२	२
निर्वाचक मण्डल								
कच्छ ...	३०	२८	×	×	×	×	×	२
मणिपुर ...	३०	१०	१	×	२	×	१६	१
त्रिपुरा ...	३०	९	×	×	१२	×	३	६

भारतीय दलीय राजनीति की कुछ उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ

भारतीय दलीय-राजनीति की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है देश तथा विधान-मण्डलो में कांग्रेस की प्रबलता। इस समय केन्द्रीय अथवा राज्य विधान मण्डलों में अन्य कोई ऐसा शक्तिशाली दल नही है जो कांग्रेस का समक्ष विरोध कर सके। इस का कारण यह है कि देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन तथा महात्मा गांधी के नेतृत्व के कारण जनता के हृदय मे कांग्रेस के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धा है। फिर यह भी बात है कि अन्य दल अभी अपना समुचित संगठन भी नही कर पाये है। इन सब कारणो से कांग्रेस को न केवल पदो का ही एकाधिकार मिल गया है किन्तु वह उस दबाव से भी मुक्त है जो ससदीय पद्धति मे विरोधी दल सामान्यतः सत्तारूढ सरकार पर रखता है।

इन सब कारणो से कुछ पर्यवेक्षको का मत है कि जिस प्रकार तुर्की मे मुस्तफा कमाल और चीन मे च्यांगकाई शेक का एकदलीय शासन हो गया था वैसा ही भारत मे भी कांग्रेस का हो जायगा। इस देश मे वीरपूजा की भावना प्रबल है और निर्वाचक लोग नीतियो और कार्यक्रमो पर विचार करके मत नही देते, किन्तु विभिन्न दलो के नेताओ के व्यक्तित्व से मुख्यतः प्रभावित होते हैं। इस दृष्टि से कांग्रेस की स्थिति अन्य दलो की तुलना मे निश्चित रूप से मजबूत है। अन्य दलो मे श्री जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार बल्लभभाई पटेल तथा राजगोपालाचारी आदि की कोटि के नेता उत्पन्न होने मे अभी बड़ा समय लगेगा।

किन्तु इस प्रकार की कल्पना उचित नही है। साधारण निर्वाचनो के बीच जो उपनिर्वाचन होते हैं उनके परिणामो से पता चल जाता है कि निर्वाचक किस दिशा मे झुक रहे है। १९४७-५४ के बीच जितने भी उपनिर्वाचन हुए उनमे कांग्रेस को सरलता से विजय नही मिल गयी। कई उप चुनावो में कांग्रेस उम्मीदवारो को दक्षिणी या वामपक्षीय दल के उम्मीदवारो ने हरा दिया और अन्यो मे कांग्रेस पर्याप्त संघर्ष के बाद ही जीत सकी। स्थानीय और नगरपालिका (म्युनिसिपल) निर्वाचनो मे कई स्थानो में कांग्रेस विजय नही प्राप्त कर सकी। यह सब बाते किस दिशा मे इंगित करती हैं ? कोई भी चतुर पर्यवेक्षक कह सकता है कि विरोधी दल अपने सगठन को सुदृढ बनाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। यह सच है कि अभी तक वामपक्षीय दलो का प्रभाव मुख्यतः नगरो तक ही सीमित है; किन्तु इसका कारण यह है कि अभी वे ग्रामीण क्षेत्रों मे नहीं पहुँच सके हैं। लेकिन यह नही कहा जा सकता कि कांग्रेस विरोधी दलों की यह संगठनात्मक निर्बलता सदैव बनी रहेगी।

इस सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि कांग्रेस विकास मण्डलीय दलो मे भी समय-समय पर विद्रोही समूह उत्पन्न होते रहते हैं। १९५२ के चुनाव के ठीक

पहिले उत्तर प्रदेश और बम्बई में कई समूह कांग्रेस संगठन से बिल्कुल अलग हो गये और अपना नाम और कार्यक्रम बदल कर अपने अखिल भारतीय दल स्थापित करने के प्रयत्न में लग गये। सफल हों या न हों; परन्तु कांग्रेस दल के विद्रोही सदस्यों का अपने-अपने निर्वाचन क्षेत्र में कुछ न कुछ प्रभाव है ही और अगले निर्वाचनों में कांग्रेस को उससे निपटना पड़ेगा।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हमें इस परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि भारत में एक दलीय व्यवस्था स्थापित होने की सम्भावना नहीं है। विरोधी दल अब भी हैं और ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा, वे अधिकाधिक प्रभावशाली होते जायेंगे।

इसके बाद दूसरा प्रश्न यह उठता है कि भारत में द्विदलीय व्यवस्था रहेगी या बहुदलीय व्यवस्था। तथाकथित द्वि-दलीय व्यवस्था में भी यह अनिवार्य नहीं है कि दो से अधिक राजनीतिक दल हों ही नहीं। ब्रिटेन और अमेरिका में भी समय-समय पर दो प्रमुख राजनीतिक दलों के अतिरिक्त कई छोटे-छोटे दल उत्पन्न होते रहे हैं। द्वि-दलीय और बहुदलीय व्यवस्था में वास्तविक अन्तर यह है कि द्वि-दलीय व्यवस्था में सदा दो प्रमुख राजनीतिक दल रहते हैं जिनमें से कोई न कोई विधान मण्डल में पर्याप्त बहुमत प्राप्त करके अपनी सरकार बना लेता है। उसे संयुक्त या मिश्रित सरकार बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके विपरीत बहु-दलीय व्यवस्था में किसी भी एक को अकेले इतनी शक्ति नहीं मिल पाती कि वह अपनी सरकार बना सके। इसलिये प्रत्येक दल को सरकार बना लेने के लिए अनिवार्यतः दूसरे दलों की सहायता पर निर्भर करना पड़ता है और इस प्रकार संयुक्त मन्त्रिमण्डल ही सदैव बनाने पड़ते हैं। भारत में कांग्रेस ने कठोर दलीय अनुशासन की परम्परा स्थापित कर दी है और भूतकाल का इतिहास साक्षी है कि यहां दलों की बहुलता कभी स्थायी और स्थिर नहीं हो सकी। इन सबसे जान पड़ता है कि भारत में भी ब्रिटेन और अमेरिका की भांति मुख्यतः द्वि दलीय व्यवस्था ही रहेगी।

दलीय संगठन विषयक अनेक समस्याएँ जैसे दल के विधानमण्डलीय और बाह्य संगठनों का परस्पर सम्बन्ध नेताओं और साधारण सदस्यों का सम्बन्ध आदि अभी तरल अवस्था ही में हैं, अर्थात् अभी तक इनका कोई निश्चित रूप से हल नहीं हो पाया है। इन विषयों में कांग्रेस की वर्तमान कार्यप्रणाली पर विचार किया जा चुका है। परन्तु एक देश के भी सभी दलों की आन्तरिक व्यवस्था समान नहीं होती। किसी भी दशा में जब तक अन्य दल पदारूढ नहीं होते, तब तक उनके लिये ये समस्याएँ न तो उत्पन्न होंगी और न उनका कोई हल ही निकाला जा सकेगा। अतः वर्तमान स्थिति में इन सम्बन्धों पर कोई व्यापक मत प्रकट करना असम्भव है। तथापि, भारतीय राजनीतिक दलों की सामान्य प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की ओर ही दिखलाई देती हैं। दल के साधारण

सदस्यों की सभा द्वारा उम्मीदवार चुनने या नीति तथा कार्यक्रम निर्धारित करने की अन्त-गोष्ठी (Caucus) पद्धति यहाँ किसी भी दल मे प्रचलित नही है।

दलों की नीति और आंतरिक सम्बन्ध उनके दलीयकोष को संग्रह करने की विधि पर बहुत कुछ निर्भर होते है। जहाँ दल का द्रव्य-कोष साधारण सदस्यो के चंदो से एकत्रित किया जाता है वहाँ सदस्यो द्वारा ही दल की नीति और कार्यक्रम का भी नियंत्रण होता है। ऐसा अधिकाश मजदूर दलो मे ही हुआ है। जहाँ द्रव्य-कोष मे नेताओ के प्रभाव द्वारा धन आता है, वहाँ नेताओ का प्रत्येक बात मे प्रभाव भी रहता है। ब्रिटिश अनुदार दल की भाँति कांग्रेस के कोष का धन भी मुख्यतः नेताओ के प्रभाव से ही मिलता है। रुपया देनेवाले लोग मुख्यतः उद्योगपति और व्यापारिक वर्ग के होते हैं। निस्सदेह हमारे देश मे पदवियो की बिक्री से धन एकत्र नहीं किया जाता क्योकि यहाँ बेचने के लिए पदवियाँ है ही नही, परन्तु आर्थिक सहायता देनेवाले वर्गो के हित के अनुकूल विधियाँ बनायी जा सकती, तथा रियायतें, एकाधिकार और इसी प्रकार की अन्य सुविधाये दी जा सकती है। अभी तक इस बात का कोई प्रमाण नही है कि कांग्रेस उन उपायो से काम ले रही है परन्तु यह निर्विवाद है कि दल को दान देने वाले लोगो के मस्तिष्क में अपने लाभ की भावना अवश्य रहती है। इसका उदाहरण सेठ डालमिया का गाँधी स्मारक निधि के लिये दिये हुए दान के सम्बन्ध का वक्तव्य है। हिन्दू महासभा को भी जो धन मिलता है वह उसके नेताओ के धनिक वर्ग मे प्रभाव द्वारा। साम्यवादी दल की आय का स्रोत उसके सदस्यो द्वारा दिया जाने वाला चन्दा बतलाया जाता है परन्तु समय-समय पर उसे रूस से आर्थिक सहायता मिलने की बात भी कही जाती है। सम्भवतः समाजवादी दल को केवल सदस्यो के चंदे द्वारा ही धन मिलता है। अँग्रेजी की कहावत है कि "जो बाजेवाले को रुपया देता है, वही उससे अपनी पसन्द की राग भी बजवाता है।" इसलिए जनता को जागरूक रह कर यह देखते रहना चाहिए कि विभिन्न राजनीतिक दलों को अपने-अपने कोष के लिए रुपया कहाँ कहाँ से मिलता है।

इस समय साम्प्रदायिक दलो की शक्ति का ह्रास हो रहा है। भविष्य मे वे कदाचित लुप्त हो जायें। आजकल संसार भर मे वर्ग स्वार्थों के आधार पर बने हुए दलों का प्रभाव बढ़ रहा है, और भारत भी इसका अपवाद नही है। इस प्रकार के दलो के अभ्युदय होने पर कांग्रेस संभवतः अधिकाधिक दक्षिण-पक्षीय होती जायगी और अन्त में कदाचित् वह वस्तुतः भारत का अनुदार दल बन जाय; चाहे उसका नाम भले ही वह न हो।